जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन



डा० कुसुम कक्कड़

प्रकाशक

पूर्वोदय प्रकाशन

प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन
(स्वत्वाधिकार)
पूर्वोदय प्रा० लि०
रजिस्टर्ड कार्यालय
७/८ दरियागज, दिल्ली-११०००६

मूल्य चालीस रुपये

प्रथम सस्करण १५ अगस्त, १९७५

© डा० कुसुम कक्कड

मुद्रक युवा मुद्रण, ७ न्यू वजीरपुर इन्डस्ट्रियल काम्प्लैक्स,
दिल्ली-११००५२

JAINENDRA KA JEEWAN-DARSHAN

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ संख्या

दो शब्द

हिन्दी उपन्यास-जगत् मे जैनेन्द्र का आविर्भाव अत्यन्त उल्लेखनीय घटना है। जैनेन्द्र से पूर्व प्रेमचन्द साहित्य-जगत् को एक नवीन चेतना तथा जीवनदायिनी शक्ति प्रदान कर चुके थे, किन्तु प्रेमचन्द अपने युग की समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा मे समसामयिकता में ही सीमित रह गए। जीवन मे चिपके हुए कलाकार होने के कारण वे जीवन के स्थूल विस्तार को तो माप सके, किन्तु मानव-मन की अतल गहराइयो, मानव-जीवन की सूक्ष्म परिस्थितियो के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर वे अधिक ध्यान न दे सके। इसके विपरीत जैनेन्द्र की चेष्टा बाह्य परिवेश से अधिक आत्मोन्मुखता की ओर दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र ने जीवन की समस्याओ को न लेकर उसके उत्स को ही पकडने का प्रयत्न किया है। उन्होने व्यक्ति के नित्यप्रति के जीवन मे अधिक उसमे निहित सत्य की ओर दृष्टिपात किया है। उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक है। उन्होने मानव-चेतना के रहस्यो को अपनी अनुभूति की पीठिका पर अभिव्यजित किया है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे जो बौद्धिकता रखी है और जीवन की परम्परागत नैतिक मान्यताओ पर जो प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है वह उन्हे हिन्दी कथा-साहित्य मे एक नये युग-प्रवर्तक के रूप मे, प्रेमचन्द से एक कदम आगे स्थापित करता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे मनोविज्ञान तथा दर्शन का सामजस्य स्पष्टत दृष्टिगत होता है। वे साहित्यकार होने के साथ-साथ दार्शनिक भी है। एक ओर मनोविज्ञान द्वारा उन्होने मानव-वृत्ति के सत्यो का उद्घाटन किया है, दूसरी ओर दर्शन के द्वारा आत्मगत सत्यो की अभिव्यक्ति की है और व्यक्ति को आत्ममन्थन की ओर उन्मुख किया है। दार्शनिकता के कारण जैनेन्द्र का साहित्य अत्यधिक गूढ हो गया है, किन्तु उसकी गूढता ही उसका सार है, क्योकि उसमे ऋजुता न होकर गहराई का आभास मिलता है। जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य आत्म-विसर्जन तथा ऐक्यानुभूति मे निहित है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे अद्वैत अन्तिम सत्य है, वह चर्चा का विषय नही बनता, किन्तु जीवन की भाषा द्वैत मे है। दो को लेकर ही सृष्टि चलती है। जैनेन्द्र ने मानव-जीवन के सश्लिष्ट रूप की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है। उनके अनुसार धर्म, समाज, अर्थ आदि व्यक्ति की सापेक्षता मे ही सार्थक है। उन्होने मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नो पर विचार किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनकी

आस्तिकता से अनुप्राणित है। उनकी दृष्टि मे होनहार के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का ही बोध होता है। उनकी ईश्वरीय आस्था जीवन को सम्बल प्रदान करती है।

जैनेन्द्र का साहित्य अध्यात्म तथा भौतिकता का समुच्चय है। उनके अनुसार जीवन की सार्थकता उसके भोग मे है, तिरस्कार मे नही। वस्तुत वे जैन धर्म द्वारा प्राप्त होने वाली व्यक्तित्व-कृशता को स्वीकार नही करते। जैनेन्द्र का साहित्य जैन धर्म के अस्ति-नास्तिवाद से प्रभावित है। उन्होने धर्म को स्वभाव के अर्थों मे ही ग्रहण किया है। जैनधर्मी होने के कारण जैनेन्द्र ने सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव व्यक्त किया है, तथापि उनकी निष्ठा जैनधर्म मे ही है। उनके साहित्य मे धर्म तथा विज्ञान का सामजस्य दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि अहिसामूलक है। उनकी अहिसा-नीति गाधीजी की अहिंसात्मक दृष्टि से प्रभावित है। जैनेन्द्र ने अह से मुक्ति को ही सच्ची मुक्ति बताया है। जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य का विषय अतर्क्य है और पुरुषार्थ का अर्थ केवल श्रम करना ही नही है, वरन् श्रम के साथ ही ईश्वर के सहयोग को भी स्वीकार करना आवश्यक है। केवल पुरुषार्थ को मानने से व्यक्ति मे अह-भावना आती है।

जैनेन्द्र साहित्य-क्षेत्र मे एक नवीन मोड लेकर प्रविष्ट हुए और वह नवीनता सहज है, सायास नही। श्रेय और प्रेय मे समन्वय, सत्य पर आस्था, नारी की उदात्तता आदि के प्रति सलग्नता भी जैनेन्द्र के साहित्य मे निहित है। सब मिलाकर जैनेन्द्र ने जीवन को उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे देखने की चेष्टा की है।

हिन्दी के ऐसे प्रतिष्ठित और उच्च कोटि के विचारक एव चिन्तक साहित्यकार की कृतियो को अपने अध्ययन का विषय बनाकर डॉ० (श्रीमती पुरी) कुसुम कक्कड ने इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी के हिन्दी-विभाग मे अध्ययन कर जिस शोध-प्रबन्ध पर 'डी० फिल्०' की उपाधि प्राप्त की, वह जैनेन्द्र-साहित्य के अध्ययन की एक विशिष्ट कडी है। विदुषी लेखिका ने जैनेन्द्र-साहित्य का मर्म पहचानने की अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। मुझे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि जैनेन्द्र-साहित्य के विद्यार्थियो के लिए उनकी यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी और हिन्दी के निष्पक्ष सुधी आलोचको मे उनकी इस रचना का आदर होगा। इतनी सुन्दर रचना के लिए, मैं डा० (श्रीमती पुरी) कुसुम कक्कड को बधाई देता हू।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
प्रोफेसर एव अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी

प्राक्कथन

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। सृष्टि के आदिकाल मे प्राणिमात्र का जीवन जैसा था, वैसा आज नही है। साहित्य जीवन की प्रतिकृति है। मानव जीवन की अस्फुट और अनकही बाते साहित्य मे शब्द और वाक्यो की लपेट मे जीवन को स्पन्दन और स्थायित्व प्रदान करती है। बासी हुए विचार और घिसी-पिटी मान्यताए वायव्य मे एक घुटन सी उत्पन्न कर देती है। उस घुटन से त्राण पाने के हेतु छुट-पुट झरोखो से आने वाली स्वच्छ वायु का प्रवेश अनिवार्य है।

मानव जीवन मे जब कभी सहज गति से परिवर्तन होता है तो हमे उसका आभास भी नही मिलता, किन्तु कोई छोटी-सी घटना भी जीवन मे एक तूफान ला देती है। साहित्य मे भी प्राय यही स्थिति देखी जाती है। प्रचलित मान्यताओ के विरुद्ध एक नवीन क्रान्तिकारी स्वर का उद्घोष करने का दायित्व भला कौन ले सकता है? व्यक्ति परिस्थिति को सदैव विनत भाव से स्वीकार करता रहा है। कहानी और किस्से की पुरानी परिपाटी, वर्णन और चमत्कार प्रधान थी। तिलस्मि और ऐय्यारी को प्रमुखता देने वाली रचनाओ मे मानव जीवन की सत्यता को उद्घाटित करने की क्षमता नही थी। जिस कार्य को भारतेन्दुयुगीन उपन्यासकारो ने प्रारम्भ किया था, उसे प्रेमचन्द ने आगे बढाया और उपन्यासो को जीवनदायिनी शक्ति प्रदान की, जिससे व्यक्ति ने साहित्य के माध्यम से अपने ही जीवन की झाकी देखने का प्रयास किया। प्रेमचन्द एक सहज, सीधी लकीर पर चलते हुए साहित्य-जगत् मे अवतीर्ण हुए। उनके पात्र व उनकी भावाभिव्यक्ति की भाषा इतनी सुलझी और स्पष्ट थी कि उन्हे समझने मे हमे तनिक भी कठिनाई नही हुई और जनमानस सहज ही उस नवीनता के तल मे विभोर हो उठा। उसके समक्ष जीवन आदर्शरूप मे प्रस्तुत हुआ। प्रेमचन्द की रचनाओ को समझने के लिए पाठक को अपनी ओर से कोई जोड-तोड नही करनी पडी। मानव सदा से ही आदर्शप्रिय रहा है। 'वह क्या है?' से ऊपर 'क्या होना चाहिए?' के लिए प्रयत्नशील रहता है। मानव प्राणी आदर्श की निर्दोष प्रतिमा बनने मे सदैव अपनी निजता का

निषेध करता हुआ अपने साथ छल करता रहा है। 'चाहिए' मे आदर्श है, किन्तु 'क्या है' मे यथार्थता के दर्शन होते है। मानव-स्वभाव है कि वह अपनी सच्चाई को पूर्णत उद्घाटित नही करना चाहता।

जैनेन्द्र का साहित्य व्यक्ति के छल और मिथ्यावाद का भन्डाफोड कर देता है। व्यक्ति को भरे समाज मे उघार कर खडा कर देता है। वह सच्चाई को मन ही-मन स्वीकार करता हुआ भी स्पष्ट शब्दो मे उसे स्वीकार करने का साहस नही कर पाता। अपने अन्तस् की सच्चाई को साहित्य की भूमि मे प्रकट हुआ देखकर वह लेखक के प्रति उत्क्रुद्ध हो उठता है। 'खिसियानी बिल्ली' की भाति तिलमिलाया हुआ आलोचक लेखक को ही लाछित करते लगता है। इस प्रकार साहित्यकार के प्रति सच्चा न्याय नही हो पाता। जब तक साहित्य मे अभिव्यक्त सत्यता को अपने जीवन से आत्मसात् करके नही देखा जाता, तब तक उसके सम्बन्ध मे सही निर्णय सम्भव नही हो सकता।

प्रेमचन्द के बाद साहित्य-जगत् मे जैनेन्द्र के पदार्पण करते ही बडी हलचल-सी मच जाती है। जैनेन्द्र साहित्य-जगत् मे एक तूफान के सदृश अवतीर्ण हुए। जैनेन्द्र ने जान-बूझकर प्रेमचन्द की मान्यताओ का खन्डन नही किया। साहित्य मे उनका प्रवेश सहज रूप मे ही हुआ था तथापि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य जगत् मे एक नवीन भाव-धारा का सचार हुआ। जैनेन्द्र द्वारा ग्रहीत नवीनता यदि वैचारिक ही होती तो सम्भवत उसे शब्दो के माध्यम से समझने मे सुविधा हो सकती थी, किन्तु उन्होने अपनी भावाभिव्यक्ति ऐसे टेढे-मेढे मार्गो से की है कि वह सामान्य साहित्य पथिक के लिए दूभर प्रतीत होती है। उनके शब्द सूचक मात्र है। भाव शब्दो से पार है। किन्तु मार्ग की कठिनाई से घबडाकर गन्तव्य को निरर्थक नही माना जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि जैनेन्द्र की दार्शनिकता ने एक ओर यदि विषय को दुरूह बनाया है तो मनोविज्ञान की सकरी गली मे वह अस्पष्ट भी हो गया है। शब्दो के प्रयोग के सम्बन्ध मे भी जैनेन्द्र इतने मितव्ययी है कि प्राय कुछ अश लिखकर शेष के लिए इत्यादि से ही काम चला लेते है और भावोत्कर्ष की स्थिति मे तो वे प्राय मौन ही हो जाते है। पाठक बेचारा सिर पीट कर रह जाता है। वह बार-बार समझने की चेष्टा करते हुए भी प्राय असफल ही रहता है। किन्तु जिसे हम जैनेन्द्र के साहित्य की जटिलता समझते है, वह हमारी अपनी ही असमर्थता है। हम राजमार्ग पर चलने के इतने अभ्यस्त हो गए है कि टेढे-मेढे मार्गों पर चलना हमे अच्छा नही लगता किन्तु मार्ग की जटिलता के कारण साहित्य मे अन्तर्भूत सत्य रूप गन्तव्य का निषेध नही किया जा सकता।

जैनेन्द्र के पूर्ववत साहित्यकारो ने सत्य की अभिव्यक्ति का साहस ही नही किया था, किन्तु जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम मानव-आत्मा मे निहित सत्य को स्पष्टरूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसकी समग्रता मे स्वीकार किया है। उसमे यदि देवत्व है तो दानवत्व भी है। एक के निषेध और दूसरे की स्वीकृति से व्यक्तित्व मे पूर्णता नही आ सकती।

सृष्टि के मूल स्तम्भ 'स्त्री-पुरुष' की समस्या को उठाकर जैनेन्द्र ने साहित्य जगत् मे एक नवीन किन्तु शाश्वत सत्य का उद्‌घाटन किया है। इनकी दृष्टि मे व्यक्ति की समस्त क्रियाओ का उत्स 'अह' है। 'अह' विसर्जन ही उनके साहित्य का मूल स्वर है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त काम-भावना फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से पृथक् है। जैनेन्द्र अचेतन मन को 'दमित वासना' का पुज न मानकर 'भगवत्ता' का केन्द्र मानते है। उनके पात्र भोग से योग की ओर उन्मुख होते हुए दृष्टिगत होते हैं।

जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य 'विसर्जन' और 'ऐक्य' मे ही अन्तर्भूत है। सम्पूर्ण साहित्य इन्ही दो आधार-बिन्दुओ को लेकर चरितार्थ हुआ है। आध्यात्मिक स्तर पर अह अर्थात् अश का ब्रह्म अर्थात् पूर्ण के समक्ष विसर्जित होना तथा सान्निध्य स्थापित करना ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। द्वैत लोकिक सत्य है, अद्वैत अन्तिम सत्य है। मानव जीवन का उद्देश्य द्वैत से अद्वैत की ओर उन्मुख होना है।

जैनेन्द्र ने जीवन की चिरन्तन समस्याओ के अतिरिक्त शाश्वत सत्यो पर भी प्रकाश डाला है। ईश्वर, आत्मा, जन्म, मृत्यु, भाग्य, पुनर्जन्म आदि भी उनकी चर्चा और चिन्तन के विषय रहे है। जैनेन्द्र की आस्तिकता सत्य अर्थात् ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध करने मे असमर्थ है।

जैनेन्द्र ने बाह्य जीवन की परिस्थितियो और द्वन्द्वो का भी अपने साहित्य मे चित्रण किया है। उनकी दृष्टि मे द्वन्द्व का कारण बाह्य परिवेश मे न होकर अन्तर्मन मे ही स्थित होता है।

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का विवेचन करते हुए उनकी कहानियो और उपन्यासो के साथ ही निबन्धो द्वारा भी उनके विचारो की पुष्टि का प्रयास किया गया है। उनके सैद्धान्तिक विवेचन का क्षेत्र इतना वृहत् है कि उसे छोडकर उनके चिन्तन का पूर्ण परिचय प्राप्त करना असम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य मे जहा कही विचारगत विरोधाभास दृष्टिगत होता है, वह उनके निबन्धो के द्वारा सहज ही स्पष्ट हो जाता है। अतएव जैनेन्द्र के विचारो की सत्यता को जानने के लिए उनके उपन्यास और कहानियो के साथ ही साथ उनके निबन्धो तथा प्रश्नोत्तर रूप मे सग्रहीत विचारो को भी जानना अनिवार्य है।

व्यक्ति का जीवन परिवेश और सस्कारो की समष्टि है । उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर परम्परागत सस्कारो और परिस्थिति का प्रभाव पडना अनिवार्य है। जैनेन्द्र का व्यक्तित्व उनके सस्कारो और परिवेश का ही योग है । उनका जन्म सवत् १६५० मे कौडियागज (अलीगढ) मे हुआ था। जन्म के दो वर्ष बाद ही पिता की मृत्यु हो गई, अत उनका सारा भार मा रमा देवी बाई तथा मामा महात्मा भगवानदीन पर पडा । मामा के द्वारा स्थापित गुरुकुल मे ही इनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई थी । वहा का वातावरण बहुत ही शुद्ध और धार्मिक था । जैनेन्द्र पर इस वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पडा । एक बार तो वे 'बाहुबली' की कथा सुनते-सुनते रो पडे थे । उस समय वे इस कथा से इतने प्रभावित हुए कि आगे इसी नाम से एक कहानी भी लिखी । महात्मा भगवानदीन अत्यधिक त्यागी और अपरिग्रही पुरुष थे । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमे 'काश्मीर की वह यात्रा' मे देखने को मिलता है । जैनेन्द्र के साहित्य पर उनके जीवन की घटनाओ तथा मा और मामा के सस्कारो का प्रभाव स्पष्टत लक्षित होता है । स्वधर्म (जैनधर्म) के प्रति आस्था तथा ईश्वरीय विश्वास उन्हे अपने सस्कारो से ही प्राप्त हुआ है ।

जैनेन्द्र के साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख होने का कारण स्वेच्छित न होकर आन्तरिक और बाह्य जीवन की विवशता और अभाव ही है। बाह्य जीवन की बेकारी और आर्थिक सकट तथा आन्तरिक अभाव के कारण उनके मन की पीडा अधिकाधिक घनीभूत होती गई । ऐसे मे मन के बोझ को लेखनी द्वारा कागज पर उतारने मे उन्हे चैन मिला । वस्तुत आन्तरिक उफान को शान्त करने के प्रयास मे अनायास ही साहित्य-सृजन की यह प्रक्रिया कालान्तर मे उनके लिए अनिवार्य हो गई । समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ की माग तथा रेडियो पर प्रसारित होने वाले उनके धारावाहिक उपन्यासो की माग ने उन्हे लेखन-कार्य के लिए विवश कर दिया । जैनेन्द्र के द्वारा 'अपनी कैफियत' से ज्ञात होता है कि वे कभी भी स्वेच्छा से लिखने के लिए प्रवृत्त नही हो सके है। प्रारम्भिक अवस्था मे कभी-कभी उन्होने (साहित्य-रचना द्वारा) आर्थिक सकट मे त्राण पाने के हेतु साहित्य-रचना की और उससे प्राप्त होने वाला लाभ ही उनके साहित्य का श्रेय था, किन्तु बाद के उपन्यास—'सुखदा', 'विवर्त', 'अनन्तर', और कहानिया तो मानो उनके सिर चढकर ही लिखवायी गयी है । कहानी और उपन्यास की भाति निबन्धो के क्षेत्र मे भी उनकी यही स्थिति देखी जा सकती है । जब प्रश्नकर्ता कागज-कलम लेकर उनके पीछे पड जाता है तो उन्हे विवश होकर उत्तर देने ही पड़ते हैं। इस प्रकार से एक-दो नही अनेको सग्रह तैयार हो गये है। 'समय और हम' जैसे वृहद् दार्शनिक ग्रन्थ को अठारह

माह तक के अनवरत प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया द्वारा ही पूर्ण किया जा सका है। 'सुनीता' लिखने के बाद तो वे दस वर्ष तक मौन रहे। किन्तु साहित्य का भाग्य था कि जैनेन्द्र फिर से जागे और परिणामस्वरूप 'सुखदा', 'विवर्त', 'मुक्तिबोध' आदि जैसी महत्तम कृतिया उपलब्ध हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र की चिन्तन और लेखन-क्षमता कुण्ठित नही हुई है। उनमे वही जीवतता आज भी बनी हुई है, जो कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे दृष्टिगत होती है। 'कल्प' पाक्षिक पत्रिका के द्वारा भी जैनेन्द्र के विचारो के सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मिल रहा है। अब उनके जीवनदर्शन का अभिनव सस्करण— 'समय, समस्या और सिद्धान्त' के नाम से प्रकाशित होने मे आया है। इसमे जीवन, सिद्धान्त और जीवन व्यवहार से सम्बन्धित ४५० प्रश्न है, उसमे जीवन के चिरन्तन प्रश्नो के साथ ही आध्यात्मिक और शाश्वत प्रश्नो के समाधान भी प्राप्त होते है। सम-सामयिक राजनीतिक स्थितियो के सस्पर्श के कारण अत्याधुनिक स्थितियो पर भी प्रश्न किए गए है। जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर उपरोक्त अप्रकाशित पुस्तक की जानकारी प्राप्त हुई थी और श्री प्रदीप भाई की कृपा से पुस्तक की टक्ति प्रतियो के अध्ययन करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। इस कृपा के लिए मै उनके प्रति अत्यधिक आभारी हू। समयाभाव के कारण मै सूक्ष्मरूप से उसका अध्ययन तो न कर सकी किन्तु जितनी सुविधा उपलब्ध हो सकी उसके अनुसार मै इसी निष्कर्ष पर पहुची हूँ कि 'समय और हम' से 'समय, समस्या और सिद्धान्त' मे भिन्नता है। यह भिन्नता जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति-क्षमता मे विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'समय और हम' मे जो ऋजुता, क्लिष्टता और बौद्धिकता के कारण शुष्कता आ गई थी, जिसके कारण वह कोरा वैचारिक ग्रन्थ प्रतीत होता है, वह अभाव 'समय, समस्या और सिद्धान्त' मे नही रह गया है। प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक की हार्दिकता, भाव-स्निग्धता तथा अभिव्यक्तिगत स्पष्टता तथा अनुभूतिगत गहराई पूर्णतया दृष्टिगत होती है।

उपरोक्त वृहद् जीवनदर्शन के अतिरिक्त 'वृत विहार' भी प्रकाशित कृति है, जिसमे जीवन के ज्वलन्त प्रश्नो पर जैनेन्द्र के विचार समाविष्ट है। 'त्यागपत्र' के नायक की अगली कहानी भी 'अनामस्वामी के नाम से 'कल्प' पाक्षिक पत्रिका मे धारावाहिक रूप मे छप रही है। जैनेन्द्र के 'जीवन-दर्शन' पर कार्य करते हुए सदैव उनके दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा मन मे बनी रहती थी, किन्तु परिस्थितिवश सौभाग्य नही मिल पाता था। परन्तु जब शोध-निबन्ध लगभग समाप्त हो रहा था, तब उनके दर्शन की आकाक्षा का लोभ सवरण न हो सका और १७ मई की शाम को उनके दर्शन की अभिलाषा पूर्ण

हुई। उनसे मिलने के पूर्व मन एक अज्ञात भय से ग्रस्त था। उनकी वरिष्ठता तथा वयोवृद्धता के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि सम्भवत वे मेरी अल्पबुद्धि का आभास पाकर मुझे अपनी समस्याओ का समाधान प्राप्त करने की छूट न दे ? किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव ने मेरे भयरूपी कोहरे को क्षण भर मे ही विलीन कर दिया। मै उनके समक्ष इतनी आत्मीय हो गई कि जिसकी कि मै कभी कल्पना भी नही कर सकती थी। पाच दिन तक लगातार मै पाच-छ घण्टो तक प्रतिदिन प्रश्न करती और वे बडे स्नेह के साथ मेरे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते। उनके सम्बन्ध मे मेरे मन मे एक यह भी भय था कि कही उन्होने मेरे प्रश्नो के उत्तर अपनी प्रकृति के अनुकूल केवल 'हा' मे ही दिए तो कैसे बात स्पष्ट होगी ? परन्तु आशा के विपरीत उन्होने हर समस्या को भली प्रकार सुलझाने मे सहयोग दिया। कई बार मेरे सन्तुष्ट न होने पर वे तनिक भी रुष्ट न होते थे और अपनी बात को बडे ही सहज ढग से स्पष्ट करने का प्रयास करते थे।

जैनेन्द्र से मिलने पर उनके साहित्य की कुछ बहुचर्चित कहानियो और उपन्यासो मे जो विवाद प्रचलित है, उन पर भी चर्चा हुई और उन्होने उनका सन्तोषजनक समाधान किया। इसी अवसर पर मैने उनके समक्ष यह जिज्ञासा व्यक्त की कि क्या वे निकट भविष्य मे कोई उपन्यास लिखेगे ? इस सम्बन्ध मे उन्होने यही विचार व्यक्त किया कि वे स्वेच्छा से तो कभी लिखते नही है, जब कही से जोर पडता है, तभी उनके भीतर व्याप्त द्वन्द्व रचना का रूप धारण कर लेता है, तथापि उन्होने यह अवश्य बताया कि—'अन्तवृत्ति को लेकर उपन्यास लिखने की बात मन मे उठी थी जो मन से सर्वथा दूर रही। इच्छा मन मे ही रह गई, बाहर उद्भासित न हो सकी।' उन्होने एक बहुकाल से इच्छित विषय पर उपन्यास-रचना की अपनी इच्छा प्रकट की थी। विषय का सार है कि—'अर्थ विनिमय ही यदि धनार्जन का माध्यम हो तो अन्तत वेश्या का स्थान वैश्य से ऊचा होना चाहिए।' उपरोक्त विषय को लेकर वे वैश्यो के प्रति अपने आक्रोश तथा वेश्या बनी विवश नारी के प्रति अपनी सवेदना को ही व्यक्त करना चाहते है।

श्रद्धेय जैनेन्द्र जी से विदा का वह क्षण तो मेरे मन की पीठिका पर वह अमिट छाप छोड गया है जो अविस्मरणीय है। अस्वस्थ होने के अनन्तर भी वे द्वार तक मुझे पहुचाने आए और बडे प्यार से बेटी के सदृश विदा किया। मै उनके प्रति अपनी श्रद्धा और आभार को शब्दो द्वारा व्यक्त कर सन्तुष्टि नही पा रही हूँ। मैं विनत भाव से उनके प्रति आभारी हूँ।

सर्वप्रथम मैं उस परम पिता के प्रति नतमस्तक हूँ, जिसकी अनुकम्पा से पग-

पग पर मुझे गुरुजनो और स्नेहियो का सहयोग प्राप्त होता रहा है। तद्नन्तर मै अपने परम पूज्य फादर डा० कामिलबुल्के के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा के शब्द-पुष्प अर्पित करती हूँ, जिनकी स्नेहयुक्त प्रेरणा और सहयोग मुझे वरदान सिद्ध हुई। अपने निर्देशक डा० मोहन अवस्थी के प्रति मै हृदय से आभारी हूँ, जिन्होने निरन्तर मेरी सहायता की।

मै विभागाध्यक्ष, श्रद्धेय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होने मेरे विषय का चुनाव करके मुझे अपना अमोघ सहयोग प्रदान किया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा केन्द्रीय पुस्तकालय से मुझे पुस्तको की पर्याप्त सहायता तथा अन्य सुविधाए अध्ययन सम्बन्धी प्राप्त होती रही है, मैं उन अधिकारियो के प्रति आभारी हूँ।

मै अपने परमपूज्य पिता जी के प्रति किन शब्दो मे अपनी श्रद्धा व्यक्त करू, जिनकी महत् प्रेरणा ही मेरे शोध-कार्य के आदि से इति तक छायी रही और यह प्रस्तुत शोधप्रबन्ध एकमात्र उन्ही के आशीर्वाद के फलस्वरूप प्रकाशित हो पा रहा है।

अन्त मे मै श्री रामहित त्रिपाठी, हिन्दी टकक के प्रति आभारी हू जिन्होने मेरे शोध प्रबन्ध को बडे ही आत्मीय भाव से शीघ्रातिशीघ्र टकित किया है।

(कुसुम कक्कड)

परिच्छेद—१

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन की भूमिका

दर्शन क्या है ?

"साधारण भाषा मे 'दर्शन' का अर्थ है 'देखना' दार्शनिक प्रक्रिया का उद्देश्य समस्त ब्रह्माण्ड को एक साथ देखना अथवा सम्पूर्ण दृष्टि प्राप्त करना कहा जा सकता है।"[1] दार्शनिक का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य का साक्षात्कार करने के प्रयत्न मे ही दार्शनिक साधक अथवा द्रष्टा बन जाता है। वह वस्तु का वाह्य-निरूपण अथवा मूल्याकन नही करता। वह तो आध्यात्मिक और भौतिक जगत में अन्तर्भूत अदृश्य सत्य की खोज करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से एक आस्था-परक आध्यात्मिक व्यक्ति भी दार्शनिक हो सकता है और विज्ञान के सहारे भौतिक सत्य का अन्वेषण करने वाला वैज्ञानिक भी दार्शनिक हो सकता है। क्योकि सत्य से कुछ भी बहिर्गत नही है और सत्य की खोज करना ही दार्शनिक का प्रमुख कर्तव्य है तथापि वैज्ञानिक और आध्यात्मिक व्यक्ति की प्रक्रिया मे अन्तर है। यह अन्तर प्रारम्भिक स्तर पर विशेषरूप से द्रष्टव्य है, किन्तु जब वैज्ञानिक सत्य को वाह्य इन्द्रियो के माध्यम से न जानकर अतर्दृष्टि, संबुद्धि से जानने का प्रयास करता है, तब वही वैज्ञानिक दार्शनिको की श्रेणी में आ जाता है। वैज्ञानिक सबुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान का बुद्धि के आधार पर विश्लेषण करता है। प्रज्ञा को

---

१ डा० देवराज "भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास', प्र० सं०, १९४१, इलाहाबाद, पृ० १९९।

वस्तुरूप प्रदान करने के प्रयत्न मे तर्क और बुद्धि का प्रवेश हो जाना स्वाभाविक है। न्यूटन को सबुद्धि के आधार पर गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का बोध पाप्त हुआ था किन्तु बुद्धि के द्वारा उसने अपने सिद्धात का विकास किया था। विज्ञान और दर्शन मे यही मूल भेद है कि वैज्ञानिक सत्य को आशिक रूप मे अथवा खण्ड-खण्ड करके देखता है, किन्तु दार्शनिक सत्य का समग्ररूप मे साक्षात्कार करता है। भारतीय ऋषि और साधक द्रष्टा थे, उन्होने साधना की चरम सिद्धि पर पहुचकर मन्त्र का साक्षात्कार किया था, अन्तर्नयनो से दर्शन किया था, इसलिए उस सत्य का जो रूप उपस्थित किया है, उसे दर्शन कहना उचित ही है।'[1]

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य फिलासफी मे अन्तर है। भारतीय दार्शनिक आत्मशुद्धि के मार्ग से ही आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य दार्शनिको ने आत्मशुद्धि को पश्रय दिया है। उन्होने तर्क की तुला पर अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन किया है। वस्तुत फिलासफर की प्रक्रिया विश्लेषण प्रधान होती है और दार्शनिक की पद्धति सश्लेषणात्मक है। भारतीय दार्शनिको ने तर्क के आधार पर सत्य का प्रतिपादन नही किया वरन आस्था और विश्वास के आधार पर सत्य का साक्षात्कार किया है। भारतीय दार्शनिको का लक्ष्य सत्य के बोध द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है।

दर्शन शास्त्र का कार्य मानव जीवन की सापेक्षता मे फलित होता है। जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नही है, जिसका दार्शनिक विवेचन सभव न हो सके। मानव जीवन की समग्रता का बोध प्राप्त करने के लिए उससे विविध राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि पहलुओ का अध्ययन अनिवार्य है, किन्तु विशुद्ध दार्शनिक और साहित्यिक दार्शनिक की प्रक्रिया मे मूलत अन्तर दृष्टिगत होता है। डा० देवराज के अनुसार दर्शन शास्त्र की शैली साहित्य से भिन्न है। कवि, उपन्यासकार जीवन पर विचार करने मे किसी नियम का पालन नही करते। दार्शनिक चिन्तन नियमानुसार होता है।[2] साहित्यकार किसी वस्तु या व्यक्ति के इन्द्रियगम्य वाह्य अगो को ही अपने विवेचन का विषय नही बनाता वरन् वस्तु और व्यक्ति के मूल मे अन्तर्निष्ठ आत्मा को समझने का प्रयास करता है। अपने इस प्रयास मे ही वह अपनी दार्शनिक दृष्टि का परिचय देने मे समर्थ होता है।

जैनेन्द्र ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक 'समय, समस्या और सिद्धात' मे 'दर्शन'

---

1. डा० देवराज 'भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास', पृ० १।
2. डा० देवराज . 'भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास', पृ० १८।

के सबध पर किए गए विवेचन मे दर्शन को सबुद्धि प्रधान ही माना है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य उनकी अन्तश्चेतना का ही प्रतिफल है। उनके साहित्य मे दार्शनिकता की जो झलक दृष्टिगत होती है, उसमे उनकी आस्था और हार्दिकता ही अन्तर्भूत है। उनके साहित्य का अवगाहन करने मे यह विदित होता है कि साहित्य-सृजन के हेतु उनका प्रमुख आदर्श सत्य के साथ साक्षात्कार करना रहा है। सत्य आत्मा मे है। दर्शन शास्त्र का उद्देश्य सत्य के प्रति व्यक्ति की जिज्ञासा को शान्त करना है। जैनेन्द्र दार्शनिक होने के साथ ही साथ साहित्यकार भी है। सत्य तो यह है कि वे लेखक होने के कारण ही दार्शनिक के रूप मे जाने जा सकते है। अतएव उनकी जिज्ञासा सूक्ष्म सत्य के साथ जगत् मे व्याप्त स्थूल अथवा व्यावहारिक सत्य का अनुभव करने के लिए प्रयत्नशील रही है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति का ही प्रतिफल है।

'दर्शन' शब्द स्वय मे इतना गूढ और गम्भीर भावबोधक बना दिया गया है कि उसके उच्चारण मात्र से तद् स्थित विषयगत जटिलता और तात्विकता सहज ही मानस-पटल पर अकित हो जाती है। सामान्यत लोगो की यह परिकल्पना रही है कि दार्शनिक जीवन की सहजता से पराङ्मुख होकर ब्रह्म, जीव, जगत् और माया आदि तात्विक विषयो पर विचार करने वाला व्यक्ति है। उसमे मानवीय प्रेम, सहानुभूति आदि की भावनाए सुप्तप्राय रहती है, किन्तु दार्शनिक को एक नीरस व्यक्ति समझना तथा दर्शन को जटिलता प्रदान कर अग्राह्य बनाना हमारी भूल है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार ससार के वैचित्र्य तथा प्रकृति की विराटता मे अतर्भूत रहस्य को जानने का प्रयास करता है। व्यक्ति-भेद के कारण दृष्टि-भेद होना भी स्वाभाविक ही है। जगत् की यथार्थता, ईश्वर के अस्तित्व, जीवन के द्वन्द्व के सबध मे प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। वस्तुत दार्शनिक कोई विशिष्ट व्यक्ति नही है। वह भी सामान्य व्यक्तियो के सदृश्य ही मानव-समाज मे जीवन व्यतीत करता है, समाज के दुख-सुख से अभिभूत होता है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति का जीवन के सम्बन्ध मे एक दृष्टिकोण होता है, किन्तु सामान्यत सभी व्यक्तियो के दृष्टिकोण मे इतनी प्रौढता नही होती कि वे ससार को अपनी दृष्टि दान कर सके अथवा उनके विचारो से मानव जाति को एक नवीन चेतना मिल सके। दार्शनिक अपने विचारो और मान्यताओ को सुनियोजित रूप मे व्यक्त करता है। अतएव दार्शनिक और अदार्शनिक के मध्य कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खीच देना सम्भव नही है। दर्शन जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि का

द्योतक है। किसी व्यक्ति के लिए यह कहना कि वह दार्शनिक है, मनोवैज्ञानिक नही है, अथवा लेखक है, दार्शनिक नही है, अनुचित और अप्राकृतिक है। मूलत प्रत्येक व्यक्ति चाहे दार्शनिक हो या वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक हो अथवा साहित्यिक, सब के मूल मे मानवीय सवेदना अवश्य ही वर्तमान रहती है।

जैनेन्द्र का व्यवहार-दर्शन

वस्तुत जैनेन्द्र दार्शनिक है या लेखक ? इस प्रश्न को लेकर वाद-विवाद करना निराधार है। जैनेन्द्र ने जीवन को उसकी समग्रता मे समझने का प्रयास किया है। जीवन अखण्ड इकाई से यह साहित्य, मनोविज्ञान आदि मे खण्डित नही है, केवल हम अपनी (अध्ययन की) सुविधा के लिए उसे विभिन्न अगो मे विभाजित कर देते है। अन्यथा जीवन की सत्यता का बोध उसकी सम्पूर्णता मे ही सुलभ हो सकता है। जैनेन्द्र चाहे साहित्यकार हो अथवा दार्शनिक, किन्तु उन सबसे परे वह एक व्यक्ति है। उन्होने मानव जीवन के शाश्वत सत्यो को उनके व्यावहारिक धरातल पर समझने का प्रयास किया है। जीवन और जगत् के मन्थन से उन्हे एक नितान्त मौलिक दृष्टि उपलब्ध हुई, वही उनके दर्शन अथवा दार्शनिक होने की सूचक है। यद्यपि उनकी मौलिकता परम्परागत विचारो से पृथक् नही है, किन्तु साहित्य के धरातल पर उसे व्यक्त करने का उनका निजी ढग है, जो उसे परम्परागत मार्ग से परे प्रतिष्ठित करता है।

सृष्टि का शाश्वत सत्य अपरिवर्तनीय है, किन्तु उसे ग्रहण करने और व्यक्त करने की दृष्टि मे युगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। ईश्वर, ब्रह्म, जीव, जगत के परस्पर सबध तथा उनके रहस्य को समझने के लिए वे ससार से दूर नही गए, वरन् प्रतिदिन के जीवन मे ही उन्होने सत्य को ढूंढने का प्रयास किया। मानव-धर्म की विराट् भूमिका को उन्होने अपने अन्तस् के नेत्रो से समझना चाहा है। अपनी आन्तरिक सहानुभूति और सवेदना के योग से उन्होंने गम्भीरता और जटिलता मे भी सरलता तथा भावगत प्रगल्भता का सन्निवेश किया है।

हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र मे मुशी प्रेमचन्द-काल मे साहित्य-जगत् परम्परागत मान्यताओ, सामाजिक मर्यादा, विशेषत प्रेमचन्द्र की सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण अत्यधिक बाह्योन्मुखी हो गया था। समाज और उसकी समस्या ही साहित्य का मुख्य विषय था, यद्यपि उस युग की माग को देखते हुए प्रेमचन्द का साहित्य अपना अद्वितीय स्थान रखता है। उनके उपन्यासो में जन-जीवन के घात-प्रतिघात, ममता, सहानुभूति, त्याग आदि मानवीय गुणो की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु जहा जीवन का बाह्य पक्ष पुष्ट हो रहा

था, वही व्यक्ति-चेतना कुंठित होती जा रही थी। समाज मे व्यक्ति की अतश्चेतना, उसके मूल मे अवस्थित प्रेम की भावना को उपन्यास और कहानियो के माध्यम से पूर्णत पोषण नही मिल रहा था। एक ही मन स्थिति में बने रहने से साहित्यिक-परिवेश मे नवोन्मेव का अभाव था। ऐसी स्थिति में जैनेन्द्रजी ने साहित्य को, एक नवीन स्वर ही नही प्रदान किया, वरन् उनके प्रवेश से साहित्य-जगत् मे एक क्रान्तिकारी प्रभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई और समस्त हिन्दी कथा-साहित्य ने एक नवीन करवट ली।

जैनेन्द्र की समन्वयात्मक दृष्टि ने विज्ञान की विभीषिका से सत्रस्त मानव को श्रद्धा और विश्वास का अपूर्व सम्बल प्रदान किया। उन्होने भौतिकता और आध्यात्मिकता के मध्य सामन्जस्य की एक कडी जोडकर मानव-जीवन को समरसता की ओर उन्मुख किया।

जैनेन्द्र : जीवन के ज्वलन्त प्रश्नो के समाधान

जैनेन्द्र का साहित्य मानव जीवन के ज्वलन्त प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करता है। साहित्यिक-परिवेश मे परम्परागत दार्शनिको से पृथक् उन्होने एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। सामान्यत अध्यात्मवाद और भौतिकता के दो किनारो मे विभाजित करके देखा जाता है। दोनो पृथक् वर्ग मे बट गये है, किन्तु जीवन का सत्य वर्गों मे विभाजित होकर अग्राह्य हो जाता है। जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि विश्लेषणात्मक न होकर सश्लेषणात्मक है। विग्रह में एकपक्षीय प्रबलता दृष्टिगत होती है और हठवाद को प्रश्रय मिलता है, किन्तु दर्शन का लक्ष्य सघर्ष और वैमनस्य न होकर प्रेम और स्वय को मुलभूत दृष्टि प्रदान करना है। सामान्यत प्राचीन दार्शनिको ने भौतिकता और अध्यात्मिकता के द्वन्द्व के मध्य किसी समन्वयात्मक मार्ग की स्थापना नही की थी। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने इस क्षेत्र मे समन्वय का प्रयास किया था। किन्तु उनका योगदान सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम साहित्य के माध्यम से जीवन की इस विशाल खाई को पाटने का प्रयास किया है। उन्होने विचार और व्यवहार मे सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया। दर्शन मे वैचारिक पक्ष अधिकांशत प्रधान रहा है। शास्त्रीय रूप मे नीति और उपदेश की बाते शास्त्रो में कही गई थीं, किन्तु उनमें नित्यप्रति के जीवन सघर्ष से त्राण पाने का व्यावहारिक मार्ग निर्दिष्ट नहीं किया गया था। फलत वैचारिक पक्ष अपनी शुष्कता के कारण नीरस और जटिल होता गया। ऐसी स्थिति मे सदा से उपेक्षित व्यवहार पक्ष पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।[1]

जैनेन्द्रजी के अनुसार मानव-जीवन के सर्वांगीरग विकास के लिए बुद्धि के साथ भावना का योग भी अनिवार्य है। भावगत व्यावहारिकता मे मानव जीवन का प्रत्येक पहलू समाविष्ट हो जाता है। आज इस वैज्ञानिक युग मे एकोदेशीय होकर गन्तव्य की प्राप्ति करना असम्भव है। निरी भौतिकता उसी प्रकार स्वय मे अपूर्ण है, जैसे आत्मा के अभाव मे प्राणहीन शरीर का आकर्षण। वस्तुत जैनेन्द्र ने विज्ञान और अध्यात्मवाद मे सामन्जस्य स्थापित करके जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है। यही से जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन के मूल तत्व अभेदत्व अथवा अद्वैतवाद का प्रारम्भ होता है। उनकी अभेदात्मक दृष्टि साहित्य मे विभिन्न शब्दो द्वारा जीवन के विविध क्षेत्रो मे अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

जैनेन्द्र ने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पूर्ण समाधान अथवा प्रश्नाभाव की स्थिति को वे नही स्वीकार करते, क्योकि जीवन अनन्त सम्भावनाओ से पूर्ण है। उसकी प्रगति काल की अनन्त व्याप्ति तक सम्भव है। अत कोई भी समाधान समय-सापेक्ष ही हो सकता है, सनातन नही।

मानव-ज्ञान और मानव-परिस्थिति से सम्बन्धित अनेक प्रश्नो पर विचार और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण

जैनेन्द्र का साहित्य उनके जीवन सघर्ष से उद्‌भूत मानसिक और हृदय-गत अतृप्ति का ही परिणाम है। वे अपने जीवन की छोटी-छोटी घटनाओ से भी आत्मबोध प्राप्त करते रहे, उसे ही उन्होने कल्पना के सहारे साहित्य के रूप मे अभिव्यक्त किया है। उन्होने 'स्व' से परे 'पर' की सवेदना को अपने जीवन मे ढाल कर अपने भावो और विचारो का पुट देकर अभिव्यक्त किया है। जैनेन्द्र ने मानव-कर्म के द्वारा उसके मूल-स्रोत को पकडने का प्रयास किया है। सामान्यत लेखक जीवन की बहिर्घटनाओ के जाल मे फसकर उन्हीं के विवेचन मे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते है, किन्तु जैनेन्द्र ने प्रत्यक्ष जगत से अप्रत्यक्ष की ओर अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का प्रयास किया है। उन्होने जीवन की समस्त चेष्टाओ, घटनाओ के समक्ष एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है। क्यो? कैसे? का प्रश्न निरन्तर उनके अवचेतन मे घूमता रहता है। उन्होने इस प्रकार के प्रश्नो को स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त न करके सकेतमात्र से काम चलाया है। जीवन-सरिता के मूल स्रोत को इस रूप मे व्यक्त किया है कि पाठक अन्त मे सोचने को विवश हो जाता है कि ऐसा क्यों?

वस्तुत जैनेन्द्र ने जीवन के सत्य को ग्रहण कर उसे जीवन के विविध क्षेत्रो मे व्यक्त किया है। जैनेन्द्रजी के अनुसार व्यक्ति का अह उसके जीवन का वह उद्‌गम-स्थल है, जहा से उसके समस्त विचारो, भावो और आचरण को दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। (अह के अस्तित्व बोधक अर्थ से अधिक उन्होने उसको 'मै' तथा 'पर' के द्वन्द्व रूप मे व्यक्त किया है।) जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे अह का विशद् विवेचन प्राप्त होता है। विचारात्मक निबन्धो से लेकर अधिकाश कहानियो और उपन्यासो मे अहविसर्जन की समस्या मुख्यरूप से मुखरित हुई है। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का परम लक्ष्य आत्मोत्सर्ग है। 'मैं' भाव की अतिशयता भेद-भाव सूचक है। किन्तु जैनेन्द्र भेद मे अभेद की खोज करते है। उनकी दृष्टि मे अभेद ही सत्य है। 'मैं' का प्राबल्य व्यक्ति-चेतना को कुण्ठित कर देता है जैनेन्द्रजी के अनुसार अहभाव को सुरक्षित बनाए रखने से वह पुष्ट ही होता है, उसका विगलन नही होता। अत वे 'मै' को विस्तार देकर समष्टि मे मिला देना चाहते है। व्यक्ति का स्व-बोध इतना फैल जाय कि वह स्वय अस्तित्वहीन-सा अनुभव करे। उनकी कल्पना मानो बूद को सागर की व्याप्ति मे समा देना चाहती है। यद्यपि समुद्र मे बूद का अस्तित्व ही मिट जाता है, किन्तु जैनेन्द्र अस्तित्व को बनाए रखते हुए व्याप्ति का भाव उत्पन्न करना चाहते हे।

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का प्राण-तत्व व्यक्ति के 'अह' मे निहित है। सामान्यत उनके इस तात्विक दृष्टिकोण को समझने मे लोग भ्रम मे पड गए हैं और अपने भ्रमित दृष्टिकोण के आधार पर ही जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की भी आलोचना की है, किन्तु जैनेन्द्र की विचारधारा मूलत भिन्न है। सामान्यत आधुनिक लेखक और विचारक अह को अस्तित्व-बोध तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर ग्रथि के रूप मे लेकर अपने विचारो की पुष्टि करते है, किन्तु जैनेन्द्र अह को ग्रथि नही मानते। ग्रथि विकार और व्यक्ति के अचेतन मे दबी हुई पशुता की सूचक है। मनोवैज्ञानिक मानव-क्रिया का प्रेरक स्रोत अचेतन मन को मानते हे। उनके अनुसार अचेतन मे व्यवस्थित व्यक्ति की दमित वासना ही उनके कार्यो का प्रतिनिधित्व करती है। जैनेन्द्रजी के अनुसार अह मूल प्रवृतियो का पुज है।[1] मनुष्य के अचेतन मन मे पाप नही, वरन् भगवत्ता निहित है।[2]

---

१. जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम (१९६२)', प्र०स०, दिल्ली, पृ० ५७१।
२. "मनुष्य के मर्मातिमर्म मे भगवत्त पडी हुई है और जो अह के एक-एक पटल को भेदकर और चुकाकर भगवत्त भाव तक पहुच पाता है। वह अशता से उठकर सर्वता को प्रकट करने लग जाता है।"
—जेनेन्द्र कुमार 'समय और हम', प्र० स०, दिल्ली, १९६२, पृ० ५६७।

अहन्ता ईश्वरोन्मुख हुए बिना व्यक्ति मे अहम्मन्यता की पोषक सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति द्वन्द्वात्मक होती है। प्रत्येक के अह के मध्य द्वन्द्व की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, किन्तु भगवत्त की ओर उन्मुख होने से अहन्ता का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।

जैनेन्द्र ने अहभाव को जीवन के विविध परिप्रेक्ष्य मे विविध दृष्टियो से व्यक्त किया है। जैनेन्द्रजी प्रकृति के क्रिया-कलापो मे एक महत् भावना के दर्शन करते है। सूर्य के प्रकाश, वृक्ष की छाया, धरती की शरण मे मानव के समक्ष जो आत्म-समर्पण का भाव निहित है, उसे मानव-प्राणी नही समझ पाता, फलत उसे अपना एकाकीपन भारी लगने लगता है।[१] एकाकीपन से त्राण पाने के लिए ही उसमे अह को मिटा देने की भावना जाग्रत हुई। वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार अह विसर्जन की भावना व्यक्ति के एकाकीपन से मुक्ति प्राप्त करने तथा समष्टि मे 'स्व' को समाहित कर देने की भावना से ही उद्भूत है।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य मे आत्मोत्सर्ग की भावना इतने व्यापक रूप मे अभिव्यक्त हुई है कि जनेन्द्र का साहित्य उनके आत्म-विसर्जन का एकमात्र साधन प्रतीत होने लगता है। 'रत्नप्रभा', 'गवार' और 'बाहुबली' आदि कहानियो के पात्र अपने अह से इतने आक्रान्त हो जाते है कि यदि वे 'स्व' को 'पर' मे खो देने के लिए प्रेरित न हो तो उनका जीवन पत्थर की मूर्ति के समान ऐसा टूट जाय कि उसमे पुन जुडने की सम्भावना ही न रह जाय। किन्तु जैनेन्द्र की अह विसर्जन की भावना उनके पात्रो को टूटने नही देती, वे अपने जीवन को कष्टमय बनाकर समाज के आघात-प्रतिघात को सहकर प्रायश्चित के द्वारा समष्टि के प्रति अपने 'मै' भाव को समर्पित करके शुन्यवत् हो जाते है।

जैनेन्द्र के पात्र दो सन्दर्भो मे अपनी अहता को विसर्जित करने की ओर उन्मुख होते हैं—एक तो सामाजिक सन्दर्भ मे जहा उनका अह 'पर' को पीडित करता है। उसमे स्व-हित की भावना प्रमुख होती है, दूसरे वैयक्तिक स्तर पर जिसमे व्यक्ति को अपने 'मै' का एकाकी बोध कष्टदायक प्रतीत होता है और वह 'स्व' को 'पर' मे समाहित करने के लिए विकल होता है। दूसरे रूप मे उन्होने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो को लिया है। स्त्री अपने स्त्रीत्व मे तथा पुरुष अपने पुरुषत्व में नितात एकाकी तथा अपूर्ण है। स्त्री-पुरुष मे अपने अभाव को खोजती है, पुरुष स्त्री मे त्राण पाता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे यह

प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', (१९३७), बम्बई पृ०३।

भावना अर्ध नारीश्वर के रूप में अभिव्यक्त हुई है। 'फांसी', 'एकरस' 'रानी महामाया' (पान वाला), 'दिन, रात, सवेरा' मे स्त्री-पुरुष का एकाकीपन उन्हें विक्षिप्त कर देता है। वे अपने जीवन की व्यस्तता मे भी मन की प्यास बुझाने का मार्ग ढूंढते रहते हैं। उनके कार्य-व्यापार मे स्पष्टत इस ओर सकेत नही मिलता, किन्तु उनके अन्तस् में व्याप्त अभाव तथा शून्यता उन्हे अनजाने ही अपने गन्तव्य की ओर उन्मुख करती है।

दूसरी ओर सामाजिक सन्दर्भ मे उनके पात्र अपने जीवन मे अधिक से अधिक कष्ट सहकर समाज की मगलाकाक्षा मे रत रहते है। 'त्यागपत्र' की मृणाल तथा 'कल्याणी' मे कल्याणी पीडा को सहकर ही स्वयं को समाज के प्रति समर्पित करती है। यद्यपि जैनेन्द्र ने आत्मोत्सर्ग को जीवन का प्रधान लक्ष्य माना है, किन्तु उनके पात्रो के स्वाभिमान को कोई ठेस नही पहुचती। अभिमान अथवा महत्ता और स्वाभिमान मे अन्तर है। जैनेन्द्र के पात्र पीड़ा को सहते हैं, किन्तु अपने व्यक्तित्व पर आच नही आने देते। 'वह रानी' कहानी मे वह रानी दुर्भाग्य के थपेडे खाती हुई कहा से कहा पहुच जाती है, किन्तु अपमानित होकर अपने प्रेमी की सहानुभूति नही ग्रहण कर सकती। 'त्यागपत्र' की मृणाल भी कम स्वाभिमानी नही है। वह जज की बुआ होने के कारण सुख से जीवन व्यतीत कर सकती थी, किन्तु वह समाज की दृष्टि मे काटा बनकर अपने आत्माभिमान को खण्डित नही करना चाहती।

जैनेन्द्रजी ने जीवन मे ज्ञान और श्रद्धा अथवा बुद्धि और भावना के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने लिए अह विसर्जन को अनिवार्य माना है। ज्ञान अथवा बुद्धि अह की प्रतीक है। उसमे व्यक्ति का आग्रह निहित रहता है, किन्तु आग्रह मे सत्य का बोध नही हो सकता। ईश्वर के अस्तित्व के बोध के लिए तर्काश्रित बुद्धि से परे हृदयगत श्रद्धा की आवश्यकता है। जब तक व्यक्ति का 'मैं' प्रबल रहता है, तब तक वह ईश्वर के समक्ष समर्पित नही हो सकता। भक्ति-भावना इसीलिए आत्म-निवेदन प्रधान होती है। वस्तुत जैनेन्द्र की आस्तिकता के मूल मे भी अह विसर्जन की भावना ही समायी हुई है।

जैनेन्द्र के पात्रो की जिज्ञासु प्रवृत्ति भी उनकी निरहकारिता की ओर इगित करती है। वे सदैव स्वय को अपूर्ण तथा अतृप्त पाते हैं। उनमे यह चुनौती नही होती कि उन्होने सत्य को जान लिया है, वरन् वे यही समझते हैं कि उनके समक्ष सत्य अश रूप मे ही व्यक्त हुआ है। वस्तुत जैनेन्द्रजी जीवन और साहित्य मे अपनी निरहकारिता मे निरन्तर आस्तिकता की ओर उन्मुख होते रहे है। जैनेन्द्र की निरहकारिता पर सत खलील जिब्रान ने

विचारो की झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है।[1]

जैनेन्द्र ने अहं विसर्जन के द्वारा जीवन के प्रति उपेक्षणीय विषय पर विशेषरूप मे प्रकाश डाला है। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण के मूल मे उनकी आत्म-विसर्जन की भावना ही विद्यमान है। जैनेन्द्र सर्वप्रथम उपन्यासकार है, जिन्होने स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्ध पर विशद् विवेचन किया है। सामान्यत हम नर-नारी को पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पिता आदि सम्बन्धो के सन्दर्भ मे ही पहचानते है, किन्तु उनके मूल मे जो निर्गुण तथा निर्वैयक्तिक सत्य छिपा हुआ है, उसे जानने का प्रयास नही करते। जैनेन्द्र ने स्त्री को उसकी निर्वैयक्तिकता और गुणहीनता मे ही समझने की चेष्टा की है। सम्भवत जैनेन्द्र ने निर्गुण रूप स्वीकार करते हुए भी जिन विभिन्न सम्बन्धो को स्वीकृति प्रदान की है, वह उसके रूप को सहज ग्राह्य तथा सुगम बनाने के हेतु ही किया है। जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कठिन तथा नीरस मार्ग है। बिना इन्द्रियगोचर हुए ईश्वर का स्वरूप समझना और उसकी भक्ति प्राप्त करना दुर्लभ है। सगुण रूप के द्वारा ही भावना को सतोष प्राप्त होता है। उसी प्रकार जैनेन्द्रजी ने स्त्री और पुरुष के निर्वैयक्तिक रूप की अस्पष्टता को दूर करने के लिए इन्हे विभिन्न सामाजिक एव पारिवारिक सम्बन्धो मे प्रस्तुत किया। 'सुनीता' मे जैनेन्द्र की यह भावना स्पष्टत परिलक्षित होती है।[2] किन्तु उनके विचारो की मौलिकता और नवीनता स्त्री-पुरुष को उनके प्रकृति रूप मे स्वीकार करने मे ही है। उनके अनुसार—'कुटुम्ब परिवार पीछे आते है, नाते-रिश्ते, नाम-गोत...सब पीछे आते है..जो सुनीता है सुनीता ही है, और हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न है। पर यह भी नही भूलना

---

१. 'कभी यह न कहना मैंने समस्त सत्य पा लिया है, बल्कि मैंने एक सत्य पाया है।'

—खलील जिब्रान

—'दि प्रोफेट' (हिन्दी अनु० 'जीवन-दर्शन', सत्यकाम विद्यालकार), सशोधित सस्करण, १९५८, राजपाल एण्ड सस, दिल्ली, पृ०स०५८।

२. 'तुम शायद स्त्री के होने को इसी तरह जानते हो, जैसे पदार्थ के होने को। स्त्री को 'स्त्री' सज्ञा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ-न-कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहिन कहो, उपपत्नी कहो, प्रेमिका कहो कुछ न कुछ अपनापन जतलाए बिना 'स्त्री' सज्ञा का प्रयोग करके उस स्त्री-द्रव्य से छुट्टी तुमको नही मिलेगी।'

—जैनेन्द्रकुमार, 'सुनीता', दिल्ली, १९६४, पृ० १५।

चाहिए की सुनीता नाम के सग्रहीत लालित्य के भीतर वह भाव और प्रकृति स्त्री है, उसी भाति दूसरा भी अपने नाम की अभिधा ओढकर बस पुरुष है।'[1] सृष्टि के आरम्भ मे भी स्त्री-पुरुष नाम और व्यक्तित्वहीन थे। वे दोनो शारीरिक तथा भावात्मक दृष्टि से स्वय मे अपूर्ण है। स्त्री कोमल गुणो का प्रतीक है, पुरुष कठोरता का प्रतीक है। स्त्रीत्व मे मातृत्व की लालसा है, पुरुष अपने दान से उसे सन्तुष्ट करता है। जैनेन्द्र की अधिकाश कहानियो के नारी पात्रो मे मातृत्व की उत्कट अभिलाषा है। मातृत्व के पूर्व की स्थिति काम और भोग की है। जैनेन्द्र काम को 'पाप' नही समभते। जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती लेखक स्त्री की रोम-रोम मे समायी इस मातृत्व की आकाक्षा की उपेक्षा करते रहे। उन्होने सत्यता का निषेध करते हुए उसे अश्लीलता का पोषक बताया, किन्तु जैनेन्द्र जीवन के मूल सत्य के वस्तुतीकरण मे अनैतिकता तथा अश्लीलता के दर्शन नही करते। काम और भोग मे सृष्टि की कामना निहित है, तो वह कैसे उपेक्षणीय हो सकता है। जैनेन्द्र के पुरुष-पात्र अपने अह को विगलित करने के लिए स्त्री के प्रति प्रार्थी रहे है। अतएव सभोग मे व्यक्ति की अहता की हार है। सम्पूर्ण समर्पण मे भगवत्-भाव निहित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार पूर्ण समर्पण एकमात्र ईश्वर के प्रति ही सम्भव हो सकता है। अत स्त्री-पुरुष के सम्मिलन-भाव को भूलकर अद्वैत अथवा अखण्डता की प्राप्ति द्वारा ही काम मे मोक्ष तथा भोग मे योग की कल्पना की जा सकती है।

वस्तुत जैनेन्द्र फ्रायड के मत के समर्थक नही प्रतीत होते। उन्होने स्वय स्वीकार किया है कि 'सब के मूल मे फ्रायड वाले काम को नास्तिक होकर मैं कैसे मान सकूगा ?'[2] मूल सब कर्तृत्व मे, मै उस परम तत्व को मानता हू, जिसके लिए हमारे पास ईश्वर जैसे शब्द है।[3] भगवत्ता तथा आत्म-समर्पण की भावना से सम्बन्धित होकर ही वे काम, प्रेम, भोग आदि प्रकृत भावो को नि सकोच रूप मे व्यक्त कर सके है। छिपाव तथा दुराव मे ही मन का पाप छिपा रहता है, जहा छिपाव अथवा बचाव के लिए कुछ भी शेष नही रह जाता, वहा पाप अथवा अनैतिकता की सम्भावना ही नही उठती वह सहज और स्वाभाविक रूप मे ही अभिव्यक्त हो जाते है। नग्नता मे जो कामोद्वेग की क्षमता है, वह स्त्री की सहजता से उद्भूत न होकर उसकी प्रदर्शन

---

१ जैनेन्द्र कुमार सुनीता, दिल्ली १९६४, पृ० १३६।

२ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', १९६१, दिल्ली, पृ० १२२।

३ जैनेन्द्र कुमार 'काम प्रेम और परिवार', द्वितीय सस्करण, दिल्ली, १९६१, पृ० १२४।

आकाक्षा मे ही निहित रहती है। जैनेन्द्र के पात्रो मे नग्नता शरीर के सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए न होकर सम्पूर्ण समर्पण के रूप मे ही व्यक्त हुई है।[१] जैनेन्द्र की नैतिकता का मानदण्ड उतना सकीर्ण नही है, जैसा कि हमे नितान्त आदर्शवादी लेखको मे दृष्टिगोचर होता है। 'एक रात' कहानी तथा 'सुनीता' उपन्यास मे उनकी समर्पण भावना इसी महत भाव से युक्त है।

जैनेन्द्र के इतिहास मे विवाह और प्रेम की समस्या भी अत्यधिक विस्फोटक रूप मे व्यक्त हुई है। जैनेन्द्र ने विवाह को सामाजिक-व्यवस्था के लिए अनिवार्यरूप से स्वीकार किया है। प्रेम-विवाह उनकी दृष्टि मे अधिकाशत असफल सिद्ध होता है। प्रेम मे दायित्व अथवा विवाह की बाध्यता अप्रेम की ही जनक है। पत्नी और प्रेमिका का साथ-साथ नदी के दो किनारो के सदृश्य चलना स्वाभाविक है। उनके अनुसार—'पत्नी को काम्य भोग्य यदि मानना स्वीकार है तो किसी-न-किसी चोर मार्ग से आ ही जाना है।'[२] जैनेन्द्र के अनुसार विवाह केवल ससार मे प्रवेश का द्वार है, उसे जकडबद बनाकर व्यक्ति के प्राकृतिक प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे उसमे मानसिक विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि विवाह से इतर प्रेम को वे सामाजिक दृष्टि से अनुचित नही समझते।[३] प्रेम को जाति और समाज की सीमा मे आबद्ध नही कर सकते। प्रेम मुक्त-भाव है इसीलिए उसमे सामाजिक मर्यादा का प्रश्न ही नही उठता। सत खलील जिब्रान ने भी प्रेम मे पारस्परिक स्वतन्त्रता को अनिवार्य माना है।[४] बन्धनयुक्त प्रेम कलुषित हो जाता है। जैनेन्द्र खलील जिब्रान के विचारो से बहुत अधिक प्रभावित है उनकी जीवन, जगत और कर्म सम्बन्धी धारणा

१ 'हमने प्रेम को खानो मे बाट दिया है और शरीर जहा उपस्थित है वहां अपवित्र और अनुपस्थित है वहां पवित्रता की भावना को बिठा दिया है। मैं मानता हूँ कि जो अधूरा है वह तृष्णार्त है।'
—जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली, १९६१, प्र० स०, पृ० ३३।

२ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली, १९६१, प्र० स०, पृ० २९।

३ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली १९६१, प्र० स० पृ० ११०।

४ सन्त खलील जिब्रान 'जीवन-दर्शन' (दि प्रोफेट का अनुवाद) अनु० सत्यकाम विद्यालकार, दिल्ली, सशोधित स०, १९५८, पृ० १९।

खलील जिब्रान के बहुत ही निकट प्रतीत होती है।[1] जैनेन्द्र का सम्प्रति साहित्य प्रेम की व्यथा से ही इतना हृदयग्राही बन सका है। उन्होने मानव जीवन ही नही पशु-पक्षी तथा जड प्रकृति के क्रिया-कलापो मे भी अन्तर्निहित उनके प्रेम की अभिव्यक्ति की है। पशु-पक्षी मे उन्होने मानवीय सवेदना को प्रतिष्ठित करके प्रेम का उच्चादर्श व्यक्त किया है। 'एक गौ' तथा 'दो चिडिया' कहानियो मे सात्विक तथा रोमान्टिक प्रेम की अत्यधिक मार्मिक अभिव्यक्ति है।

जैनेन्द्र की आस्तिकता प्रेम अथवा श्रद्धा का ही पर्याय है। श्रद्धा ही उनके विचारो के मूल मे अवस्थित वह स्रोत है, जो उन्हे जीवन-यात्रा के अनन्त कष्टो तथा निराशा के मध्य आशा और विश्वास की एक दिव्य दृष्टि प्रदान करती है। विज्ञान के इस युग मे मानव नितान्त श्रद्धाहीन हो गया है। उसकी आत्म-शक्ति समाप्त प्रायः हो गई है। किंकर्तव्यविमूढ हुआ-सा परम सत्य को जानने की चेष्टा न करके निरर्थक कार्यों मे अपनी उर्जा नष्ट करता है। जैनेन्द्र के अनुसार विज्ञान समय की आवश्यकता है, किन्तु आस्था जीवन का सार है। ईश्वर की परम सत्ता मे विश्वास करता हुआ व्यक्ति आजीवन कष्ट भोगकर भी निराश नही होता। पीडा मे भी उसे ईश्वरीय वरदान की अनुभूति होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन-सघर्ष है। ससार युद्ध-स्थल है। मनुष्य प्रतिक्षण अपने भाग्य और परिस्थिति के थपेड़ो को झेलता हुआ भी अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रयास करता है। उनकी अधिकाश कहानियो और उपन्यासो मे जीवन को शहादत और यज्ञ के रूप मे स्वीकार किया गया है।[2] 'कल्याणी', 'जयवर्धन' आदि उपन्यासो मे जीवन के यज्ञ मे स्वय को हुताशन बना देना ही उनका लक्ष्य है।[3] जैनेन्द्र के समक्ष गाधी और ईसा की कुर्बानी ही वह आदर्श रही है, जिसके कारण उनके पात्र सदैव अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहते है। जैनेन्द्र के साहित्य मे ईसा के जीवन की पीड़ा को मानव जीवन के महानतम आदर्श के रूप मे अभिव्यक्त किया गया है। पीडा ही व्यक्ति की पूजी है, जिसे अपने अन्तस् मे सजोए हुए वह जीवन-शक्ति का

---

१ 'प्रेम न किसी पर अधिकार जमाता है और न स्वय ही किसी से अधिकृत है।

२ 'जीवन एक शहादत है। शास्त्र कहते हैं यज्ञ है।'
—जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', दिल्ली, १९५६, पृ० ११०।

३. 'जीवन ही जलना है।' वह है, यज्ञ मे उससे बचना क्यो चाहे।
—जैनेन्द्र कुमार

रस ग्रहण करता है, क्योकि पीडा मे ही प्रेम और 'पर' के प्रति सहानुभूति का भाव समाहित होता है। 'कल्याणी', 'अनन्तर', 'जयवर्धन' आदि सभी उपन्यासो मे ईसा का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत यदि जीवन है तो वह सघर्ष हीन हो नही सकता। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन एक कठोर सत्य है। वह इतना सरल और सुखमय नही है, जितना बाह्याकर्षण के कारण प्रतीत होता है।[1] व्यक्ति जीवन मे सघर्ष करने की इच्छा लेकर सघर्ष-रत नही रहता। सघर्ष की शक्ति प्रेम मे से ही उत्पन्न होती है। यही कारण है कि जैनेन्द्र जीवन मे सहने को ही धर्म मानते है। सघर्ष करना जीवन का सार नही, वरन् जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का सार-तत्व प्रेम है। प्रेम के वशीभूत होकर व्यक्ति मे अपने को 'पर' मे अद्भुत शक्ति उद्भूत होती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे जीवनगत सघर्ष का जो रूप दृष्टिगत होता है, वह अन्तस् की व्यथा के कारण ही सतत् गतिशील रहता है। 'कल्याणी' और 'मृणाल' ऐसी नारिया है, जो प्रेम के हेतु जीवन से जूझती रहती है, किन्तु परिस्थिति से पराजित होकर वे पीछे नही हटती। जीवन-यात्रा पूर्ण करती है। उन्हे अनेको कष्ट सहने पडते है, किन्तु वह पराजित नही होती।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की सार्थकता उससे चिपटे रहने मे ही नही है।[2] शहीद ही जिन्दगी के स्वाद को समझ सकता है, जो हसते हुए प्राणो की आहुति दे देता है। जीवन के लिप्त रहने मे मौत का भय व्यक्ति की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है, क्योकि उसके मन मे सदैव यही काटा चुभता रहता है कि कही मौत उसके जीवन के सुख को पल भर मे समाप्त न कर दे। जैनेन्द्र की कहानियो और उपन्यासो मे ऐसी अनेको घटनाए दृष्टिगत होती है, जब उनके पात्र स्वेच्छा से मृत्यु का आलिगन करके अपने जीवन को सफल बनाते है। 'फासी' मे शमशेर अपनी मौत द्वारा जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है। वह मौत को बडी चीज नही मानता, किन्तु जीवन के लिए कभी-कभी मृत्यु का आलिगन श्रेयष्कर होता है। जैनेन्द्र मौत मे जीवन की यात्रा को समाप्त हुआ नही पाते, क्योकि जीवन तो अनन्त यात्रा है।

जैनेन्द्र का जीवन-आदर्श नितान्त व्यावहारिक प्रतीत होता है। ससार

---

१ 'जीवन निरी मुलायम चीज नही है। वह युद्ध है। ...जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहा कोई समझौता नही है और कोई अन्त नही है।'
—प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', पृ० ९६।

२. जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', प्र० स० दिल्ली, १९५३, पृ० १२६।

में ऐसे व्यक्ति दुर्लभ ही होंगे जिनके मार्ग में कठिनाइयां आती ही नहीं। राजमार्ग पर चलकर अपनी जीवन-यात्रा संपन्न करने वाले विरले ही होते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार "जिनके मार्ग में कठिनाइयां आती ही नहीं है, सब सुगमता ही सुगमता रहती है, वे जीवन में बहुत दूर तक और ऊंचे तक नहीं जा पाते। ...देखा जाता है कि कठिनाई और अवरोधों ने ही अमुक जीवन के मार्ग को दिशा और स्वरूप दिया है।"[1]

कठिनाइयों को झेलते हुए भी जीवन-सरिता सतत् प्रवाहित होती रहती है। जैनेन्द्र जीवन की परिवर्तनशीलता में ही विश्वास करते हैं, पराजित होकर जड़बद्ध हो जाना तथा प्रगति को अवरुद्ध कर देना वे उचित नहीं समझते। जैनेन्द्र के अनुसार परिवर्तन जीवन का नियम है। जीवन प्रेम है और प्रेम का भी नियम परिवर्तन है।[2] 'प्रेम जीवन का मूलाधार है, अतएव जीवन में परिवर्तन आवश्यक है। प्रकृति परिवर्तनशील है, समाज की मान्यता परिवर्तनीय है तो व्यक्ति का जीवन जड़ नहीं हो सकता, 'कल्याणी' में एक स्थल पर जैनेन्द्र ने जीवन की गतिशीलता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है, जिन्दगी नाम चलने का है।"[3] जीवन में सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, किन्तु जीवन की यात्रा चलती रहती है। खिन्न होकर रुक जाना जीवन का आदर्श नहीं है। जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' में कल्याणी के द्वारा रचित एक गद्य-गीत में जिस बटोही की कल्पना की वह अपनी अन्तर्व्यथा को संजोए अज्ञात पथ की ओर चलता जाता है। उसकी वेदना के मूल में प्रेम का स्वर ध्वनित होता प्रतीत होता है। वह एकमात्र उसी स्वर के आकर्षण पर भटकता हुआ चलता जाता है। वस्तुतः जैनेन्द्र के जीवन का आदर्श अन्तस् में प्रेम की लौ को जलाकर जीवन की अनन्त यात्रा पूर्ण करना है। विरह-व्यथा से शक्ति उद्भूत होती है। जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' में जीवन में बूंद-बूंद रिसने वाली वेदना का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह जीवन के संबंध में उनके दृष्टिकोण को व्यक्त करने में पूर्णतः सहायक प्रतीत होती है।[4] जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का आधार है—व्यथा।

---

१. प्रभाकर माचवे : 'जैनेन्द्र के विचार', पृ० ८२।

२. जैनेन्द्र कुमार : 'विवर्त', दिल्ली, प्र० सं०, १६५३, पृ० ७०।

३. जैनेन्द्र कुमार : 'कल्याणी', पृ० ५।

४. "मानव चलता जाता है और बूंद-बूंद दर्द उसके भीतर इकट्ठा होकर भरता जाता है वही सार है, वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव व्यक्ति-पथ उज्जवल होगा।"
—जैनेन्द्रकुमार : 'त्याग-पत्र', बम्बई, पृ० ४५।

व्यथा के रस से आर्द्र होकर ही उनके पात्र अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न करते है।

जैनेन्द्र ने प्रेम और वेदना को जीवन का आधार माना है। प्रेम मे विश्लेषण सम्भव नही हो सकता। विश्लेषण विज्ञान का नियम है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की गति सश्लेषणात्मक है। वह प्रेम के सूत्र मे समस्त विभेदो को गूथ लेती है। द्वैत भाव मिट जाता है। विज्ञान मे द्वैत ही प्रधान नही होता वरन् जीवन विभिन्न शाखाओ-प्रतिशाखाओ मे विभाजित हो जाता है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की वास्तविकता उसकी समग्रता मे स्वीकार्य हो सकती है। अश पूर्ण का प्रतीक नही बन सकता।[1]

जैनेन्द्र ने अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र के माध्यम से मानव जीवन की विविध परिस्थितियो का व्यापक अध्ययन किया है। यो अर्थशास्त्र आदि विषय स्वय निरपेक्ष रूप से जाने जाते है किन्तु जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे उन्हे व्यक्ति की सापेक्षता मे विवेचित किया है। व्यक्ति का जीवन अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, जीव-विज्ञान आदि विभिन्न इकाइयो का समष्टि रूप है। सभी शास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित है, क्योकि उन सबके विवेचन का विषय मानव-जीवन, मानव-परिस्थिति तथा मानव जीवन से उद्भूत समस्याए ही है। साहित्य मानव जीवन की सवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। अत साहित्य मे जीव-विज्ञान, अर्थ, धर्म, समाज, राजनीति का विवेचन आवश्यक है।

जैनेन्द्र का साहित्य जीवन की व्यापकता को स्वय मे समाहित करके युग-बोध तथा युग की विविध समस्याओ को विवेचित करने मे बहुत अधिक सहायक रहा है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे जो व्यक्ति-चेतना विशिष्ट रूप मे मुखरित हुई है, उसका प्रेरक तत्व उनका युग-बोध ही है। यह सत्य है कि उपन्यास और कहानियो मे उन्होने अपने आस-पास की घटनाओ की ही कल्पना का स्पर्श देकर वर्णित किया है, किन्तु उनके विचारात्मक निबन्धो मे उनकी दृष्टि की व्यापकता युग-बोध के प्रति जागरूकता का परिचय मिलता है। उनका युग-बोध पुस्तकीय ज्ञान तथा सक्रिय कार्यों का परिणाम न होकर स्वानुभव पर आधारित है। यह सत्य है कि जैनेन्द्र की राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागरूकता उनके जीवन को सचेष्ट नही बना सकी। उन्होने परिस्थितिगत अनुभव को साहित्य के धरातल पर अपने विचारो का कलेवर पहना कर प्रस्तुत किया है

१. जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', दिल्ली, १९६२, प्र०स०, पृ०१५७-५८।

जीव विज्ञान

मानव जीवन का प्रारम्भिक ज्ञान हमे जीव-विज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। जीव की उत्पत्ति के अनन्तर ही समाज, धर्म, अर्थ आदि की समस्या उद्भूत होती है। अतएव जीव-विज्ञान वह प्रारम्भिक अध्याय है जो हमे जीव और विशेषत मानव प्राणी के विकास का बोध कराता है।

डार्विन पशु योनि से जीव-विज्ञान का आरम्भ मानते है। वे विकास का आरम्भ पशुता से करते है, किन्तु जैनेन्द्र जीव वैज्ञानिक नही हैं, वरन् दार्शनिक है अतएव वे विकास मे भी सत्य की खोज करते है। जैनेन्द्र के अनुसार विकास की उपरोक्त स्थिति स्थूलत सामाजिक और सत्य है, किन्तु पशुता से और गहरे जाय तो अन्तिम आधार मे दिव्यता प्राप्त होगी। विकास का सिद्धान्त उतने आगे नही जायगा। परिणामत मनुष्य को मूलत पशु मान लिया जाता है। जबकि जैनेन्द्र की मान्यता के अनुसार प्रत्येक प्राणी और मनुष्य तो और भी विशेषत दिव्य के आकर्षण से मुक्त नही हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार हिसा की जड मे भी सवेदना है, वस्तुत मूल मे दिव्यता ही है।

जैनेन्द्र ने विकासवाद मे, पशुत्व के मूल मे, देवत्व को हिसा मे अहिसा की स्थिति के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार अहिंसा के आधार के बिना हिंसा भी नही हो सकती। हिसा वह प्रक्रिया है, जिसमें स्वकीय के लिए 'पर' पर प्रहार होता है। यदि स्व के पास स्वकीय न हो तो प्रहार की प्रेरणा समाप्त हो जाय। वस्तुत स्वकीयता का निर्माण अहिसा के आधार पर होता है अर्थात् पर प्रहार की हिंसा मे भी स्वकीयता अर्थात् अहिंसा की आधार स्थिति अनिवार्य है।[1] वस्तुत पशुत्व के मूल मे देवत्व विराजमान है। जैनेन्द्र ने 'जयवर्धन' मे अपने इन्ही विचारो की पुष्टि की है। जय आध्यात्मिक व्यक्ति है। वह यह स्वीकार करने मे असमर्थ है कि फल बीज से भिन्न हो सकता है। उसका विश्वास है कि—'कभी मानव देवता होता तो इस विश्वास के आधार पर कि देवत्व से उसका उद्गम है'[2] उसका दृढ विश्वास है कि 'पशु आदि नही है, विकास मे बहुत बाद की कडी है। गुण का, सत् और चित का आविर्भाव वहा से नही है। अणु टूट गया है और प्रतीति प्राप्त है कि गुण उसके भी गहरे गर्भ मे है।'[3] 'उनकी दृष्टि मे मनुष्य के उत्स को पशुत्व में खोजना उचित नही है। जय के अनुसार मनुष्य देव है और स्व

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार। (१९-५-७१)।
२. जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० १५१।
३. जैनेन्द्र कुमार . 'जयवर्धन', पृ० १५१।

की बाधा तोड निखिल के साथ अखण्ड हो सके तो सच्चिदानन्द रूप है।

वस्तुत जैनेन्द्र ने जीव विज्ञान के द्वारा भी मानव जीवन की दिव्यता को ही प्रकट करने का प्रयास किया है। अर्थ जीवन का अनिवार्य अग है। ससार नितान्त अपरिग्रही प्रवृति के अनुसरण से चल नही सकता, किन्तु किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक परिग्रह स्वय मे दोष है। जैनेन्द्र के अनुसार धन की आवश्यकता व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी के लिए स्वाभाविक है। यद्यपि सब के मूल मे व्यक्ति ही प्रधान है किन्तु समाज और व्यक्ति की समस्या के रूप मे कुछ अतर अवश्य रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे धन का एकत्रीकरण समाज के लिए अभिशाप है। जिस प्रकार रक्त का प्रवाह पूरे शरीर मे समान रूप से आवश्यक है, यदि रक्त किसी अग-विशेष मे ही रुक जाय और अन्य अग रक्त-हीन रह जाय तो उससे शरीर मे भयकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति अपने जीवन की भी आशा छोड बैठता है। उसी प्रकार धन रूपी रक्त का समाज रूपी शरीर के किसी भी अग मे रुक जाना सामाजिक दृष्टि से बहुत ही हानिप्रद है। धन की सार्थकता उसके अविरल प्रवाह मे है, अवरुद्ध होकर जडित होने मे नही है। समाज मे ऐसी स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति का अथवा सस्था-विशेष का स्वार्थ उसमे केन्द्रीभूत हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार अर्थ की वृद्धि उसकी वस्तुता को बढाने के लिए न होकर जीवन सवर्धन के हेतु होनी चाहिए।

अर्थ-विभाजन की दृष्टि से जैनेन्द्र साम्यवादियो के सदृश्य ही शोषक और शोषित के मध्य की खाई को दूर करने के पक्ष मे है। उनके अनुसार श्रमिक वर्ग परिश्रम करने के बाद भी सदैव असन्तुष्ट और अतृप्त रहता है, किन्तु शोषक वर्ग आवश्यकता से अधिक वस्तु अपने गोदाम मे भरता जाता है। आज धन को लेकर विभिन्न मतवाद उठ खड़े हुए है। साम्यवाद, समाजवाद, पूजीवाद आर्थिक समस्या को लेकर ही विकसित हुए है। जैनेन्द्र अपने साहित्य मे किसी वाद का भी समर्थन करते समय व्यक्ति को केन्द्र मे लेते है। व्यक्ति की उपेक्षा करने वाला कोई भी वाद उन्हे स्वीकार नही है। उपन्यासकार यशपाल एक प्रकार से साम्यवाद के प्रचारक ही प्रतीत होते है किन्तु जैनेन्द्र किसी भी मत का दृढता से समर्थन नही करते। उनके अनुसार समाजवाद में यद्यपि पूजीवाद के सदृश्य व्यक्ति का शोषण नही होता, किन्तु समाजवाद का विकसित रूप ही कालान्तर मे व्यक्ति की उपेक्षा करके समाज को ही विशेष महत्व प्रदान करता है। साम्यवादी नीति को भी वे सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उपयोगी समझते हैं, किन्तु उन्होंने साम्यवाद के जिस स्वरूप को स्वीकार किया है, वह मार्क्सवादी न होकर आध्यात्मिकता

से परिपुष्ट है। मार्क्स ने भौतिक जगत मे अधिक से अधिक उत्पादन द्वारा साम्य-स्थापना का हिंसक प्रयास किया था। किन्तु जैनेन्द्र की नीति गाधी की अहिंसक नीति का ही प्रतिफल है। जैनेन्द्र के अनुसार साम्यवाद मे समस्त सम्पदा राष्ट्र मे केन्द्रित हो जाती है, अतएव उसमे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अवकाश नही रहता। जैनेन्द्र का आदर्श भौतिक साम्य न होकर आत्मपरक है। उनके अनुसार प्रत्येक को अपनी योग्यता के अनुसार अर्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए श्रेणी विभाजन आवश्यक है। गरीब और अमीर का भेद समाज से मिटाया नही जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार आर्थिक दृष्टि से उत्पन्न भेद-भाव को मिटाने के स्थान पर व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य सहानुभूति और सहृदयता का सम्बन्ध अनिवार्य है। गरीब अमीरो के द्वारा अपनी गरीबी के कारण अपमानित तथा शोषित नही होना चाहिए। जैनेन्द्र का मूलादर्श जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रेम और दया का विस्तार करता है।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे स्वार्थ-रत पूजीपतियो के प्रति जो आक्रोश व्यक्त किया गया है, वह उनकी मानव-नीति का ही पोषक है। 'विवर्त' मे जैनेन्द्र ने अमीरो की शान-शौकत तथा विलास का बहुत ही व्यग्यात्मक चित्रण किया है।[१] जैनेन्द्र के अनुसार अर्थ की सार्थकता उसके परमार्थीकृत होने मे है। 'कल्याणी' तथा 'अनन्तर' मे उनके विचारो की पुष्टि दृष्टिगत होती है। अर्थ-नीति राजनीति के घेरे मे आबद्ध होकर मानव-नीति अथवा परमार्थ मूलक आदर्शो से परे हो जाती है। जैनेन्द्र अर्थ-नीति को धर्म नीति के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करते है। उनकी परमार्थिक दृष्टि के मूल मे धर्मास्था ही केन्द्रीभूत है।[२]

वस्तुत जैनेन्द्र ने अर्थ शास्त्र के द्वारा मानव जीवन की विषम परि-

---

१ 'पत्थरो से (हीरा, पत्थरों से तात्पर्य हीरा-पन्ना आदि से) बच्चे खेलते है, लेकिन अमीर भी खेलते हैं।' —जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', १६५३, दिल्ली, प्र०स०, पृ०६४।

२ 'अर्थशास्त्र की बुनियाद से यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ की जैसी कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नही है। ...मेरा अनुमान है कि मनुष्य की गहराई मे पडे धर्म नैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ-रचना का आरम्भ हो सकता है और गाधी का प्रयत्न उसी का सूत्रपात था।'
—जैनेन्द्र कुमार : 'समय और हम', दिल्ली १६६२, प्र०सं०, पृ०१८६।

स्थितियो को देखने और उन्हे साहित्य के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। एक ओर उन्होने अर्थ सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन अपने विचारात्मक निबन्धो द्वारा प्रस्तुत किया है। 'समय और हम' परिप्रेक्ष, 'प्रश्न और प्रश्न' आदि वैचारिक निबन्ध तथा प्रश्नोत्तरो मे श्रम, उत्पादन, वितरण तथा विभिन्न वादो की आर्थिक नीति का विवेचन किया है, दूसरी ओर उपन्यास और कहानियो द्वारा अर्थ के कारण जीवन मे उत्पन्न होने वाली समस्याओ का अत्यन्त व्यावहारिक तथा सवेदनात्मक वर्णन किया है। इस दृष्टि से 'अपना अपना भाग्य', 'साधु का भेद', चोरी, पत्नी, आदि कहानिया प्रस्तुत की है।

वस्तुत लेखक ने अर्थ को दृष्टि मे रख कर व्यक्ति के जीवन को परखने और उसमे स्वय को आत्मसात करने का प्रयास किया है, किन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्ति उसके प्रति निस्पृह रहे। वह अपरिग्रही बनकर परहित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे।

जैनेन्द्र ने अर्थशास्त्र के समान राजनीति को भी मानव-नीति से सम्बद्ध रूप मे ही स्वीकार किया है। राजनीति व्यक्ति द्वारा निर्मित होती है, अत वह व्यक्ति पर अपना प्रभुत्व नही स्थापित कर सकती। मानव जीवन की व्यवस्था मे वह एक हेतु बनकर ही स्थिर रह सकती है। जैनेन्द्र के अनुसार स्वार्थ की भावना ही व्यक्ति को व्यक्ति से तथा सस्था विशेष से दूर रखती है। 'स्व' के विसर्जन मे द्वन्द्व का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र साहित्य के विचारात्मक पक्ष मे राजनीति के विभिन्न आदर्शो की स्थापना और आलोचना की गई है। उपन्यास और कहानियो मे उन्होने मानव जीवन से तद्गत करके राजनीतिक नियम, कानून और व्यवस्था की विवेचना की है। 'जयवर्धन' मे जैनेन्द्र के राजनीतिक विचारो की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। उनके अनुसार राजनीति की सार्थकता इसी मे है कि वह धीरे-धीरे मानव-नीति की ओर अग्रसर हो और शासन तथा दण्ड का बाह्य आरोपण स्वय मे निरर्थक प्रतीत होने लगे। राज्य-सभा अथवा कानून को एकाएक समाप्त नही किया जा सकता किन्तु प्रयास इस बात का होना चाहिए कि व्यक्ति स्वशासित हो। शासन के स्थान पर अनुशासन को प्रश्रय मिले।[1]

'जयवर्धन' मे जैनेन्द्र के विचार भारतीय सस्कृति और आदर्शो का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं। उनके विचारो के मूल मे गाधी की अहिंसक नीति भी स्पष्टत दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार राज्य, राष्ट्र

---

१ जैनेन्द्र कुमार . 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० ७०।

आदि व्यक्ति के द्वारा कल्पित सीमाए है, किन्तु मूलत अखिल सृष्टि कागज के नक्शे की रेखाओ मे विभाजित नही है। 'राष्ट्रवादी' नीति मे अपने पडोसी राष्ट्र के प्रति मानवता, पशुता का प्रतीक बन जाती है। सीमा-रेखा के कारण पडोसी राष्ट्रो के मध्य अवस्थित व्यक्तियो की पारस्परिक सहानुभूति और मानवीय सवेदना समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीय विभाजन के कारण प्राय ऐसा होता है कि सीमा रेखा एक घर के कुछ कमरो को एक राष्ट्र मे विभाजित कर देती है और कुछ को दूसरे मे। इस प्रकार एक साथ प्रेमपूर्वक रहने वाला परिवार विभाजन के बाद पारस्परिक सहानुभूति और सहृदयता खो बैठता है।[1] वस्तुत जैनेन्द्र नक्शे की रेखाओ से परे सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र मे बाधने के पक्ष मे है। राष्ट्र और राज्य बाह्य व्यवस्था के सूचक ही हो सकते है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावना ही प्रधान होनी चाहिए।

जैनेन्द्र की राजनीतिक विचारधारा गाधीजी के आदर्शो से परिवेष्टित है। गाधीजी के अनुसार राजनीति, सौ फीसदी राज करने, बनाने या रखने की नीति होकर नही बैठ सकती। राजनीति निरपेक्ष रूप नही धारण कर सकती। मानव जीवन यदि भीतर-ही-भीतर रूग्ण होता जा रहा है, स्वार्थमयी दृष्टिवाले नेताओ के द्वारा यदि सामान्य जीवन की उपेक्षा की जाती है, तो राजनीति शक्ति न रहकर शक्ति के उदय मे बाधक सिद्ध होती है।[2] राज्य की शक्ति व्यवस्थामूलक होनी चाहिए। आत्मानुशासन ही वह यन्त्र है, जिससे समस्त मानवता शासित हो। ऐसी स्थिति मे राजा-प्रजा, नेता-जनता के मध्य की खाई स्वत ही मिट जायेगी। जैनेन्द्र ऐसी ही राजसत्ता के पक्ष मे है, जिसमे शीर्ष पर कोई न हो, फिर भी व्यवस्था बनी रहे। यही कारण है कि 'जयवर्धन' मे जय को सिहासन के प्रति कोई आसक्ति नही है।[3]

जैनेन्द्र के साहित्य का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति और व्यक्ति का जीवन है। राजनीति मे व्यक्ति की उपेक्षा करके राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने वाली

---

१ 'राज्य की सीमा है, वह लकीर धरती पर तो नही है, सिर्फ नक्शे पर है, इसलिए राज्य कृत्रिम है।' —जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६ प्र० स०, पृ० ४११।

२. जैनेन्द्र कुमार 'अकाल पुरुष गाधी', दिल्ली, १९६२, प्र० स०, पृ० ७५।

३ "भारतीय आत्मा को कभी सिंहासन पर चढ बैठने की आकाक्षा नही हुई है। उधर उसकी दृष्टि ही नही गई। रुचि ही नही रही। यहा उसने माया को देखा। उसकी शोध सत्य की थी, इसलिए वह शक्ति से और उसके प्रतीको से बाहर रही।" —प्र० स०, 'जयवर्धन'

साम्यवादी दृष्टि स्कीकार्य नही है। उन्होने व्यक्ति की सापेक्षता मे ही जीवन के विविध अगो की सार्थकता स्वीकार की है। व्यक्ति की अन्तर्निष्ठ प्रवृत्तियो के सत्य का उद्घाटन करने के लिए उन्होने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। वस्तुवादी लेखक वाह्य परिस्थितियो के सन्दर्भ मे ही अपने पात्रो के चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करते है, किन्तु जैनेन्द्र आत्मपरक साहित्यकार है। उन्होने व्यक्ति के मनोविज्ञान के सहारे उसके कार्य-व्यापारो के स्रोत का पता लगाया है। राजनीति, अर्थशास्त्र उनके द्वारा बहुत स्थूल रूप मे अभिव्यक्ति प्राप्त करते है। व्यक्ति जीवन की समग्रता, अर्थ, राज, धर्म आदि की सापेक्षता मे ही सम्भव है, किन्तु व्यक्ति क्या है, उसकी मूल प्रवृत्तिया उसके व्यक्तित्व के निर्माण तत्व तथा अन्तर्द्वन्द्व आदि बातो को जाने बिना किसी भी साहित्यकार की समस्त अभिव्यक्ति महत्वहीन ही रह जाती है। क्योकि साहित्य समाज का ही दर्पण नही है,[1] वह व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति का साधन नही है। सागर की विराटता अथवा उसकी उठती-गिरती तरगे ही उनकी महानता की सूचक नही है। उसकी महानता का रहस्य उसके अन्तराल मे अवस्थित है, जो कि मन्थन के परिणामस्वरूप ही ज्ञात किया जा सकता है। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन का सत्य घटनाओ मे न होकर मन के अन्तर्द्वन्द्व और आत्मबोध मे विद्यमान रहता है। मनोविज्ञान के द्वारा जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसकी अखण्डता मे जानने का प्रयास किया है। अन्तर और वाह्य दोनो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बाह्य जीवन अन्तर्द्वन्द्व के सहारे ही परिचालित होता है। सामान्यत सुधारवादी लेखको ने वाह्य परिस्थिति को ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण तत्व माना है, किन्तु जैनेन्द्र की कथा मे व्यक्ति के चारित्रिक विकास की परिणति न होकर द्वन्द्वाभिव्यक्ति ही है। उनके पात्र प्रेमचन्द आदि उपन्यास-कारो के सदृश्य उत्तरोत्तर अपने चरित्र का विकास करते हुए नही प्रतीत होते। यद्यपि जैनेन्द्र के पात्रो का जीवन अनन्त सम्भावनाओ से पूर्ण है, उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कोई पूर्व निर्णय नही प्रस्तुत किया जा सकता, किन्तु उनकी विशेषता अन्तर्द्वन्द्व द्वारा 'स्व' की अभिव्यक्ति करने मे है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यास चरित्र प्रधान न होकर व्यक्ति प्रधान है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसके भूत और वर्तमान की सम्पूर्ति मे देखा है। जीवन की वर्तमानता के मूल मे उसका व्यतीत जीवन समाहित रहता है। व्यक्ति

---

१. जैनेन्द्र कुमार : 'कहानी . अनुभव और शिल्प', दिल्ली, १९६७, प्र० स०, पृ० १२०।

जो कुछ भी दिखता है वही नही है, वरन् उसके पीछे उसका एक इतिहास है, जो उसके व्यक्तित्व और आचरण का आधार है। जैनेन्द्र ने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ द्वारा अखण्ड जीवन का अवलोकन किया है। 'रुकिया बुढिया' व 'गवार' मे उनके इन्ही विचारो की झलक दृष्टिगत होती है। 'रुकिया बुढिया' आजीवन बुढिया और रुकिया ही नही थी। वह भी कभी युवती थी। रुकिया ही नही, रुक्मणि थी। किन्तु बुढापे मे उसकी अति विनम्रता, सहनशीलता और त्यागमयी प्रवृत्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही वह कही से टूटी हुई है। उसके भावात्मक जीवन को कही कोई ठेस लगी है, जिसके कारण वह इतनी अधिक विनत रहती है। ऐसी स्थिति मे लेखक ने बडी सूझ-बूझ के द्वारा रुकिया के बीते दिन की पर्त पर पर्त खोली है। लेखक की महत्ता बीते दिनो की घटना के वर्णन मे नही है, वरन् उसे रुकिया बुढिया के यौवन को उभार कर अत्यधिक सवेदनात्मक रूप मे प्रस्तुत करने मे है। 'गवार' मे भी गवार व्यक्ति की अतिशय भक्ति भावना के मूल मे उसके मन की कुठा ही वह प्रेरक तत्व है जो समस्त विचार और कर्म को प्रभावित किए रहती है। उसकी बातो से ऐसा आभास होता है कि वह अत्यन्त साधु प्रकृति का भक्त पुरुष है, किन्तु जैनेन्द्र ने उसके आचरण को कार्य-कारण की श्रृखला मे रखकर समझने और मूल मे अविस्थत सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। वस्तुत लेखक का उद्देश्य व्यक्ति के छल को काटकर सत्य का उद्घाटन करना है। 'सुखदा', 'विवर्त', 'अनन्तर' आदि मे जैनेन्द्र के प्रमुख पात्रो का आचरण वहुत ही असहज रूप से अभिव्यक्त होता है। उपन्यासो मे जैनेन्द्र ने कर्म के कारणो की स्पष्ट विवेचना नही की है, किन्तु यह सत्य है कि उनके पुरुष पात्र यथा जितने, हरिप्रसन्न मनोग्रन्थि से पीडित है और इसीलिए वे क्रान्तिकारी का रूप धारण करते है।

जैनेन्द्र ने सत्य के उद्घाटन के लिए मनोविश्लेषण की शास्त्रीय पद्धति का सहारा नही लिया है, वरन् अपने व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर पात्रो के जीवन की असहजता तथा उनके अप्राकृतिक आचरण के मूल उत्स को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होने स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्धो को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। फ्रायड के अनुसार 'काम' शारीरिक भूख है जो सदैव तृप्त होने के लिए सचेष्ट रहती है।[1] जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के सम्मिलन मे काम-तृप्ति की आकाक्षा को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। काम की क्षुधा को उन्होने आध्यात्मिकता का पुट देकर

---

१. फ्रायड . 'मनोविश्लेषण' (१५-७-१९६०), द्वि० स०, दिल्ली, पृ० २७७।

मौलिकता का परिचय दिया है। अतएव उनके अनुसार काम तृप्ति द्वारा दमित वासनाओ की ही तुष्टि नही होती, वरन् स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मिलन मे भगवत्ता का बोध होता है तथा अह विसर्जन की भावना को पोषण मिलता है, जिससे व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव होता है।

जैनेन्द्र ने खेल, पाजेब, आत्मशिक्षण, फोटोग्राफ आदि कहानियो मे बाल मनोविज्ञान का अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन किया है। बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से 'खेल' उनकी बहुत ही सफल कहानी मानी जाती है। बच्चो की अपरिमेय कल्पना-शक्ति का उन्होने बहुत आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे धर्म, अर्थ, राजनीति और समाज मे भौतिकता से आध्यात्मिकता पिण्ड से ब्रह्माण्ड 'स्व' से 'पर' की ओर जो उन्मुखता दृष्टिगत होती है, उसके मूल मे जैनेन्द्र के चिन्तनशील व्यक्तित्व की ही झलक मिलती है। जैनेन्द्र लेखक होने के साथ ही साथ विचार प्रधान दार्शनिक भी है। उनकी दार्शनिकता तत्व की प्रचारक न होकर व्यावहारिक जीवन को आधेय प्रधान करने वाली धुरी है। कोरी भावना व्यक्ति को कल्पना-लोक का प्राणी बना देती है। किन्तु व्यक्ति यथार्थ भूमि मे चरण रखता हुआ सम्भावनाओ के लोक मे प्रगतिशील होता है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता यद्यपि किन्ही स्थलो मे विषय की भावनात्मक गरिमा को बहुत बोझिल बना देती है,[1] किन्तु अधिकाशत वह जीवन की सत्ता को उद्घाटित करने मे ही सहायक होती है। उनके दर्शन का स्वरूप जीवन के साथ इतना आत्मसात् होकर अभिव्यक्त होता है कि उसकी दुरूहता और जटिलता स्वत ही नष्ट हो जाती है। जैनेन्द्रका दर्शन उनके आत्मबोध और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति का ही परिचायक है। उनके जीवन-दर्शन मे मनोविज्ञान का विशेषत योग रहा है। दर्शन समष्टि को व्यष्टि मे समा लेने, अथवा व्यष्टि को व्यष्टि मे समर्पित कर देने की भावना का पोषक है। मनोविज्ञान व्यष्टि के अन्तर्द्वन्द्व को विवेचित करने मे सक्षम हुआ है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता दृष्टि अज्ञेय वादियो की-सी रहस्यवादी है। वे अदृश्य और अप्रस्तुत के सम्बन्ध मे सदैव सम्भावित अथवा सापेक्ष दृष्टि को ही स्वीकार करते है। जो अग्राह्य है, उसके सम्बन्ध मे निरपेक्ष रूप से कोई निर्णय नही प्रस्तुत किया जा सकता। जैनेन्द्र की सापेक्षिक दृष्टि जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दार्शनिकता का ही प्रतिफल है। जैन दर्शन मे सत्य क्या है, इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय नही दिया जा सकता।

---

१. जैनेन्द्र कुमार . 'खेल' जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानिया, सपा०शिवनन्दन-प्रसाद १९६६. प्र० स०, दिल्ली, पृ० ३४।

जैनेन्द्र की अनेकान्तवादी दृष्टि नितान्त अहिंसक तथा समन्वयमूलक है। वे किसी भी मत का खण्डन नही करते, क्योकि प्रत्येक विचार अपनी सीमा मे सत्य हो सकता है। विचारो और वादो का खण्डन भी एक प्रकार की हिंसा ही है। जैनेन्द्र की अहिंसक नीति कोरी जीव-हत्या तक ही सीमित न होकर व्यापक अर्थों मे गृहीत है।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे सत्यान्वेषण के प्रति सतत् जिज्ञासा बनी रहती है। ईश्वर ही एकमात्र शक्ति है, जो जीवन के समस्त सूत्रो का सचालन करती है। प्रतिदिन के जीवन की घटित घटनाओ के मध्य प्रत्येक व्यक्ति को उस परम सत्ता का आभास प्राप्त होता रहता है। निराशामय जीवन मे व्यक्ति अपनी श्रद्धा और विश्वास के सहारे ससार मे जीने की शक्ति प्राप्त करता है। जैनेन्द्र की जीवन दृष्टि अभेद श्रद्धामूलक है। भेद-दृष्टि द्वन्द्वमूलक है, किन्तु जहा समस्त भेद-भाव अपने-अपने मार्गो से उस परम सत्ता मे समाहित हो जाते है, वहा मतवाद का आग्रह नही रहता, वरन् पारस्परिक प्रेम की सम्भावना रहती है।

जैनेन्द्र की दार्शनिकता कोरी बुद्धि का ताण्डवनृत्य नही करती, उसमे व्यावहारिक जीवन के आत्मसात् होने की क्षमता विद्यमान है। अधिकाशत दार्शनिक जीवन की व्यावहारिकता से दूर निर्जन मे शाश्वत सत्यो की खोज मे रत रहते है, किन्तु जैनेन्द्र ने जीवन-सघर्ष के मध्य ही सत्य का बोध प्राप्त करने की चेष्टा की है। मानव-पीडा मे ही सत्य का स्वरूप निवास करता है। जैनेन्द्र की विचारधारा का मूल उद्गम ही मानव-व्यथा है।[१] व्यथा मे समर्पण की भावना उत्पन्न होती है। जैनेन्द्र के दुख-बोध और गौतम बुद्ध के दुख-बोध मे अन्तर है। जैनेन्द्र दुख से छुटकारा नही चाहते, वरन् दुख मे ही आत्मान्वेषण अथवा सत्यान्वेषण करते है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यथा की शक्ति आस्था पर ही निर्भर है। जैनेन्द्र के पात्र अपनी व्यथा का दोषारोपण समाज अथवा किसी व्यक्ति-विशेष पर नही करते, उसे वे अपने भाग्य का परिणाम समझते है। यद्यपि जैनेन्द्र की अतिशय भाग्यवादिता तो कभी-

---

१ "हर तत्ववाद को मानो सवेदना की कसौटी पर उतरना और अपने को खरा साबित करता होता है। सबसे प्रथम तथ्य और मूल तत्व है दुख—इस बौद्ध कथन का भी शायद यह सार है। इस अनिवार्यता के ही विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया।"

—जैनेन्द्र कुमार . 'कहानी : अनुभव और शिल्प' दिल्ली, १९६७, प्र० स०, पृ० ७२।

कभी खटकने भी लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कर्म से अधिक भाग्य पर विश्वास करते है। किन्तु यह सत्य है कि वे भाग्य-विश्वासी होते हुए भी कर्म की उपेक्षा नही करते। जैनेन्द्र की अति भाग्यवादिता के मूल मे ईश्वरीय आस्था ही विद्यमान है। उनके अनुसार 'मै' (व्यक्ति) सदैव अपूर्णता से पूर्णता की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील रहता है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति भाग्य के समक्ष अत्यन्त विवश हो जाता है। उस विवशता को वह बहुत विनत होकर स्वीकार करता है। उसके अन्तर मे यह बोध होता है कि 'जब वह है, तब मैं कहा? तब अहकार कैसा?'[१] जैनेन्द्र व्यक्ति को अव्यक्त के व्यक्तीकरण का माध्यम मानते है। उनके अनुसार वह (व्यक्ति) भाग्य के हाथ मे अपने को छोडकर भी निरन्तर कर्मशील रहता है।

जैनेन्द्र का परमादर्श जीवन की सतत् यात्रा मे अभेद अथवा अभिन्नता की प्राप्ति करना है। यद्यपि व्यक्त ससार की व्यावहारिक पृष्ठभूमि मे नितान्त ऐक्य सभव नही, अत वे द्वैत के मध्य प्रेम का रस घोलकर भेदत्व की स्थापना करना चाहते है, जिससे आत्मानन्द की प्राप्ति हो सके। अभेद अथवा अखण्डता जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का वह आधार है, जिस पर उन्होने अपने समस्त चिन्तन को साहित्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे उनकी जीवन के प्रति अटूट आस्था की अभिव्यक्ति हुई है। जीवन मे लगन, निष्ठा, दायित्व, प्रेम, सौहार्द्र आदि का महत्व उनके उपन्यास और कहानियो मे स्पष्टत दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के पात्र समस्त मानवीय गुणो का प्रतिनिधित्व करते है। दया और सहानुभूति की भावना उनके पात्रो मे कूट-कूट कर भरी हुई है। 'लाल सरोवर'[२] मे एक साधु निस्वार्थ भाव से कोढी वेश्या की सेवा करता है। उसे सामाजिक मान-सम्मान का भय नहीं होता। वह बडी लगन और निष्ठा के साथ समाज द्वारा तिरस्कृत नारी की सेवा करता है। जैनेन्द्र की रचनाओ मे त्याग की भावना विशेषरूप से दृष्टिगत होती है। 'परख' मे कट्टो का त्याग और निश्छल सेवा, प्रेम का आदर्श अतुलनीय है।

जैनेन्द्र ने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से चिरन्तन प्रश्नो के भीतर प्रवेश किया है। जीवन के सत्य के प्रति वे सतत् जिज्ञासु के सदृश्य सदैव जगत और जगत की

---

१. प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', प्र० स०, १९२७, पृ० २४०।

२. जैनेन्द्र कुमार 'लाल सरोवर', जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानिया सपा० शिवनन्दनप्रसाद, प्र० स०, दिल्ली, १९६९, पृ० २४५।

घटनाओ मे ही रमते रहे। उन्होने जटिल-से-जटिल समस्या का समाधान भी जीवन की व्यावहारिकता मे ही प्राप्त किया है। सत्य का शोध करने के लिए वे ससार से दूर नही गये, न ही उन्होने परम्परागत दार्शनिको के सादृश्य अपना कोई दर्शन प्रस्तुत किया है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे प्राय अधिकाश दार्शनिक अपने पूर्व प्रतिष्ठित मान्यताओ के आधार पर ही अपना अध्ययन और विश्लेषण आरम्भ करते थे। उनके समक्ष खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया ही प्रधान होती थी। किन्तु जैनेन्द्र मात्र द्रष्टा हैं, वे स्वय को किसी मत विशेष का स्रष्टा होने योग्य भी नही स्वीकार करते। वे जीवन के प्रति इतने सजग रहे हैं कि प्रतिदिन की घटित होने वाली घटनाओ का प्रभाव उन पर पडे बिना नही रहा।

चिरन्तन मे समय की निरन्तरता का बोध होता है। जीवन के वे प्रश्न जो प्रतिदिन की घटनाओ से सबध रखते है, वे ही चिरन्तन कहे जा सकते है। जैनेन्द्र के साहित्य की विशिष्टता चिरन्तन प्रश्नो के मूल मे समाविष्ट सत्य की खोज करने मे ही दृष्टिगत होती है। सामाजिक, ऐहिक, राजनीतिक आदि प्रश्नो के ऊपरी आकार-प्रकार मे ही वे सन्तुष्ट नही होते और न ही उसमे सुधार की आवश्यकता समझते है। उनकी दृष्टि मे यदि व्यक्ति से जीवन के स्रोत की पकड हो जाय तो वाह्य जीवन की समस्त विषमताए स्वत ही दूर हो जायेगी। अतएव उन्होने आधार पर दृष्टि डाली है, आदर्श पर नही। स्व-पर की समस्या जीवन की सबसे विकट तथा विशद् समस्या है। घर, परिवार से लेकर राष्ट्र के मूल मे 'स्व-पर' का द्वैत और द्वैत से उद्भूत द्वन्द्व ही प्रधानत दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के अनुसार द्वैत की स्थिति जगत की सार्थकता के लिए अनिवार्य और स्वाभाविक है, किन्तु द्वैत अन्तिम सत्य नही है, अन्तिम सत्य अद्वैत की प्राप्ति के हेतु स्व अथवा पर को मूलत मिटाना अथवा अस्तित्व को ही समाप्त करना नही है, वरन् स्व का आदर्श पर के सम्मुख समर्पित होना है। स्व-पर की परम्परा द्वारा जीवन की बडी-से बडी समस्याए सहज ही समाप्त हो सकती हैं।

जैनेन्द्र आत्मपरक आस्तिक साहित्यकार और जीवन-द्रष्टा हैं। उनके जीवन का सत्य आत्मोपलब्धि अथवा आत्मोन्मुखता मे ही प्राप्य है। प्रेमचन्द का साहित्य उनकी वस्तुनिष्ठ प्रकृति का परिचायक है। वे समाज की समस्याओ से घिरे थे। व्यक्ति की आत्मा उनके साहित्य मे इतनी मुखरित नही हो सकी थी, जितनी कालान्तर मे जैनेन्द्र के साहित्य मे हुई है। जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन जिन मान्यताओ पर आधारित है, वे स्वत ही उन्हे आत्मोपलब्धि की ओर उन्मुख करती हैं।

'अह विसर्जन' मे आत्म समर्पण की भावना विद्यमान है बिना आत्म-समर्पण के आत्मोपलब्धि असम्भव है। जैनेन्द्र समस्त चराचर जगत को विनत भाव से समर्पित होते हुए ही पाते है। 'स्व' का 'पर' मे समाहित हो जाना अथवा 'पर' को 'स्व' मे मिला देना ही उनके विचारो का मूल सूत्र है। 'मै कुछ नही हू, जो कुछ है सब वही है, ऐसी भावना व्यक्ति को ससार के माया प्रपच से दूर कर आत्मोन्मुख बना देती है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि व्यक्ति के मन मे यह भाव उत्पन्न हो जाए कि प्रकृति का समस्त वैभव उसके हितार्थ है, सब उसके आधीन है तो उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। प्रगति का मूल अपूर्णता के बोध मे ही निहित है। 'मै कुछ नही हू' इस सत्य का बोध होने पर ही व्यक्ति पूर्णता के लिए प्रयत्नशील होता है। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होने की स्थिति ही पूर्णता की सूचक है। किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि जीवन सतत् यात्रा है।[1] व्यक्ति का सम्बन्ध यात्रा से होना चाहिए, मजिल से नही। मार्ग के कष्टो को सहता हुआ व्यक्ति निरन्तर आत्मोन्मुखी होता जाता है। अन्तर्तम मे ईश्वर के सिवा कोई नही है। जैनेन्द्र के अनुसार "अह एक है, उसके भी मर्म मूल मे शायद है सब। अखिल मे से यदि अह बिन्दु बन उठा है तो उसकी यथार्थता और सत्यता मे उतरते उतरते क्या हमे उस निखिल मे ही पहुच जाना नही मिलेगा ?" जैनेन्द्र की आत्मनिष्ठा मे परम अन्तरग परमेश्वर की प्राप्ति का बोध होता है, उसमे अचेतन, अवचेतन आदि की ग्रन्थि नही होती। जैनेन्द्र सत्य की प्राप्ति के हेतु शब्दो मे नही भटकते। उनके अनुसार शब्द बीच के पडाव है, उनमे ही भटक जाना लक्ष्य का निषेध करना है।

जैनेन्द्र आत्मनिष्ठ होकर वस्तु जगत् की उपेक्षा नही करते। जिस प्रकार उनकी समष्टि को ग्रहण करने की भावना स्वत ही व्यष्टि को स्वीकृति प्रदान कर देती है। उसी प्रकार आत्मनिष्ठा मे वस्तुनिष्ठा अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। वस्तु-जगत की अनेकता आत्मोन्मुखी होकर एकता की ओर उन्मुख होती है। इन्द्रिया ही वह कडी है जो आत्मता को वस्तुता से जोड़ने मे सक्षम होती है। वस्तु जगत की उपेक्षा मे जीवन की कल्पना ही असम्भव हो जाती है। वस्तुतः जैनेन्द्र की आत्मोन्मुखता एक ओर ईश्वर की प्राप्ति मे सहायक है, दूसरी ओर वस्तुजगत के भेद-भाव को दूर कर अभेदत्व अथवा अद्वैतता की ओर उन्मुख करती है। अखण्डता की प्राप्ति ही जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का परम लक्ष्य है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', प्र० स०, दिल्ली, १९५६, पृ० १४-१५।

आत्मनिष्ठा ही अधिक है

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे आत्मनिष्ठा स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। उनके पात्र अपनी आत्मा मे ही सत्यान्वेषण का प्रयास करते हैं। पीडा ही वह रस है, जिसमे उन्हे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे बाह्य सघर्ष की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व ही प्रधान है। 'सुखदा', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' के नारी पात्र आत्मव्यथा से ही पीडित है। जैनेन्द्र की कहानियो मे 'एकरात', 'गवार पानवाला', 'रुकिया बुढिया,' 'अधे का भेद,' 'दृष्टिदोष', 'जाह्नवी', 'रानी महामाया' आदि अधिकाश कहानियो मे एक अन्तर्व्यथा विद्यमान है जो अपनी चरम सीमा मे शून्यवत् हो जाती है। उस अवस्था मे व्यक्ति को अपनी आत्मा के मर्मातिमर्म मे प्रवेश कर अतिन्द्रियता का बोध होता है। स्त्री-पुरुष के सम्मिलन मे भोग से योग की ओर गति होती है। योगावस्था मे द्वन्द्व और द्वैत से मुक्त होकर व्यक्ति एकाग्र हो उठता है। जैनेन्द्र की कहानियो मे अन्तरमन की रिक्तता मे सदैव प्राप्ति की प्रबल आकाक्षा विद्यमान रहती है। 'एक-रात' मे सभोग की स्थिति मे स्त्री-पुरुष पात्र इतने तन्मय हो जाते है कि वासना का अश स्वय मे निर्मूल्य सिद्ध हो जाता है। अतत उनकी योगावस्था उन्हे एक दूसरे से दूर करके भी शान्त रखती है।

जैनेन्द्र की आत्मपरक नीति स्व-रति से भिन्न है। जैनेन्द्र के आलोचको ने उनकी आत्मनिष्ठा को आत्मयोग की सज्ञा दी है और उसे वासनामूलक तथा रीतिकालीन ऐहिकता से मुक्त किया है। किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे सयोग स्वय मे अन्तिम स्थिति नही है। शरीर मे भटक जाना सत्य का निषेध करना है। वे इन्द्रिय सोपान द्वारा प्राप्त होने वाली आत्मोन्मुखता तथा परमतत्व की एकाग्रता को ही जीवन का प्रधान लक्ष्य मानते है।

जैनेन्द्र का साहित्य युगविशेष से बधा हुआ नही है। बुद्धि व्यक्ति को काल और खण्ड की सीमा मे आबद्ध करके ही उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है, किन्तु श्रद्धा खण्ड मे ही सीमित न रहकर अखण्डता की ओर उन्मुख होती है। काल की गति अनन्त तथा अपरिमेय है, वह अविभाज्य है। जैनेन्द्र के अनुसार हम अपनी सुविधा के लिए काल का विभाजन करते हैं और उसे घटा, दिन और साल आदि मे विभाजित कर देते हैं। किन्तु सत्य यह है कि काल की अनन्त धारा मे भूत, वर्तमान और भविष्य स्पष्ट ही समाहित हो जाते है। यदि भूत वर्तमान से पृथक् है तो इतिहास का स्वय मे कोई महत्व ही नही रह जाता। युग-युगान्तर से सग्रहीत मानव-आधार विचार ही सस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं।

व्यक्ति-चेतना और काल-खण्ड के ऊपर उठने की चेष्टा

जैनेन्द्र के साहित्य द्वारा कालखण्ड और व्यक्ति चेतना से ऊपर उठने की चेष्टा है। वर्तमान मे बधा हुआ व्यक्ति शाश्वत सत्य के सम्बन्ध मे कोई निष्पक्ष निर्णय नहीं दे पाता। अतएव जैनेन्द्र के अनुसार साहित्य सम-सामयिकता के प्रति सापेक्ष दृष्टिकोण रखते हुए समयाधीन नही होना चाहिए। उसका आदर्श समयोत्तीर्ण होकर ही युग सत्य बन सकता है।[१] गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' चार सौ वर्षो के बाद आज भी अपनी समयोत्तीर्णता के कारण उसी प्रकार ग्राह्य है, जैसे कि तुलसी के युग मे था। शाश्वत सत्य को चिरस्थायी रखने के लिए उसे काल-खण्ड मे सीमित नही रखना होगा।

जैनेन्द्र का जीवन-आदर्श उत्तरोत्तर अखण्डता की ओर उन्मुख होता है। आत्मोपलब्धि मे व्यक्ति, व्यक्त जगत के बन्धन से मुक्त हो परम अतरग से साक्षात्कार करता है। जीवन यदि वर्तमान से सम्बद्ध होता तो काल की अखण्डता स्वय मे ही निःशेष हो जाती। जैनेन्द्र ने कालखण्ड से ऊपर उठने की चेष्टा की है। आधुनिकता अथवा नवीनता की छाप लगाने के लोभ मे वे स्वय को किसी युग-विशेष के घेरे मे आबद्ध करके नही चलते। आधुनिक और नवीन कहलाने के लोभ मे आज साहित्य के क्षेत्र मे पुराने के उन्मूलन तथा नितान्त नवीन की स्थापना के हेतु क्रान्ति हो रही है। वरिष्ठ लेखक[२] भी जैनेन्द्र को रीतिकाल मे स्थान देकर आधुनिकता की पताका ऊची करते है। किन्तु आधुनिक से तात्पर्य यदि वर्तमान से ही है, तो वह एक दिन स्वय मे ही विनष्ट हो जायेगा। व्यक्ति अथवा साहित्य भूत को सस्कृति रूप मे स्वय मे समाहित करता हुआ भविष्य का आलिंगन करता है।[३] युग-विशेष का डका पीटने वाला साहित्य शाश्वत सत्यो की प्रतिष्ठापना नही कर सकता। जैनेन्द्र की आत्मा सदैव काल की अनन्तता मे खो जाने के लिए व्याकुल रही है। व्यष्टि को समष्टि मे समाकर शून्य मे विलीन हो जाना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। उन्होने स्वीकार किया है कि—"मैं कभी भी आधुनिक नही होना चाहता, क्योकि काल से तत्सम होना चाहता हू। काल के खण्ड को लेकर तुष्ट और मग्न नही हो जाना चाहता।[४] वे काल को भूत, वर्तमान

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', दिल्ली, १९६२, प्र०स०, पृ० ५०३।
२. कमलेश्वर 'नई कहानी की भूमिका', इलाहाबाद, १९६६, पृ०१२।
३. जैनेन्द्र के साक्षात्कार के अवसर पर।
४. जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', पृ० ९०।

श्रौर भविष्य की रेखाश्रो से विभाजित करके समझने के पक्ष मे नही है। व्यक्ति का सत्य समय से पार चलने मे ही सार्थक हो सकता है। पार का तात्पर्य यह नही है कि वर्तमान पर दृष्टि ही नही रहे। जैनेन्द्र यथार्थ जीवन की उपेक्षा मे विश्वास नही करते। उनके अनुसार धरती पर पैर रखते हुए भी दृष्टि अनन्त शून्याकाश से भी पार होनी चाहिए। उस अनन्तता की गोद मे जागतिक द्वन्द्व, भेद-भाव और अखण्डता का दोष स्वय मे ही तिरौहित हो जाता है। जैनेन्द्र ने प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियो के आदर्श को उपस्थित करते हुए 'जयवर्धन' मे जय को समय के पार देखने वाले आदर्श व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया है।[१]

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे व्यावहारिक जीवन मे उत्पन्न होने वाले वर्ग-भेद के ऊपर व्यक्ति की सत्ता स्वीकार की है। मनुष्य खण्डता मे जडित नही है। वह काल के अनन्त प्रवाह के सदृश्य अपनी जीवन यात्रा मे निरन्तर चलता जाता है, क्योकि उसका लक्ष्य स्थूल और व्यक्त के पार सूक्ष्म की खोज करना है। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियो मे वर्तमान से इतर पौराणिक कथाओ को अपनी कल्पना का पुट देकर तथा पौराणिक पात्रो को अपने आत्मिक सत्य की अभिव्यक्ति का प्रतीक बनाकर वर्णित किया है। उनकी अन्य कहानियो मे तथा उपन्यासो मे उस दिव्यता की प्राप्ति का प्रयास है, जहा पहुचकर व्यक्ति चेतना भी विलुप्त हो जाती है, केवल शून्य शेष रह जाता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धो मे भी जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ की भूमि से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण का प्रयास करते हैं। वे वर्तमान से चिपटे नही रहते, वरन् स्वपन और कल्पना-लोक मे अपने समस्त जागतिक बन्धनो से मुक्त होकर अद्वैतता की प्राप्ति मे तत्पर रहते है।

वस्तुत जैनेन्द्र साहित्य और जीवन के सम्बन्ध मे उच्चतम मान्यताओ को ही स्वीकार करते हुए चलते है। आत्मनिष्ठा और अखण्डता उनके साहित्य की आत्मा है। उन्होने सत्य की प्राप्ति मे बुद्धि से अधिक भावना और श्रद्धा को प्रश्रय दिया है। बुद्धि और विचार के लिए सामाजिक और लौकिक आदि धाराणाए सगत होती है, किन्तु जीवन का काम उनको लाघता हुआ भी चल सकता है।...वाह्य जगत् की सम्बद्धता और अपेक्षा जब

---

१ 'चेतना समय से नही चलती वरन् समय उसके पार चलता है।...हो गये जिन्होने समय के पार देखा है,... । ...काल के बीच मनुष्य को अकाल बनना है, वह क्षण की उपासना से नही, शाश्वत के ध्यान से होगा।'

—जैनेन्द्रकुमार : 'जयवर्धन', पृ० ४६।

कि अह के लिए अनिवार्य है, तब धारणात्मक विभिन्न विच्छिन्न नाना तत्व मय जगत् उतना अनिवार्य नही है। सक्षेप मे जीवन मे लौकिक सामाजिक की अपेक्षा से अखिल, अखण्ड की अपेक्षा अधिक सगत और स्वास्थ्यकर है।[१] खण्डता मे स्थूल जगत की लीला दृष्टिगत होती है, किन्तु कल्पना अथवा लोक मे व्यक्ति काल-खण्ड से ऊपर उठकर अखिल को अपना लेना चाहता है।

जैनेन्द्र के दार्शनिक विचारो पर सत खलील जिब्रान का बहुत अधिक प्रभाव पडा है। खलील जिब्रान भी काल को प्रेम की भाति अविभाज्य और असीम मानते है। उनके अनुसार कालातीत अतर्यामी को कालातीत जीवन का ज्ञान रहता है।[२]

जैनेन्द्र का साहित्य सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति का ही प्रतिफल है। सत्य दृष्टि-सापेक्ष हो सकती है, किन्तु मूलत उसकी प्रकृति निरपेक्ष है। शाश्वत सत्ता का बोध अनुभूति द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि अनन्तता और अखण्डता मे प्रवेश करने मे असमर्थ होती है। श्रद्धा विवेक सम्मत हो सकती है, जिससे कि अह श्रद्धा न हो जाये, किन्तु उसका अस्तित्व तर्क मे निर्मूल हो जाता है। जैनेन्द्र परम आस्तिक विचारक है। वे सत्य को हृदय और सबुद्धि के आधार पर ग्रहण करने का प्रयास करते है। ऐसी स्थिति मे उनका किसी मत विशेष से हेतु आग्रह नही होता। यही कारण है कि जैनेन्द्र तत्व का प्रचार नही करते और न ही अपने मत की पुष्टि के लिए युक्तियो का व्यूह ही रचते है। जैन धर्मावलम्बी होने के कारण स्यादवाद से बहुत अधिक प्रभावित है। आइन्स-टाइन की रिलेटिविटी का सिद्धात भी स्यादवाद का समानार्थी है। जैन धर्म मे किसी भी मत का खण्डन नही किया जाता। प्रत्येक विचार दृष्टि सापेक्ष और समय सापेक्ष होने के कारण सत्य हो सकता है, किन्तु उसे ही सार्वभौम सत्य के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। जैनेन्द्र भी अपनी अहिसक नीति के कारण प्रत्येक मत का आदर करते है और अपने विचारो का किसी पर आरोपण नही करते। राजनीति, धर्म, समाज, दर्शन, मनोविज्ञान आदि सभी क्षेत्र मे वे नितान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते है। राजनीति मे समाजवाद, पूजीवाद, साम्यवाद आदि विभिन्न मतवाद प्रचलित है, जो कि स्वय मे अपूर्ण है। जीवन अखण्ड इकाई है। जीवन की अखण्डता से असयुक्त होकर कोई भी सिद्धात सत्य का साक्षात्कार कराने मे असमर्थ सिद्ध होता है। जैनेन्द्र

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', दिल्ली, प्र० स०, पृ० ५७५।

२ खलील जिब्रान · 'जीवन-दर्शन (अनु० सत्यकाम विद्यालकार) 'दि प्रोफेट' दिल्ली (सशोधित सस्करण १६५८), पृ०स०६६।

जगत की समस्त व्याप्ति को जीवन से आत्मसात् करके स्वीकार करते है। वस्तु और वाद बाहर की चीजे है, किन्तु जीवन का सत्य आत्मोपलब्धि मे ही प्राप्य है। अतएव जैनेन्द्र के साहित्य मे बाह्य निष्ठा अथवा प्रचार का प्रश्न ही नही उठता। जहा व्यक्ति की आत्मता प्रधान है वहा पारस्परिक भेद-भाव स्वत. ही निराधार सिद्ध हो जाते है।

तत्त्व-दर्शन के प्रचार मे भारत के ही नही, विदेशो मे भी बडे-बडे दर्शनशास्त्र और मतवाद खडे हो गये है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि ईश्वर है या नही, उसका क्या स्वरूप है, इस सम्बन्ध मे वे तर्क का सहारा लेकर कोई निश्चित निर्णय नही देते। ईश्वर के सम्बन्ध मे वे परम जिज्ञासु के सदृश्य अनुमान ही लगाते है। उसके सम्बन्ध मे कोई निरपेक्ष मत प्रस्तुत करके उसे ही सर्वोपरि नही मानना चाहते। जैनेन्द्र ने कहानी की रचना-दृष्टि-प्राप्त करने के हेतु ही की है, दृष्टिदान के हेतु नही की है।

वे तत्व प्रचारक नहीं एवं युक्तियों का व्यूह नहीं रचते

आधुनिक साहित्यकारो मे अधिकाशत प्रचार की भावना विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। वे नवीनता की छाप लगाकर अपने नाम से किसी नए वाद सिद्धातादि का प्रचार करना चाहते है। प्रचार की कामना से ही वे प्राचीन आदर्शों की उपेक्षा मे जुटे हुए हैं। किन्तु जैनेन्द्र की साहित्य-रचना प्रतिक्रियात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक न होकर नितान्त सहज और आत्मोपलब्धि के रूप मे ही हुई है। प्रचारक को नाना प्रकार की युक्तियो के व्यूह रचकर अपने पक्ष को प्रमाणित करना पडता है, किन्तु जैनेन्द्र ने अपने मत की सत्यता को सिद्ध करने के लिए युक्तियो का जाल नही बिछाया है। वे सामान्य रूप से अपनी बाते कहकर फिर उनकी प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे चिन्तित नही होते। जैनेन्द्र की रचनाशीलता की अपरिग्रहिता भी उनके व्यक्तित्व की सहजता का स्पष्ट प्रमाण है। यदि उनमे यश की आकाक्षा होती तो स्वेच्छा से सदैव रचना करते रहते। सत्यता यह है कि अधिकाश कहानियो और उपन्यासो की रचना उन्होने ऊपरी दबाव के कारण की।

जैनेन्द्र जीवन द्रष्टा है। द्रष्टा ज्ञाता से अधिक है। जानकर जो ज्ञानी बनते है वे व्यावहारिक जीवन मे असफल रह जाते है, किन्तु जीवन को देखकर और उसके सत्यो मे प्रवेश करके नवीन दृष्टि प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सत्य का सच्चा बोधक और निर्णायक हो सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे बौद्धिक प्रगल्भता के साथ-साथ हृदयगत प्रसादिकता भी दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र द्वारा रचित विचार-प्रधान निबन्धो मे उनका चिन्तनशील व्यक्तितत्व सहज ही

अभिव्यक्ति प्राप्त करता है । 'जैनेन्द्र के विचार' मे सग्रहीत निबन्ध जैनेन्द्र की बौद्धिकता का अत्यन्त व्यावहारिक और सरस रूप व्यक्त करते है। जैनेन्द्र के चिन्तन और अभिव्यक्ति की सबसे बडी विशेषता है कि वे कठिन-से-कठिन विषय को भी जीवन की घटनाओ से आत्मसात् करके इतने सरल रूप मे अभिव्यक्त करते है कि सत्य का स्वरूप प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत हो जाता है । पाठक को उनकी सहजता पर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है । दूर-पास, निरावाद, मानव का सत्य, उपयोगितावाद, जरूरी भेदाभेद आदि निबन्धो मे उनका वैचारिक पक्ष जीव तत्त्व-दर्शन का विश्लेषण करता है। किन्तु तत्त्व-दर्शन जैसा निराकार विषय यदि कोरे शब्दजाल और युक्तियो के आधार पर प्रस्तुत किया जाय तो उसे ग्रहण कर बुद्धि को कसरत करनी पडेगी और विचार का सार-तत्व हृदय तक उतरते-उतरते शुष्क होकर समाप्त हो जायगा। अतएव जैनेन्द्र ने बुद्धि को विचार-तत्व के स्तर तक ही स्वीकार किया है। विचार से अधिक जहा बुद्धि द्वारा तत्वो का प्रचार होने लगता है और हृदयगत आस्था समाप्त हो जाती है, वहा वे बुद्धि को उसे स्वीकार नही करते। उन्होने विचार के द्वारा भाव को स्थिरता प्रदान की है, क्योकि कोरी भावना मे टिकने की सामर्थ्य नही होती ।

बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ हृदय की प्रासादिकता

जैनेन्द्र के साहित्य मे हृदय की प्रासादिकता इतने व्यापक रूप मे व्यक्त हुई है कि दर्शन की गम्भीरता भी उसमे सरस हो उठती है । उनकी कहानियो मे यह भाव रमणीयता स्पष्टत दृष्टिगत होती है। पात्रो के विचार मानो हृदय तल की गहराई से आर्द्र होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करते है। उनकी कुछ कहानियो मे इतनी सरसता है कि उन्हे पढते-पढते एक अप्रतिम आनन्द की अनुभूति होती है । 'लाल सरोवर', 'रानी महामाया', 'राजीव और भाभी', 'दो चिडिया', 'नादिरा' आदि कहानियो मे जैनेन्द्र ने व्यक्ति के अन्तरतम मे प्रवेश कर अन्तस् की कोमल भावनाओ को बडी सहजता से अभिव्यक्त किया है। कही-कही तो भावावेश इतना बढ जाता है कि पाठक का हृदय कचोट कर रह जाता है। जैनेन्द्र की 'फोटोग्राफी' कहानी इस दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली है । भाव की सात्विकता मन को झकझोर देती है। वात्सल्य और स्नेहयुक्त ऐसी पवित्र अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। छोटी-सी घटना हृद्तन्त्री के तार झकझोर देती है ।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे स्त्री-पुरुष आकर्षण तथा परस्पर समर्पण भाव मे स्त्री पात्र बहुत अधिक विनत हो जाते है। 'रानी महामाया'

प्रेम मे अपना स्वत्व मिटा देने के लिए स्वय को नाना प्रकार की यातनाए देती है । वह अपनी हार्दिकता के सहारे ही प्रिय का साक्षात्कार करना चाहती है ।

• 'परख' के प्रारम्भिक अशो मे कट्टो और मास्टर साहब के मध्य होने वाला वार्तालाप बहुत आकर्षक प्रतीत होता है । जैनेन्द्र के साहित्य मे अनेको स्थल भरे पडे है, जिनमे वे निरे श्रद्धालु और प्रेमी रूप मे ही व्यक्त होते हैं । बुद्धि की उष्मा तनिक भी नही पहुच पाती ।

मानवता के शाश्वत प्रश्नो पर विचार

जैनेन्द्र ने मानव जीवन के शाश्वत प्रश्नो पर विशद् विवेचन किया है । ईश्वर, जीव, मृत्यु, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि विषयो पर उन्होने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए है, जो किसी भी दार्शनिक मतवाद मे बधे नही है । उनके अनुसार दार्शनिक वही है, जो जीवनद्रष्टा है । जीवनद्रष्टा जीवन और जगत् की उपेक्षा करके नितात एकाकी बन जगल मे नही भटकता वरन् जीवन की घटनाओ और द्वन्द्वो मे सत्य का अन्वेषण करता है । जैनेन्द्र ईश्वरवादी विचारक है । उनके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है । उसकी सत्ता को नकारा नही जा सकता । क्योकि तर्क की गति वही सम्भव है, जहा व्यक्ति की पहुँच है, किन्तु जो विषय बुद्धि की पहुच के बाहर है उसे तर्क द्वारा भी नही सिद्ध किया जा सकता । जैनेन्द्र के अनुसार मनुष्य की शक्ति अपूर्ण है । वह अपनी अपूर्णता से पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार नही कर सकता । अतएव ईश्वर के अस्तित्व को उन्होने श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ही स्वीकार किया है ।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे पग-पग पर उनकी वास्तविकता दृष्टिगत होती है । उनकी अतिशय भाग्यवादिता ईश्वरीय श्रद्धा का ही परिणाम है । जैनेन्द्र के साहित्य मे ईश्वर-भक्ति, पूजा, कर्मकाण्ड आदि के व्यक्त रूप मे दृष्टिगत नही होती, वरन् उनकी आस्था पात्रो के हृदय मे अन्तर्निष्ठ है । उनका हृदयगत प्रेम, त्याग, सेवा, समर्पण भाव ईश्वरीय भक्ति का ही द्योतक है । ईश्वर ही अप्रत्यक्ष रूप मे समस्त सृष्टि का सचालक है । 'सुखदा' मे उन्होने ईश्वर को सूत्रधार के रूप मे स्वीकार किया है ।[१]

ईश्वर को जानने के लिए उनके पात्रो मे अतीव अविकलता है । 'व्यर्थ प्रयत्न' मे ईश्वर के समक्ष समर्पित होने के लिए व्यक्ति का अह छटपटाता

---

१. जैनेन्द्र कुमार 'सुखदा', प्र० स०, दिल्ली, १६५२, पृ० १८ ।

रहता है। भौतिकता मे शान्ति नही। क्योकि ससार नश्वर है। अतएव जैनेन्द्र एकमात्र ईश्वर को ही सत्य रूप मे स्वीकार करते है। यही जैनेन्द्र की आत्मा का सत्य है। 'सब नही के पीछे एक है और वह है ईश्वर।'[१]

जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही परिमित न होकर देश, समाज, धर्म और राष्ट्र के सन्दर्भ मे भी फलित होती है। यही उनके विचारो की मौलिकता है। अर्थ का परमार्थीकरण राजनीति मे मानवतावादी दृष्टिकोण तथा अह विसर्जन की भावना उनकी आस्तिकता के ही प्रतीक है।

जैनेन्द्र अज्ञेयवादियो के सदृश्य ईश्वर को रहस्यमय रूप मे ही स्वीकार करते है, उनके बारे मे कोई निश्चित स्वरूप नही प्रस्तुत करते। सृष्टि की अखण्डता मे एकमात्र परब्रह्म का रूप ही परिलक्षित होता है। आत्मोन्मुख होकर ही अखण्डता की उपलब्धि हो सकती है।[२]

जैनेन्द्र की धर्म सम्बन्धी धारणा बहुत ही स्पष्ट है। सामान्यत धर्म के स्वरूप को लोग सम्प्रदाय मे आबद्ध करके उसकी आत्मता की अवहेलना करते है। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का व्यापक रूप व्यक्ति की सहनशीलता मे प्रतिनिष्ठित है। जीवन मे कष्टो को सहते हुए उत्तरोत्तर कर्तव्य मार्ग की ओर बढते जाना ही व्यक्ति का धर्म है। व्यक्ति का धर्म ही सात्विक धर्मभाव का भी बोधक है। जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास और कहानियो मे धर्म-भावना व्यापक रूप से छायी हुई है। उनके पात्र अपनी पीडा मे ही जीते है। मृणाल समाज से तिरस्कृत होकर अधिक-से-अधिक कष्ट सहने मे तथा 'अधे का भेद' कहानी मे अधे की स्त्री अर्थोपार्जन के लिए तन बेचने को भी अधर्म नही समझती। वस्तुत जैनेन्द्र की धर्म सम्बन्धी धारणा सकीर्णता की परिचायक न होकर दृष्टि की व्यापकता की सूचक है।

जैनेन्द्र आत्मा को परमात्मा का ही अश मानते है। 'आत्मा अपने परम रूप मे परमात्मा है।'[३] आत्मा विकासशील है। आत्मता मे व्यक्ति-भेद नही

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'व्यर्थ प्रयत्न' (कहानी)

२. जैनेन्द्र ने इस ब्रह्म को विश्वास और उपासना का विषयमात्र न रहने देकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप मे इसकी वैयक्तिक और अकाट्य व्याख्या की है, जो उनकी सबसे बड़ी देन है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० १६।

(उपोद्घात मे—वीरेन्द्रकुमार गुप्त)

३ जैनेन्द्र कुमार . 'समय और हम', पृ० ५३।

होता, किन्तु अहन्ता भेद-भाव मूलक है। आत्मता आन्तरिक चेतना है, किन्तु उसे सक्रिय होने के लिए अहन्ता का आश्रय लेना पडता है और अहन्ता भी आत्मा के अवलम्ब पर स्थिर है। जैनेन्द्र ने अहन्ता और आत्मता को एक-दूसरे की सापेक्षता मे स्वीकार किया है। उनके अनुसार आत्मता ही सत्य और स्वीकार्य है। आत्मोपलब्धि मे स्वचेतना ही प्रधान नही होती। वरन् 'स्व' मे 'पर' मे उन्मुखता की प्रेरणा विद्यमान होती है। 'स्व' को हम 'पर' मे ही प्राप्त कर सकते है। 'अपने को पा जाना, सब को पा जाना है।······ इसलिए आत्मोपलब्धि कोई वैयक्तिक आदर्शमात्र नही है, वह एक ही साथ सामाजिक और समष्टिपरक है।'[१]

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य मे आत्मा का स्वरूप अखण्ड अथवा समग्र रूप मे स्वीकार किया गया है। उन्होने अहता और आत्मता का लौकिक व नैतिक अर्थ न ग्रहण करके उसे वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट किया है। जैनेन्द्र के अनुसार अहन्ता अर्थात अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अश का समग्र व्यक्तित्व।[२] व्यक्ति अपने-अपने अहबोध से समग्रबोध की ओर उन्मुख होता है। जैनेन्द्र की आत्मपरक नीति इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

अह सदैव कर्मरत है। भाग्य व्यक्ति की कर्म-तत्परता मे बाधक नही होता। भाग्य व्यक्ति के कर्मो का निर्णायक है। व्यक्ति होनहार के हाथ मे है। भारतीय दर्शन मे कर्मानुसार पुनर्जन्म हो जाता है। जैनेन्द्र की कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा परम्परागत भारतीय दार्शनिको से भिन्न है। उनके अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा परमात्मा मे समाविष्ट हो जाती है, किन्तु यह आवश्यक नही कि वही आत्मा अपने पूर्व कर्मो को साथ लेकर शरीर धारण करती है। मृत्यु के बाद कर्म, क्षितिज मे उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस प्रकार बूद समुद्र मे मिलकर अस्तित्वहीन हो जाती है। इस दृष्टि से कर्म का कोई महत्व नही रहता और जन्म जन्मान्तर तक शुभ कर्मो द्वारा उत्तरोत्तर मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न भी निर्मूल्य हो जाता है। जैनेन्द्र कर्म के सम्बन्ध मे यह स्वीकार करते है कि व्यक्ति के कर्म अन्तरिक्ष मे समाहित होकर व्यक्ति के न रहकर समष्टि के भी हो जाते है। इस प्रकार अपने कर्मों के लिए स्वय ही उत्तरदायी नही होता, वरन् उसे समष्टि के प्रति भी उत्तरदायी होना पडता है। इसलिए उसे अपने पाप-पुण्य के प्रति अधिक सतर्क रहना पडता है।

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ६१।

२. जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० २० (उपोद्घात—वीरेन्द्रकुमार गुप्त)

जैनेन्द्र ने अपने कथासाहित्य मे पुनर्जन्म को अनिवार्यरूप से स्वीकार किया है। उन्होने उपन्यास और कहानियो मे पुनर्जन्म पर तात्विकरूप से विवेचन तो नही किया है, किन्तु मृत्यु के बाद जीवन के द्वार को बन्द नही मानते। उनके अनुसार जन्म-मृत्यु का क्रम सतत् चलता रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर जन्म की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि अमुक नाम का विशिष्ट व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मो के सहित पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैनेन्द्र की पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा परम्परागत भारतीय दार्शनिको से भिन्न है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि यद्यपि अन्य मान्यताए भी स्वीकार्य हो सकती है, किन्तु वे भी व्यक्तिगत अभिमत मात्र ही है, उन्हे परम सत्य के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। जैनेन्द्र अपनी पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता को तर्क और द्रष्टान्त के द्वारा पुष्ट करने का प्रयास करते है। उन्होने पुरुषार्थ को बीच की स्थिति माना है। जन्म और कर्म के मध्य व्यक्ति की सक्रियता ही पुरुषार्थ है किन्तु पुरुषार्थी के लिए भाग्य का सहारा अथवा ईश्वर के प्रति विश्वास होना आवश्यक है, क्योकि कोरा पुरुषार्थ निराशा के क्षणो मे पुन शक्ति प्राप्त करने की क्षमता नही देता, जब कि श्रद्धालु व्यक्ति पुरुषार्थ की असफलता को भाग्य का परिणाम मानकर असन्तुष्ट नही होता। जैनेन्द्र की भाग्य सम्बन्धी विचारधारा आस्तिकता मे मडित है।

निष्कर्ष

जैनेन्द्र के साहित्य का पूर्णरूपेण अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका साहित्य स्वानुभव की भूमिका पर आधारित है। हृदयगत अतिशय वेदना ही साहित्यरूप मे अभिव्यक्त हुई है। वे स्वेच्छा से लेखक या उपन्यासकार नही हुए। परिस्थितिगत विवशता ही उनके लेखन की प्रेरक बनी। अतएव उन्होने आस-पास के जीवन को ही अपनी अनुभूति का पुट देकर चित्रित किया है। उन्होने जीवन के शाश्वत प्रश्नो का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्रदान किया है। चिरन्तन प्रश्नो के मध्य उन्होने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से प्रवेश किया है। उनकी बौद्धिक सूक्ष्मता व्यक्तिगत चिन्तनशीलता का ही परिणाम है। उन्होने कभी भी ज्ञानवर्धन के हेतु शास्त्रीय-पुस्तको का अध्ययन नही किया। उनकी गहन चिन्तन मे अभिरुचि नही थी। जीवन मे घटित घटनाओ मे उन्होने तत्व दर्शन की झलक प्राप्त की है। धर्म, समाज, मनोविज्ञान आदि किसी भी विषय का उन्होने अपनी सबुद्धि के द्वारा विवेचन किया है। सत्य को जीवन से आत्मसात् करके देखने के कारण उन्हे जीवन से बाहर सत्यान्वेषण की आवश्यकता नही प्रतीत हुई।

वस्तुत जैनेन्द्र ने जीवन के विभिन्न पक्षो का विशद् विवेचन किया है। उनका जीवन-दर्शन किसी पक्ष-विशेष का ही पोषक नही है। उन्होने जीवन की विविधताओ के मध्य सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। ईश्वर को स्वीकार करते समय वे जीवन की सामान्य घटनाओ की उपेक्षा नही करते। क्योकि जीवन की सार्थकता तो ससार मे रहकर ही पूर्ण होती है। अतएव जैनेन्द्र ससार मे रहकर ही जीवन को ईश्वरमय बनाना चाहते है। उनकी आस्तिकता जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे स्पष्टत दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के साहित्य और दर्शन को चार खण्डो मे विभाजित करके स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—(१) ईश्वर, (२) जीव, (३) अध्यात्म, (४) राष्ट्रीय जीवन की समस्याए और बाह्य प्रभाव।

जैनेन्द्र राष्ट्रीय जीवन की विविध सम-सामयिक समस्याओ के प्रति बहुत ही सजग रहे है। समाज, देश, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता से उत्तरोत्तर वे विश्व-बन्धुत्व की भावना की ओर ही उन्मुख होते जा रहे है। धर्मनिरपेक्षता, भाषा, विदेश नीति, विग्रह, औद्योगीकरण की नीति का उन्होने विशद् विवेचन किया है। मार्क्सवाद, पूजीवाद, कम्युनिज्म, समाजवाद आदि विभिन्न वादो के सम्बन्ध मे अपने विचारो को वैचारिक निबन्धो मे प्रस्तुत किया है। 'समय और हम' उनकी ऐसी रचना है, जिसमे उन्होने देश-विदेश की विभिन्न नीतियो को भारतीय सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे विवेचित किया है। भारतीय सस्कृति और राजनीति का उनके साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पडा है। उनका सैद्धान्तिक विवेचन उनकी वैचारिक रचनाओ मे प्राप्त होता है, किन्तु उन सिद्धान्तो को उन्होने मानव जीवन के सन्दर्भ मे अपने उपन्यास और कहानियो मे दर्शाया है। 'सुखदा', 'विवर्त', 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' मे विशेष रूप से राष्ट्रीय जीवन की समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है।

जैनेन्द्र की समस्त विचारधारा के मूल मे मानव-नीति ही मुख्यरूप से विद्यमान है। मानव-हित की सापेक्षता मे ही वे किसी भी मत या आदर्श को ग्रहण कर सके है। उनके जीवनादर्श पर महात्मागाधी की अहिसात्मक नीति का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। गाधी की अहिसा-नीति मात्र जीव-अहिसा के सन्दर्भ मे ही प्रयुक्त नही हुई है, वरन् उसे व्यापक अर्थों मे जीवन के विविध परिप्रेक्ष मे प्रयुक्त किया गया है। देश-विदेश की पारस्परिक मित्रता, सौजन्य तथा एक-दूसरे के कष्ट मे होने की भावना के मूल मे भी उनकी अहिसात्मक दृष्टि ही विद्यमान है।

जैनेन्द्र पर जैन दर्शन का प्रभाव भी पूर्णत लक्षित होता है। जैन धर्म जैनेन्द्र का स्वधर्म है। अपने साहित्य मे उन्होने यत्र-तत्र इस सत्यता की ओर

ध्यान आकृष्ट भी किया है तथापि वे किसी भी धर्म और सम्प्रदाय से पूर्णत बधे नही हुए है। उनकी मान्यता सार ग्रहणी प्रतीत होती है।

परिच्छेद—२

जैनेन्द्र के ईश्वर सम्बन्धी विचार

ईश्वर के अस्तित्व का बोध

'जिसके बारे मे हम कुछ नही बता सकते, उसके बारे मे चुप रहना चाहिए।' वित्गैन्स्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विषय मे कभी भी निष्क्रिय नही रही।[1] सृष्टि की व्यापकता, व्यवस्था तथा निरन्तर जन्म-मरण के क्रम को देखते हुए मानव-मन मे सदैव यह जिज्ञासा रही है कि इस समस्त दृश्य जगत् के पीछे कोई परम सत्ता अदृश्य रूप से अवश्य कार्य कर रही है। सूर्य का प्रकाश, दिन-रात का क्रमिक आगमन एव विराट् प्रकृति ही उस परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। आस्थापरक मनीषियो ने परमसत्ता के अस्तित्व को अपनी हार्दिक श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ही स्वीकार किया है। उन्हे अपने परमेश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क का सहारा नही लेना पडा। उनकी दृष्टि मे 'ईश्वर है' और वही एकमात्र शक्ति सम्पन्न है, इस विश्वास के सम्मुख सारे तर्क और बौद्धिक वाग्जाल मिथ्यावाद का पोषण करते हुए प्रतीत होते है। विश्वासी के समक्ष ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही नही उठता। भौतिकतावादी विचारक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते है। उनकी दृष्टि मे ईश्वर इन्द्रियगोचर नही है, इसलिए ईश्वर नाम की किसी परम सत्ता का प्रश्न ही

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', दिल्ली, प्र० स०, १९६२, पृ० १४।

नही उठता। सृष्टि के समस्त क्रिया-कलापो का सिवाय प्रकृति के और कौन कारण हो सकता है।[1]

जैनेन्द्र की आस्तिकता

जैनेन्द्रजी परम आस्थावान्, विचारक और लेखक है। इनका समग्र जीवन और साहित्य ईश्वरीय आस्था और प्रेम के रग मे रगा हुआ है। उनकी आस्तिकता ही उनके साहित्य की आत्मा है, जो विषम से विषम स्थिति मे भी व्यक्ति को टूटने नही देती। अपने जीवन की विषम स्थितियो की विभिन्न खाई-खन्दको को पार करते हुए ही वह आज साहित्य के माननीय स्थल पर आसीन है। लेखक के जीवन का ही अधिकाश साहित्य मे अवतरित होता है। अपने जीवन की सत्यता को वह परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से कही-न-कही अवश्य ही रूपायित कर देता है अथवा उसकी आत्मा मे अन्तर्भूत सत्य स्वय भी यत्र-तत्र प्रकट हो उठता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्याप्त आस्था, समर्पण और निरभिमानिता तथा भाग्यवादिता के मूल मे उनकी ईश्वर परायणता की प्रत्यक्ष झलक दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र मानो एक साधक है और साहित्य उनकी साधना का प्रमुख अग है। साहित्य ही उनका भाव-विभोरता की अभिव्यक्ति का उपादान बना है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की रचना उन्होने साहित्य-जगत् मे योगदान देने की अभिलाषा से न करके स्वानुभूति की अभिव्यक्ति या ईश्वर-उपासना के रूप मे की है।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे ईश्वर को तर्क या विवाद द्वारा नही सिद्ध किया जा सकता। विवाद मे 'मै' की पुष्टि होती है, हमारी आस्तिकता की नही। आस्तिकता तो निर्विवाद तथ्य है। ईश्वर को प्राप्त करने की मानव की आकाक्षा भ्रम नही है, क्योकि अनादि काल से यह जिज्ञासा अब तक चली आ रही है। यदि ईश्वर की खोज मानव का पागलपन होती तो कभी इतनी देर तक टिक नही सकती थी। 'हा, जो आस्तिकता टूट जाती है, वह आस्तिकता ही नही।'[2]··· अह के रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। ईश्वर द्वन्द्व मे नही है, वह तो दो के बीच ऐक्य मे है अथवा 'मैं' से विसर्जन मे है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'बूंद जब समन्दर मे मिल जायगी तब सवाल ही कुछ नही रहेगा। पर यों बू द चाहे कितनी फैले, कितनी ही फूले समुद्रता उसके लिए अप्राप्य ही

---

१ डा० राधाकृष्णन 'भारतीय दर्शन', दिल्ली, १९६६, पृ० २२८ (सर्व-सिद्धात सग्रह २ ५)

२. जैनेन्द्रकुमार · 'प्रस्तुत प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० १०८।

बनी रहेगी ।[1]

ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि

ससार मे यदि कुछ नित्य, अनन्त और निर्विकार है तो वह ईश्वर अथवा ब्रह्म ही है। पाश्चात्य दार्शनिको की ब्रह्म सम्बन्धी विविध मान्यताए प्रचलित है। किन्तु सबकी दृष्टि मे परम सत्ता एक ही है अनेक नही है। धर्म, सभ्यता और सस्कृति के वैभिन्य के कारण ईश्वर के अनेक नाम और रूप है, किन्तु सब कुछ एक को सूचित करते है। चाहे उसे ईश्वर कहे या ब्रह्म, गॉड कहे या खुदा। इस्लाम धर्म अनेक देवी-देवताओ का कट्टर विरोधी है। आस्तिक विचारको के अतिरिक्त नास्तिक अनीश्वरवादी होते हुए भी यह मानते है कि एक परम सत्य अवश्य है और उस सत्य को जानने की जिज्ञासा हममे सदैव बनी रहती है। आधुनिक वैज्ञानिको मे भी किसी अदृश्य रहस्य के उद्घाटन की ही प्रबल आकाक्षा है, जिससे वे तल तक पहुच कर यह देखना चाहते है कि वहा क्या है? आस्तिक के लिए सत्य सहज स्वीकार्य है। किन्तु वैज्ञानिक उसे नकार कर भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करने की स्थिति मे ही पहुचना चाहता है, किन्तु उसकी जिज्ञासा का कही अन्त नही है। चाद तक पहुचने के प्रयास मे उसकी यही इच्छा छिपी हुई है कि देखे चाद मे क्या है?

वस्तुत दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनो ही सत्य की खोज में है। एक मे जिज्ञासा और अनुभूति है, दूसरे मे बुद्धि और तर्क द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न है। वैज्ञानिक बुद्धि और तर्क को सामने उपस्थित कर देना चाहता है, किन्तु दार्शनिक सबुद्धि द्वारा सत्य के स्वरूप और उसके अस्तित्व का अनुभव करता है। अतएव दर्शन और विज्ञान का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति होते हुए मार्ग भिन्न है। किन्तु आज समय की माग यही है कि दोनो के मार्ग की गहरी खाई पट जाये। अर्थात् उन दोनो मे एक-दूसरे को मिथ्या और निरर्थक सिद्ध करने की भावना न हो, वरन् कर्म की दृढता और उसमे विश्वास की प्रगाढता हो।

साहित्य वह भूमि है, जिस पर समस्त विभेद अथवा पार्थक्य को ऐक्य की दिशा का ऐसा निर्देश प्राप्त हो सकता है, जो व्यावहारिक जीवन के हेतु उपयुक्त हो। साहित्य जीवन की कला है। जैनेन्द्र आस्थावान दार्शनिक है। उन्होने वैज्ञानिक विवेक सम्मत बुद्धि को स्वीकार करते हुए भी परमेश्वर के सन्दर्भ मे आस्था का ही आचल पकडा है। अपनी हार्दिकता को वे किसी भी पल छोड ही नही पाते। विश्वास को छूटता हुआ देखकर सम्भवत वे अपने

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', दिल्ली, १९५३, पृ० १०९।

जीवन को ही विनष्ट होता हुआ देखते है। वास्तविकता तो यह है कि जब से उन्होने साहित्य सृजन का मार्ग अपनाया तब से आद्यन्त वे अपने साहित्य मे चरम आस्तिक और ईश्वरवादी साहित्यकार और दार्शनिक के रूप मे ही दृष्टिगत होते है।

दार्शनिक हो अथवा साहित्यकार, प्रत्येक का अपना एक विचार-पथ होता है जिस ओर वह सतत् गतिशील होता है। विचार व्यक्ति के सस्कारो के ही परिणाम समझे जा सकते है। जैनेन्द्र यद्यपि जन्म से जैनी है, तथापि भारतीय सस्कृति के विविध अग-उपागो से वे पूर्णत तटस्थ नही है। उनके विचारो पर वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि मे निहित ईश्वरीय आस्था की पूर्ण झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है। वैदिक काल मे एक परम सत्य की नाना देवी-देवता के रूप मे पूजा और अर्चना दृष्टिगत होती है। उपनिषदो मे भी ईश्वर की सर्वव्याप्ति पर प्रकाश डाला गया है। ईश्वर सर्वव्याप्त है, तथापि वह इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियगम्य नही हो पाता है। ब्रह्म की सूक्ष्मता और अदृश्यता उसके अस्तित्व का निषेध नही कर सकती। जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म के गुणो का अन्त नही है—नेति नेति इस प्रकार का विशेषण ब्रह्म की अनन्तता को ही द्योतित करता है।

जैन दर्शन

जैन दार्शनिको की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा वेद और उपनिषदो से भिन्न है। जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। तीर्थंकर ही जैनियो के सर्वज्ञ है।[1] तीर्थंकर वह है, जिसने अपने समस्त पूर्व कर्मों को नष्ट करके सासारिक बन्धनो से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे ईश्वरवादी विचारको मे ब्रह्म के सदृश्य स्थान प्राप्त करता है।[2] तीर्थंकर अन्य लोगो के लिए आदर्श के पात्र होते है। जैनियो का तीर्थंकर सिद्ध अथवा अर्हत उपनिषदीय ब्रह्म के ही समक्ष है। हा, जैनियो का ईश्वर सृष्टि का सचालक अथवा विनाशक नही है।[3]

---

१. राहुल साकृत्यायन 'दर्शन दिग्दर्शन', १९४७, इलाहाबाद, पृ०स०, ३८६, ४१०।

२ ए० एन० उपाध्याय 'दि जैन कनसेप्शन आफ डिवाईनिटी', १९६८ BETR 'A' GEZUR GESTE SGCHIGHTE INDIAN-SFESTCH RIET FUR ERICH FRAUW ALLNER Pg 390

३ वही, पृ० ३९०-३९२।

पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य दार्शनिको ने भी एक परम सत्ता को स्वीकार किया है। अन्तर यह है कि पाश्चात्य दार्शनिको ने अधिकाशत सत्य को सिद्ध करने के लिए तर्क और बुद्धि का सहारा लिया है। ब्रेडले ने 'परम सत्य' को अनुभव-गम्य रूप मे स्वीकार किया है।

आधुनिक विचारकों की आस्तिकता

आधुनिक युग के भारतीय दार्शनिको और विचारको ने भी एक सत्य की सत्ता स्वीकार की है। स्वामी विवेकानन्द, परमहस, रविन्द्रनाथ टेगौर, डा० राधाकृष्णन, गाधीजी आदि महान विभूतियो ने ईश्वर के अस्तित्व को श्रद्धा और विश्वास के आधार पर स्वीकार किया है। विभिन्न पाश्चात्य भारतीय प्राचीन तथा आधुनिक दार्शनिको के सन्दर्भ मे जैनेन्द्र आध्यात्मिकता तथा विज्ञानवाद के सधिस्थल पर खडे आस्था-परक दार्शनिक है। यद्यपि जैनेन्द्र साहित्यकार है और उन्हे परम्परागत दार्शनिक परम्परा मे विवेचित करना असगत प्रतीत होता है तथापि जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्त दार्शनिकता को समझने के लिए उपरोक्त विविध दार्शनिको का वैचारिक दृष्टिकोण जानना अनिवार्य था। दर्शन के क्षेत्र मे विवेकानन्द ने आधुनिक युग मे सर्वप्रथम भौतिक और आध्यात्मिक जगत मे सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु साहित्य-जगत् मे हमे वही प्रयत्न जैनेन्द्र द्वारा दृष्टिगत होता है। दर्शन जीवन का सैद्धान्तिक पक्ष है तो सम्भवत साहित्य उसका व्यापारिक पहलू है। साहित्य के जीवन्त पात्रो मे जीवन के सत्य अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक रूप मे घटित होते हुए दृष्टिगत होते है।

जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर है और वही सब कुछ है। शेष सब उसी के होने की प्रतीति है। समस्त मानवीय क्रियाओ तथा जडजगत का प्रेरक भी एकमात्र ईश्वर ही है। जैनेन्द्र की आस्तिकता उनके भावात्मक जीवन की आधारशिला है। उनकी रचनाओ के पात्र परम आस्तिक और भाग्यवादी है। 'समय और हम' उनकी एक विचारपूर्ण दार्शनिक कृति है। उसका प्रथम प्रश्न ही ईश्वर के अस्तित्व तथा आस्तिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैनेन्द्र की नवीनतम कृति जो अभी अप्रकाशित है, उसमे उन्होने अपने ईश्वर और तत्सबधी विचारो का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसकी पुष्टि उनके सृजनात्मक साहित्य मे सहज की उपलब्ध हो जाती है।

सृष्टि है इसलिए उसका सृष्टा भी है

जैनेन्द्र की दृष्टि मे इस विराट् सृष्टि को चलाने वाला शान्त व्यक्ति

नही है, वरन् कोई असीम सत्ता है । 'होनहार' द्वारा ईश्वर के अस्तित्व की ही पुष्टि होती है । उनकी दृष्टि मे ब्रह्माण्ड को आदमी नही चला रहा है । जगत-गति जिस नियम से चल रही है, वह निश्चय ही इस धरती नाम के ग्रह पर मनुष्य नाम का प्राणी नही है ।[१] वरन् उसका सृष्टा परमेश्वर है । जैनेन्द्रजी सृष्टि को मानने के कारण सृष्टा को भी मानते है ।[२] विराट् प्रकृति की अनन्त क्रियाओ मे सूर्योदय और सूर्यास्त नदी के सतत् प्रवाह काल की अनन्तता के मूल मे ईश्वरीय शक्ति ही विद्यमान है, जो कि समस्त प्रकृतिगत कार्यों मे एक अन्विति और सातत्य को उत्पन्न करती है ।

ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता

बुद्धिवादी विश्लेषणात्मक दृष्टि द्वारा ईश्वर को अखण्ड रूप मे स्वीकार करने मे असमर्थ होते है । तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने मे असमर्थ विचारक ईश्वर के होने मे ही सन्देह करते है । जैनेन्द्र की तो दृढ आस्था है कि यदि 'अस्ति' शब्द किसी के लिए प्रयुक्त हो सकता है तो वह एकमात्र ईश्वर है । 'है' की अनन्तता मे केवल ईश्वर ही समाया हुआ है। नेति-नेति कहकर भी उसके अस्तित्व को ही स्वीकार किया गया है । 'कल्याणी' मे नेति-नेति द्वारा सत्य से इन्कार नही, वरन् स्वीकार पर बल दिया जाता है । जैनेन्द्र के अनुसार परमतत्व के लिए नेति से सही परिभाषा दूसरी नही हो सकती । उनकी दृष्टि मे नेति मे तत्व कुछ नही है, उसमे अर्थ है तो यह अर्थ है कि मानव-भाषा अपूर्ण है । और जो ज्ञात है ज्ञातव्य सदा उससे आगे है। जो है वह नकार नही है । परमात्मा इन्कार तनिक भी नही । वह सबका सर्वथा स्वीकार है ।[३]

अनन्तर मे जैनेन्द्र के इन्ही विचारो की स्पष्टत. झलक मिलती है । उनकी दृष्टि मे ईश्वर अखण्ड ब्रह्म है तथा बुद्धि की पहुच से परे है । अत जानने के द्वारा हम उसे जान नही सकते । इसीलिए अज्ञेय और अदृश्य को जानने और शब्दो मे व्यक्त करने की चेष्टा मे व्यक्ति की अहता का आग्रह ही दृष्टिगत होता है । जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर व्यक्ति की चर्चा का विषय नही बन सकता । अस्तित्व स्वय मे प्रश्न नही होना चाहिए । प्रश्न होता है जब

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १६६६, पृ० सं० ६० ।

२ 'मैं आस्तिक हू और सृष्टि को मानने के कारण स्रष्टा को भी मानता हूं ।' --जैनेन्द्रकुमार : 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १६६६, पृ० ३६४ ।

३. जैनेन्द्रकुमार : 'कल्याणी', पृ० ६८ ।

अस्तित्व से अलग होते है और हम सब अलग ही है। अस्तित्व की जगह हम अस्मित्व है।[1] वस्तुत्व ईश्वर अखण्ड इकाई है। ईश्वर को लेकर प्रश्न तो हमारे 'मैं' भाव के कारण ही होता है, अन्यथा तो ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद ही है। मनुष्य परमेश्वर को मानकर स्वय से छुटकारा पाना चाहता है, किन्तु ईश्वर को मानने मे नाना मान्यताए फलित होती है। विविध मान्यताओ के कारण ही ईश्वर की अखण्डता पर आघात होता है। अतएव जैनेन्द्र ईश्वर सम्बन्धी मत-मान्यताओ को उचित नही समझते। उनकी दृष्टि मे ईश्वर चर्चा का विषय नही है। इसलिए इस सन्दर्भ मे उन्हे भटकना भी नही पडता। जैनेन्द्र ईश्वर को जानने के यत्न मे व्यक्ति की अहता के ही दर्शन करते है। उनकी दृष्टि मे व्यक्ति का यह सोचना कि 'मैं ईश्वर को जान सकता हू' कोरा मिथ्यावाद है। बूद भला कब सागर को जान सकती है। बूद तो केवल समुद्र मे समाकर 'अस्मि' को 'अस्ति' मे खोकर ही पा सकती है, इसी प्रकार मनुष्य ईश्वर मे खोकर ही उसका अनुभव कर सकता है। ईश्वर साक्षात्कार के लिए बाह्य दृष्टि नही, वरन अन्तर्दृष्टि अर्थात् प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। सहज ज्ञान के द्वारा ही हम उसका अनुभव कर सकते है। ईश्वर की प्राप्ति हृदय की अतल गहराई मे गोते लगाने से ही होती है। तर्कवाद द्वारा अनास्था की ही पुष्टि होती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अन्तर्दृष्टि पर बल देते हुए स्वीकार किया है कि जिस सहज ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि से हम ईश्वर को देख सकते है, वह मुझे बुद्धि से नही प्राप्त हो सकती।[2]...बुद्धि उस दैवी रहस्य की थाह नही ले सकती।[3]

जैनेन्द्र की तर्कशून्य आस्था

जैनेन्द्र ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न मे स्वय को उलझाते नही है। उनके अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व अकाट्य है, क्योकि उस परम शक्ति के अभाव मे हमारा होना असम्भव और निराधार है। वे बौद्धिक जिज्ञासा द्वारा भी एक अनन्त ब्रह्म की खोज करते है, जो उनके अत्यन्त ही निकट है। उनकी आस्था ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ की सत्यता को स्वीकार करने मे

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', दिल्ली, १९६८, प्र० स०, पृ० ८५।
२ डा० राधाकृष्णन् 'रवीन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६२, अनु० ज्ञानवती दरबार, पृ० ९३।
३ डा० राधाकृष्णन् 'रवीन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६३, पृ० ९३ (अनु० ज्ञानवती दरबार)

असमर्थ है। जैनेन्द्र ईश्वर की अनुभूति के क्षणो मे इतने विभोर हो जाते है कि उन्हे अपने अस्तित्व का भी भान नही रहता। वे सिद्ध करने का प्रयत्न नही करते कि ईश्वर है, वरन् उनका विश्वास है कि वही है।[1] उनका विश्वास है कि नदिया सब समुद्र मे गिरती है इसी तरह विश्वास सब ईश्वर मे पहुचता है। विश्वास मे हम अपने-आपको छोड दे तो ईश्वर के सिवा पहुचने के लिए हमारे पास कोई गति नही रह जाती है। यह विश्वास चरम शक्ति के प्रति होता है। यह आवश्यक नही कि उस शक्ति का रूप एक ही हो। हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख आदि धर्मों के विश्वास भिन्न है, किन्तु इससे कोई अतर नही पडता। समस्त विश्वास एक उसी चरम सत्ता मे ही समाहित होते है। अत ईश्वर के अस्तित्व के लिए विवाद उठाना निरर्थक है।

विवाद मै अथवा मेरे मत की स्वीकृति के हठ मे से ही प्रादुर्भूत होता है। किन्तु अह अथवा 'मैं' के विसर्जन मे भेद या मतवाद की स्थिति नही रह जाती। सब आत्माए उस परमात्मा की अश मात्र है। सब मे उसका ही प्रकाश व्याप्त है। जैनेन्द्र के अनुसार जब तक आदमी मे तर्क मौजूद है, तब तक ईश्वर विवाद और व्यर्थता का विषय ही बना रहने वाला है। श्रद्धा का विषय नही हो सकता।[2] ईश्वर के प्रति विश्वास रखने के कारण ही व्यक्ति के जीवन की नाना कठिनाइया सहज ही दूर हो जाती है। वह हमे कष्ट देकर केवल सचेत करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का भी यही विश्वास है। उनकी दृष्टि मे प्रेम के

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानिया'–सम्पादक शिवनन्दनप्रसाद, दिल्ली, प्र० स०, १९६६

'वह है, वह है।'
'कहा है ? कहा'
सब कही, सब कही है।
और हम ?
हम नही। वह है। पृ० ६३।

'ईश्वर की व्यक्तिगत अनुभूति के साक्षी पूर्व मे ही नही है। सुकरात और प्लेटो, प्लोटिनस और पोफिरी, आगस्टाइन और दाते तथा अन्य असख्य व्यक्ति ईश्वर के अनुभव के साक्षी है। ईश्वर का अनुभव सृष्टि के आदि से ही लोगो को होता रहा है और वह किसी देश या जाति तक सीमित नही है।'

—डा० राधाकृष्णन् . 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि', पृ० स० ५२८।

२. जैनेन्द्रकुमार : 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८५।

कारण ही परमात्मा कष्ट भेजता है। वस्तुत ईश्वर का विश्वास आदमी की बडी मदद करता है। जैनेन्द्र के पात्र अपने जीवन की विषम स्थितियो मे भी ईश्वरीय आस्था का सहारा लिए हुए जीवनयापन करते है। आस्था के रहते हुए निराशा अथवा अविश्वास की भावना आ ही नही सकती। व्यक्ति को प्रत्येक कर्म के फल मे होनहार की प्रेरणा ही दृष्टिगत होती है। 'अधे का भेद' मे अधा भिखारी, 'त्यागपत्र' की मृणाल, सुखदा आदि पात्र अपने अन्तर मे निहित विश्वास के कारण भी छूटने नही पाते। 'समय, समस्या और सिद्धान्त' मे जैनेन्द्र ने स्पष्टत स्वीकार किया है कि 'जिसके प्रति अटूट विश्वास और श्रद्धा है, उसके द्वारा निराशा, पराजय मिलने पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है। किन्तु सूक्ष्मता से देखे तो अश्रद्धा और अवज्ञा की यह घोरता विश्वास की टूटन नही है, हमारी अपेक्षाओ के टूटने की ही प्रतिक्रिया है।[१]

अद्वैत दृष्टि

जैनेन्द्र मूलत अद्वैतवादी है। ब्रह्म एक है। हर दो के बीच मे एक्य है। उनकी दृष्टि मे द्वैत टिक नही पाता। जहा द्वैत दृष्टिगोचर भी होता है, वह दो नही, वरन् एक ही परम सत्य की अभिव्यक्ति है। एक ही सत्य के दो रूप है। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार फल और रस मे कोई अन्तर नही है।[२] उसी प्रकार ईश्वर के विविध रूपो मे भी कोई पार्थक्य नही है। हमारी भाषागत सीमा ही भेद उत्पन्न कर देती है अन्यथा परम सत्य एक ही है। जैनेन्द्र की अद्वैतवादी विचार-धारा दार्शनिक क्षेत्र मे कोई नवीन देन नही है। प्राच्य तथा पाश्चात्य अधिकाश दार्शनिको मे अद्वैत तत्व की ही प्रधानता है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल (२०वी शती) तक के दार्शनिको मे यही धारा मुख्यत मान्य रही है। जैन दार्शनिक अनीश्वरवादी होते हुए भी एक ही 'परम सत्ता' (तीर्थांकर) पर विश्वास करते है। गीता मे वर्णित सर्वोपरि ब्रह्म एक निर्विकार सत्ता है।

जैनेन्द्र की अद्वैतवादी विचारधारा विशुद्ध अद्वैतवादियो की सी नही है। यद्यपि वे कही भी उपनिषदो के प्रभाव को स्वीकार नही करते, तथापि उनके साहित्य मे अन्तर्भूत भक्ति-भावना के मूल मे उपनिषदीय विचारो की झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है। सम्भवत भारतीय दर्शन के तत्व सस्कारवश यत्र-तत्र दिखाई देते है। भक्ति-भावना से पूर्ण होने के कारण उनके ईश्वर सम्बन्धी विचार पूर्ण

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित) पृ०स० १२६।

२ 'एको सत्य विप्रा बहुधा वदन्ति'
जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', १९६८, प्र० ९५।

अद्वैतवादी नही प्रतीत होते तथापि वे विश्व की अखण्डता, एक ब्रह्म की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करते है।

द्वैत सासारिक तथ्य है। ऐक्य आध्यात्मिक सत्य है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही जीवन का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र के अनुसार जीव का अस्तित्व अपने मे अधूरा है। हममे एक-दूसरे की और फिर शेष की आवश्यकता मे रहता है। इसलिए तब जीवात्मा का जो अखण्ड चिन्मय स्रोत है, ब्रह्म है, वही है। ऐसा मानकर हमारा जीवत्व खण्डित के बजाय अखण्ड होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे शकर का भी यही आशय है। भेद तो ऊपरी माया तक ही परिमित है। उसकी दृष्टि मे समस्त चेतन्य से अस्तित्व का, उस अखण्ड ब्रह्म से अभिना भाव सबध है। जैनेन्द्र के अनुसार सृष्टि मे ब्रह्म और जीव दो सत्ताए नही है। प्रतीति हमे द्वैत की होती है, किन्तु यदि निरा द्वैत ही होता तो प्रतीति तक सभव कैसे होती ? इसलिए उस अनेक रूप प्रतीति के रहते एकता का प्रत्यय अनिवार्य हो जाता है।[1]

'मै' अथवा अलगाव ही दुख का कारण है, क्योकि मेरे 'मै' भाव के रहते हुए ब्रह्म से साक्षात्कार असम्भव है। जब 'मैं' मिट जाता है, अर्थात् उसे अपनी अहता का बोध नही रहता वह 'पर' अर्थात् ईश्वर के रूप मे ही लीन रहता है, तभी सत्य की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नही, व्यावहारिक जगत मे भी द्वैत की अनन्तता सम्भव नही है। जगत की सार्थकता द्वैत पर आश्रित है, किन्तु जीवन का लक्ष्य अद्वैत की प्राप्ति होना चाहिए। जैनेन्द्र के समग्र साहित्य मे यह आदर्श स्पष्टत दृष्टिगत होता है। उनके पात्र सदैव अद्वैत की ओर प्रवृत होते हुए दृष्टिगत होते है। उनकी दृष्टि मे द्वैत द्वन्द्व का मूल है। अतएव द्वैत से पार जाकर ही व्यक्ति शान्ति और सत्य की प्राप्ति कर सकता है। द्वैत से ऊपर अद्वैत ही वह परम सत्य है, जिसे उन्होने ईश्वर रूप मे अभिव्यक्त किया है।

परम अद्वैत जीव के साथ जिस प्रकार एक है, वैसे ही एक है जड के साथ भी। ईश्वर की परम सत्ता मे द्वैत को अवकाश नही है। द्वैत का स्थान हमसे है।[2] जहा युद्ध है, दो पक्ष है वहा भी अभेद की सम्भावना है, क्योकि लडते हुए उनके बीच एक जमीन रहती है, जहा वे सधि पर आ सके।[3]

---

१. जैनेन्द्रकुमार · 'समय, समस्या और सिद्धात', पृ० ४४।
२. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४५।
३. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', (भाग १, नई व्यवस्था), १९६२, प्र० स०, दिल्ली, पृ० स० १९८।

देवी-देवता में अविश्वास

ऋग्वेदकालीन अनेक देवी-देवताओ मे जैनेन्द्र का विश्वास नही है। जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्होने सत्य के अनेकान्तिक रूप को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि मे विश्वास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के अलग-अलग देवता हो सकते है, क्योकि आज भी कोई सूर्य का उपासक है, कोई दुर्गा का तो कोई गणेश का, किन्तु सभी के मूल मे एक ही परम सत्य का प्रकाश विद्यमान है। उसी की शक्ति सब मे व्याप्त है। हमारी भावना विभिन्नता की कल्पना करती है, किन्तु यथार्थ मे एकता ही सत्य है। ज्यो-ज्यो मानव-बोध विकसित होता गया, त्यो-त्यो विभेद को मिटाकर एक परम सत्य की कल्पना जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होने लगी। यही कारण है कि वैदिककालीन अनेक देवी-देवता उपनिषद् और भागवत् काल के एक परब्रह्म के रूप मे ही स्वीकृत हो जाते है। जैनेन्द्र ईश्वर के सम्बन्ध मे विभेद को निरपेक्ष रूप से नही स्वीकार कर सकते। 'नई व्यवस्था' मे उन्होने पूर्व की परम्परा और पश्चिम की परम्परा द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध मे व्यक्ति की दूरी को ही व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि मे एक मत दूसरे मत से ऊपर उठने और अपनी सत्यता को प्रमाणित करने मे अधिकाधिक गौरवान्वित हो जाता है। एक ईश्वर को सत्य मानने से सारे विश्वास उसी मे समाकर ऐक्य की प्रतिष्ठा करते है किन्तु अनेक देवी-देवताओ को मानते हुए उन्ही पर भटक जाने मे दृष्टि की सकीर्णता और मतवाद को ही प्रश्रय मिलता है, हृदयगत श्रद्धा और व्यापक दृष्टि विलुप्त हो जाती है।[1]

ईश्वर : स्वयंभू

प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर एक है वह एक परम सत्य है तो उस सत्य का क्या स्वरूप है? क्या वह व्यक्ति द्वारा ग्राह्य हो सकता है। यदि वह निराकार अमूर्त और अनन्त है तो वह सान्त व्यक्ति द्वारा स्वीकार हो पाता है? क्या ईश्वर की उत्पति हुई है अथवा वह स्वयभू है? आदि अनेको प्रश्न जैनेन्द्र के साहित्य मे समाधान ढूढने के हेतु उठ खडे होते है।

ईश्वर उत्पन्न नही हुआ। वह सृष्टि का आदि मूल कारण है, स्वयभू है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी निश्चित है। जन्म और मरण का क्रम अनिवार्य रूप से चलता है। किन्तु ईश्वर न जन्मता है, न मरता है। वह परम आत्मा है। 'गीता' मे भी स्वीकार किया गया है कि वह कभी नही जन्मा और न वह मृत्यु को प्राप्त होता है और चूकि उसका आदि नहीं, इसलिए अत

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'नई व्यवस्था' (जैनेन्द्र की कहानियां, भाग १), पृ० १७३।

भी नही है ।[1] जैनेन्द्र भी ईश्वर को स्वयभू मानते है । उनकी दृष्टि मे 'ईश्वर' शब्द की ध्वनि मे ही है कि वह पैदा नही होता, फिर किसी से पैदा होने का प्रश्न ही नही उठता । वह केवल है । इस तरह वह अनादि अथवा आदि कारण है, पर कारण ऐसा कि कार्य उससे बाहर हो नही सकता ।[2] सब कुछ है और उस सब की समष्टि ही ईश्वर है । ईश्वर समग्रता तथा अखण्ड मे है ।

वैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार यदि कुछ है तो उसका कारण अवश्य होगा । शून्य मे अस्तित्व की कल्पना निराधार है । इस सिद्धात के आधार पर हम ईश्वर को प्रकृति से उत्पन्न हुआ नही मान सकते । क्योकि जड-जगत् असत् है और उसका अस्तित्व भी ईश्वर के अस्तित्व के ही कारण सम्भव है । स्वय मे उसका कोई महत्व नही । अत असत् से सत् (परमेश्वर) की उत्पति की कल्पना नही की जा सकती ।[3]

ईश्वर को कार्य भी नही माना जा सकता, क्योकि कार्य होने मे उसमे परम तत्व का अभाव हो जायेगा । वह तो आदि है, उसके पूर्व कुछ भी नही है । कार्य-कारण के चक्कर मे अनवस्था दोप की सभावना रहती है अर्थात् किसी वस्तु के कारण की खोज अनन्त तक की जायेगी पर फिर भी उससे समाधान न होगा । अत मानना होगा कि प्रत्येक जन्मशील वस्तु की उत्पति किसी ऐसी वस्तु से होती है जो स्वय अज तथा स्रष्टा है ।

ईश्वर का स्वरूप

वस्तुत ईश्वर के अस्तित्व को जानने के अनन्तर उसके स्वरूप को जानना भी अनिवार्य है । एक ही सत्य दृष्टि-भेद के कारण नाना रूपात्मक प्रतीत होता है । अद्वैतवादी ब्रह्म अरूप है, किन्तु व्यावहारिक जगत् मे ब्रह्म को अपने समीप अनुभव करने के लिए उसे स्वरूप प्रदान करना आवश्यक है । ईश्वर रूप, आकार, मानव-हृदय की जिज्ञासा और प्यास का परिणाम है, ब्रह्म उसकी बौद्धिक जिज्ञासा का विषय है । मानव-मन आत्म समर्पण के लिए सदैव उत्सुक रहता है । मानव उसी स्थल पर अपने को समर्पित करना चाहता है, जहा उसे कुछ पाने को शेष न रह जाए, अर्थात् उसकी समस्त इच्छाए स्वय तृप्त हो जाय । ऐसा परम आश्रय-स्थल ब्रह्म का ईश्वरमय स्वरूप ही है । जैनेन्द्र ने ब्रह्म

---

१. भगवद्गीता—३, २, २० ।

२. जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम', पृ० ४३ ।

३. 'भगवद्गीता'—'ईश्वर शून्य से जगत् का निर्माण नही करता, वरन् अपने सत् स्वरूप से करता है ।'

को 'ईश्वर' रूप मे ही स्वीकार किया है।

जैनेन्द्र प्रत्येक विचार अथवा दृष्टि को सापेक्ष रूप मे ही स्वीकार करते है। व्यक्तिगत अभिमत को निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति नही मिल सकती। जैनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर का स्वरूप किसी दूसरे को छोडकर कोई एक निश्चित हो नही सकता। इसी से ईश्वर ईश्वर है। सुविधा हम सब को है कि अपने मन का स्वरूप उसको पहना ले।······उसे रूप मे बाधना हमारी ही आवश्यकता है।'[1] इस प्रकार ईश्वर अनन्त रूपात्मक हो जाता है और पुन एक ऐसी स्थिति आती है जब सब रूप उसी के हो जाते है। जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि को पृथक्-पृथक् सत्ता मानने मे प्रश्न उपास्य का नही, उपासक का है। उपासक की निष्ठा ही उपास्य को सत्यता प्रदान करती है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे यदि सम्पूर्ण समर्पण भाव है तो उपास्य सत्य हो ही जाता है। चित्र उपास्य का कृष्णरूप हो अथवा क्राइस्ट का हो अथवा अन्य किसी का भी हो—यह प्रश्न वृथा है। जो सगत है, वह मात्र उपासक की हृदयगत सत्यता है।

जैनेन्द्र के अनुसार यदि ईश्वर के विशिष्ट रूप के प्रति आस्था सहज भाव से जाग्रत होती है, तब उसमे उपासना की सत्यता पर शका की जा सकती है, किन्तु जब प्रथावश उपासना की जाती है तब वह दबाव के नीचे उपासक मे अपनी उपासना से उल्टे भाव पैदा करती है। इस प्रकार के मिथ्याचार से उपासना भी मिथ्या बन जाती है। वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे ईश्वर का स्वरूप चाहे कुछ भी हो उपासक की भावना और भक्ति ही सच्ची होनी चाहिए। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य मे पात्रो को ईश्वरीय आस्था के लिए रूप व आकार पर टिकने की आवश्यकता नही हुई है। ये प्रतिपल अपने हृदय मे ईश्वर के प्रति निष्ठा रखे हुए है। अपनी आस्तिकता को पोषित करते है। विवाद द्वारा वे भक्ति को खण्डित नही करना चाहते। ऐक्य की अनुभूति ही अन्तिम सत्य के रूप मे शेष रह जाती है। स्थूल बुद्धि द्वारा निराकार ब्रह्म को समभाग सभव नही है, अतएव भाव और श्रद्धा के सहारे ही उसे रूपाकार प्रदान करके ग्राह्य बनाया जा सकता है। भगवद्गीता मे कृष्ण का विराट् रूप अर्जुन को ग्राह्य नही हो पाता और वह कृष्ण से उनके साकार तथा सौम्य रूप को पुन देखने के लिए प्रार्थना करने लगते है।[2]

जैनेन्द्र के अनुसार उपास्य को हम निराकारता के क्षेत्र से मानो उतार कर अपने पास और प्रत्यक्ष लेने की चेष्टा किया करते है। परमेश्वर इस

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४४।

२. 'श्रीमद्भगवद्गीता' अध्याय ११, श्लोक ४५, गीताप्रेस, गोरखपुर।

प्रक्रिया मे अनायास हमारी प्रिय मे प्रिय मूर्ति का रूप ग्रहण कर लेता है । यद्यपि यह सत्य है कि परमेश्वर रूप का रूपाकार मे नही समा सकता तथापि जैनेन्द्र की दृष्टि मे भक्त की भक्ति ही यह अक्षम्य साधना कर पाती है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रिय की प्रत्यक्ष अथवा समक्ष कल्पना करके उपासक की अनुरक्ति और भी बढ जाती है। उनकी दृष्टि मे प्रेम की प्रगाढता अनायास जब उपासना करती है तो उपलब्धि अधिक सुगम और सुनिश्चित है।[१] ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैनेन्द्र का ऐसा विश्वास है कि जिसमे अन्तिम और परिपूर्ण विश्वास है वही ईश्वर है।..... जहा समर्पण सभव हो उसे ही ईश्वर रूप मे अभिहित करने मे उन्हे कोई बाधा नही है। व्यक्ति मे जो विश्वास की क्षमता और अनिवार्यता है और वही पर्याप्त प्रमाण है, विश्वसनीयता की सत्यता।[२]

ईश्वर : आनन्दस्वरूप

जैनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर आनन्दस्वरूप है।' आनन्द का तत्व न हो तो जीवन ही सभव नही है। हा, दु ख क्लेश भी उसे अनुभव होता है। इसका कारण स्वय अश मे अशता की अनुभूति है। वह अनुभूति दु.खमय इसीलिए होती है कि उसके आधार मे पूर्णता से विछोह है। फिर भी जीवन स्वय आनन्द का स्फुलिग है।[३] जैनेन्द्र की दृष्टि मे प्राकृतिक सुषमा मे भी ईश्वरीय आह्लाद के ही दर्शन होते है। उनके अनुसार—'अग अगी का पृथक् भाव जब कि वेदना का बोध देता है। तब उसके अभाव और सयोग भाव मे एक साथ प्रसाद की अनुभूति खिल उठती है। कारण, अत प्रकृति मे जीवन सच्चिदानन्द स्वरूप है। व्यष्टि समष्टि से अलग नही है। अलग की प्रतीति होते ही अपूर्णता और विकृतिया दीखने लगती है।'[४] जैनेन्द्र की उपरोक्त विचारधारा ही उनके साहित्य का मूल स्वर है। उनके साहित्य मे समाहित पीडा अथवा वेदना का प्रमुख कारण अशात प्रतीति ही है। जैनेन्द्र के अधिकाश 'मै' का बोध होते हुए समर्पण के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगत होते है। 'मै' अथवा 'स्व' को 'पर' मे विलीन करके वे एकमात्र परम सत्य अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते है। जगत मे उनका द्वैत अर्थात् ईश्वर से वियोग बना रहता है। वे पीडा मे ही आनन्द का अनुभव करते है, किन्तु उनमे सदैव ईश्वर के समक्ष

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धात', पृ० ४९।
२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धात', पृ० ४८।
३. जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धात', पृ० ४८।
४. वही।

समर्पित हो जाने की उत्कट लालसा दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के पात्रो की अहशून्यता के मूल मे उनकी ईश्वरीय आस्था के ही दर्शन होते है। इसीलिए जैनेन्द्र ईश्वर के प्रेममय रूप को ही स्वीकार करते है।

सत्य ही ईश्वर

गाधी के अनुसार 'सत्य ही ईश्वर है।'[1] सत्य निर्वयक्तिक तथा निराकार है। वह हमारी भावना का विषय नही बन सकता। यद्यपि गाधी जी का यह विश्वास अक्षरश सत्य तथा उपयोगी है कि सत्य के ऐक्य मे साम्प्रदायिक विवाद की प्रश्रम रही है। क्योकि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी एक परम सत्य को स्वीकार करते है। परम आस्तिक ही नही नास्तिक भी सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करते है। सत्य स्वय अकाट्य है। वस्तुत बिना किसी द्वन्द के समस्त मतवादो की धारा नदी के सदृश्य सत्य-सा सागर मे समाहित हो जाती है। किन्तु 'ईश्वर' को सत्य कहने पर हिन्दू धर्म का ईश्वर ही सत्य सिद्ध हो पाता है और नास्तिक तथा आस्तिक गाड और खुदा आदि की सत्यता विवादास्पद हो जाती है। यही कारण है कि गाधी जी ने सत्य को ही ईश्वर माना।[2] यद्यपि जैनेन्द्र को यह सत्य स्वीकार है, किन्तु सत्य ही ईश्वर है, ऐसा मानकर वे ईश्वर को निर्वैयक्तिक नही रहने देना चाहते। ईश्वर मानव की आवश्यकताओ का पूरक है। उसे रूप देकर रूप मे प्रतिष्ठित करके हम उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर सकते है। समर्पण के अभाव मे ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। 'स्व' का विगलन ही ईश्वर प्राप्ति का वास्तविक मार्ग है। सत्य को ईश्वर मानने मे अह का अश बना रहता है। राम का मूर्ति रूप प्रतिष्ठित स्वरूप हमे सहज ही आनन्दमय बना देता है। श्रीमद्भागवद् गीता का ब्रह्म भी ईश्वर रूप मे इसी प्रकार परिणत हो गया है। जैनेन्द्र के द्वारा ब्रह्म को ईश्वर रूप मानने तथा उसे भक्ति प्रेम आदि का विषय स्वीकार करने मे श्रीमद्भागवद् गीता का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे जैसे-जैसे उस मूर्त और सगुण मे एकात्मता पाने की चेष्टा होगी, वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त, मूर्त अमूर्त और सगुण निर्गुण बनता जायगा। साधना साधक को आकार का सहारा देकर निराकार मे उठती ही जायेगी।[3] जैनेन्द्र के अनुसार भक्त की भावना प्रियतम मे मूर्तित हो

---

१ महात्मा गाधी 'दि वायस आफ ट्रुथ', १९६८, अहमदाबाद—'ट्रुथ इज गॉड नथिंग इज नथिग एल्स'......९७।

२ महात्मा गाधी वही, पृ० ९९।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त'—(अप्रकाशित)।

जाती है। भक्त अपनी भावना के अनुकूल ही ईश्वर को रूप प्रदान करता है। तुलसी, सूर की भाव सघनता राम, कृष्ण को अनायस ईश्वर बना देती है, परन्तु यदि वे तर्क पद्धति से ऐसा करना चाहते तो सभव न होता। वस्तुत जैनेन्द्र अपने साहित्यिक क्षेत्र मे दार्शनिक होने के साथ ही साथ भक्त और ईश्वर के अनन्त उपासक भी है। भक्तिकालीन सूर, मीरा और तुलसी के सदृश्य उनका हृदय भी आत्मसमर्पण के लिए विकल होता हुआ दृष्टिगत होता है। 'साधु का हठ' कहानी दृष्टि मे साधु की अतिशय विनम्रता और अहशून्यता जैनेन्द्र के विचारो की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक विज्ञानवादी युग मे सगुण साकार ईश्वर के प्रति निष्ठा का अभाव है। बुद्धि की शुष्कता मे अह का प्राचुर्य है। सत्य की खोज मे हम अह का ही पोषण करते हे। यही कारण है कि आज आस्थाहीन समाज निरन्तर अनीश्वरवादी होता जा रहा है। जीवन मे कही भी स्थिरता नही है। सर्वत्र समस्या और उलझाव है। जैनेन्द्र के अनुसार सबका समाधान ईश्वर की प्राप्ति मे ही सम्भव है'। उपासना के द्वारा पत्थर की मूर्ति मे भी ईश्वरीय शक्ति और स्वरूप के दर्शन होते है। किन्तु मूर्ति की उपासना के लिए तत्परता अनिवार्य है। सच्ची श्रद्धा और तत्परता के अभाव मे मूर्ति-पूजा दिखावा मात्र रह जायगी। पूजा का वास्तविक प्रयोजन नही पूर्ण हो सकेगा। ऐसी स्थिति मे नास्तिक की कर्मशीलता उसे आस्तिक से अधिक उच्च श्रेणी का उपासक बना देगी।[1]

जैनेन्द्र की दृष्टि मे यदि जडमूर्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति भक्त है तथा ईश्वर के योग्य है तो यत्रो के साथ अपनी प्रयोगशाला मे सतत् रत रहने वाला वैज्ञानिक भी किसी उपासक से कम नही है। किन्तु वैज्ञानिक की उपासना मे समर्पण भाव नही जाग्रत होता। जैनेन्द्र के अनुसार यदि वैज्ञानिक मे 'स्व' सेवन की जगह समर्पण की वृत्ति मे तो वह भी आस्तिक से कम नही है। किन्तु देखा यह जाता है कि उपास्य के समक्ष उसका सिर नही झुकता, प्रार्थना नही होती, भक्ति नही फूटती।[2] वस्तुत ईश्वर की प्राप्ति समर्पण मे ही सम्भव हो सकती है। निष्कर्षत यदि यह कहे कि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व भक्त, साहित्कार और दार्शनिक का समन्वित रूप है तो अतिशयोक्ति न होगी। वे स्वय को ईश्वर की विराट्ता के समक्ष पराजित हुआ-सा पाते है। अपनी इस पराजय को वे अपना

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', दिल्ली, १९५३, प्र० स०, पृ० १६२-१६३।

२ जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम', पृ० ५१।

सौभाग्य ही समझते है । एक स्थल पर तो वे स्वीकार करते है कि इस हार को कृतार्थ भाव से मानना सीख गए है ।

सगुण ईश्वर

जैनेन्द्र के अनुसार परम सत्य व्यक्ति से निरपेक्ष है, इसलिए वह परम सत्य अनुभूति निरपेक्ष है । वह बौद्धिक जनो को तृप्ति दे सकता है । इतर को महान सम्बद्धता चाहिए । इसलिए गाधी का सत्य शेष जनो के लिए ईश्वर अधिक सत्य होगा । गाधी जी उतनी सगुणता सत्य को पहनाने की आवश्यकता नही समझते । उन्होने निर्गुण निराकार रूप मे सत्य के प्रति अपना सम्पूर्ण भाव प्रदर्शित किया । इसलिए जब उन्होने कहा कि ईश्वर सत्य है, कहने की जगह सत्य ही ईश्वर है पर सन्तुष्ट हुए तो उन्हे भगवत् स्थापना को मूर्त रूप प्रदान करने की आवश्यकता न थी । जैनेन्द्र के अनुसार निर्गुण निराकार मे उपलब्धि अथवा अनुभूति और सवेदन का भाव ग्राह्य नही है, इसलिए ईश्वरता से मडित करके ही उस परम सत् को हम अपने मन के निकट लाते है । उस निकटता का माध्यम ही प्रेम अथवा भक्ति कहलाता है । इसीलिए भक्तो ने यहा तक कहा है कि हमे भगवान नही चाहिए भक्ति ही चाहिए । भक्त के लिए भक्ति ही प्रिय और निकट रहे, यही उसकी कामना होती है । जैनेन्द्र के साहित्य मे भगवान और भक्ति की उपरोक्त सत्यता प्रेम मे वियोग के स्तर पर दृष्टिगत होती है । उनकी दृष्टि मे विरह ही वह स्थिति है, जिसमे प्रेम अथवा भक्ति अधिकाधिक घनीभूत होती है । इस प्रकार जैनेन्द्र के अनुसार भगवान् को 'सत् तत्व' के तल से उठाकर मानव, दया, अनुभूति मे सन्निविष्ट कर लिया जाता है । प्रेम ही भगवान है, यह इसी स्थिति का तथ्य है । जैनेन्द्र के साहित्य मे पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति एव सेवा आदि के भावो मे ही भगवत् भक्ति की कल्पना की गई है ।[१]

ईश्वर : प्रेममय

जैनेन्द्र का साकार और सगुण ईश्वर प्रेममय है । प्रेम ही ईश्वर की प्राप्ति का एकमात्र साधन है । और उत्तरोत्तर साधन ही साध्य बन जाते है । जैनेन्द्र प्रेम को ही ईश्वर मानते है । जिस प्रकार गाधी सत्य को ही ईश्वर मानते है, उसी प्रकार जैनेन्द्र प्रेम को ही ईश्वर मानते है । यद्यपि यह सत्य है कि 'सत्य' से परे कुछ भी नही है । जो कुछ भी है वह सत्य मे ही समाहित है । तथापि

---

१. जैनेन्द्रजी से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार ।

सत्य निर्वैयक्तिक होने के कारण ही सहज ही ग्राह्य नही हो सकता। 'प्रेम' वैयक्तिक तत्व है। 'मूर्ति' ईश्वर प्राप्ति के मार्ग का अवलम्ब है। जैनेन्द्र को तो ईश्वर से भी अधिक प्रेम प्रिय है 'क्योकि ईश्वर की एकान्तिक धारणा हो-भी सकती है। उसके नीचे स्वार्थ का सेवन भी हो सकता है, किन्तु प्रेम मे सभव नही है।'[1] ईश्वर के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायो मे सदैव सघर्ष होते हुए देखा जाता है। किन्तु प्रेम ऊच-नीच, गरीब-अमीर, देश-विदेश और जातिवाद के भेद-भाव को पार करता हुआ अभेद की स्थिति पर ही आसीन होता है। जब कि सासारिक प्रेम किसी प्रकार की सीमा को स्वीकार नही करता तो ईश्वर प्रेम के लिए बन्धन की कल्पना ही निरर्थक है। प्रेम तो मुक्त है। वह सबको अपने मे समेट लेता है, बाध लेता है। किन्तु बाधकर भी वह मुक्त है। यद्यपि यह विरोधाभास सा प्रतीत होता है कि प्रेम बन्धन भी है और मुक्ति भी, किन्तु सत्य इसी विरोध मे समाहित है। दो बध कर ही एक हो पाते है। ऐक्य मे ही मुक्ति है। जैनेन्द्र प्रेम के सिवा कुछ भी मानने को तैयार नही है। प्रेम का अनिवार्य अर्थ है सम्बन्ध। वह बध जो सबसे युक्त होता है।[2] प्रेम मे द्वैत भाव अह युक्त नही हो पाता। उसमे समर्पण की भावना समाहित होती है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि ईश्वर को प्रेम के रूप मे लिया जा सके तब तो है अन्यथा ईश्वर तक उनकी दृष्टि मे सर्वथा और सहज ही अनावश्यक हो जाता है।[3] प्रेम मे ही सच्ची शान्ति एव सुख की अनुभुति हो सकती है।

ईश्वर–प्रेम वियोग प्रधान

जैनेन्द्र प्रेम की सयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा वियोगात्मक स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। वियोग मे प्रेम की तीव्रता कम नही होती, वरन् और भी द्विगुणित हो उठती है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नही होती तब तक वियोग पक्ष ही प्रधान रहता है। विरह प्रेम मे ही प्रेम पलता है। 'जयवर्धन' मे जैनेन्द्र जी ने उपासक की उपास्य से दूरी के कारण उत्पन्न त्याग की पराकाष्ठा की ओर इगित किया है। विरह मे··· 'भक्त किस शक्ति से हसते-हसते

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, प्र० स०, पृ० २६३।

२. जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, प्र० स०, पृ० २६३।

३ प्रेम मे इतना नि शेष आत्मसमर्पण हो सकता है कि अनायास ईश्वर भक्ति का फल मिल जाय, बिना ईश्वर को जाने या उसका नाम लिए प्रेम की परिपूर्णता मे लाभ पा जाने के उदाहरण अनेकानेक मिल जायेगे।—जैनेन्द्र-कुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८७।

शहीद हो सकता है और हर यातना मे भगवान के प्रेम को देख सकता है। तब कष्ट ही उसे भगवान का भोग हो जाता है।'[1] जीवन मे जैनेन्द्र का ऐसा विश्वास है कि 'हर व्यक्ति उसका ही है, जिसको वह कभी प्राप्त नही कर पाता।' जैनेन्द्र के पात्रो के जीवन मे लौकिक प्रेम के द्वारा ही अध्यात्म साधना की ओर उन्मुखता दृष्टिगत होती है। प्रेम मे लीनता तथा व्यथा का रस ही जीवन की शक्ति बनता है। प्रेम मे बाध्यता नही होती, वरन् सहजता ही रहती है।

ईश्वरवादी अपने विचारो और मान्यताओ के प्रचारक हो सकते है। वे अनीश्वरवादियो के विरुद्ध अपने मत के प्रतिपादन की चेष्टा करते है। किन्तु जहा आस्तिकता का लक्षण प्रेम है, वहा प्रचार की आवश्यकता नही पडती।[2] 'प्रेम मे व्यक्ति अनायास विस्तार पाता है।'[3] जैनेन्द्र की आस्तिकता 'अह' की पोषक नही है। इसलिए वे अपने को सुधारक या उद्धारक न मानकर ईश्वर का सेवक मानते है। सेवक का कर्तव्य दायित्वपूर्ण होता है। सेवा मे ही उसे परम आनन्द की उपलब्धि होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे 'पर' की स्वीकृति मे ही सेवा के दर्शन होते है। इसीलिए जैनेन्द्र आनन्द और दायित्व मे कोई विरोध नही देखते।[4]

प्रेम का आनन्दमय रूप उपनिषदीय विचारधारा के अत्यधिक निकट है। डा० राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन' मे उपनिषदो मे स्वीकृत ब्रह्म के 'आनन्द मय' सब पर प्रकाश डाला है।[5] वस्तुत जैनेन्द्र का प्रेममय ईश्वर पारस्परिक विचारधारा से पृथक् उनकी कोई भौतिक देन नही है।

हमारी पृथ्वी जिन परमाणुओ से बनी है, यदि उसमे उन्हे एक-दूसरे के साथ बाध रखने की शक्ति न हो तो सारी सृष्टि पल भर मे विनष्ट हो जाये। उसी प्रकार चेतन प्राणियो को परस्पर बाधने वाली शक्ति का नाम प्रेम है।[6] यदि पारस्परिक प्रेम न हो तो जगत की अखण्डता नष्ट हो जाय। मानवमात्र के प्रति सद्भावना रखने से ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। रविन्द्रनाथ टैगोर भी प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम को उत्तरोत्तर ईश्वरीय प्रेम मे ही परिणत हुआ पाते है। 'प्रेमी और प्रेमिका का भेद तब तक बना रहता है

---

१ सूर की गोपियो का वियोग पक्ष ही अधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी है।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० २०७-२०८।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४६।

४ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४७।

५ डा० राधाकृष्णन् 'भारतीय दर्शन', दिल्ली, १९६६, पृ० १५१।

६ महात्मा गाधी 'यग इडिया' ५-५-२०। ५७।

जब तक पूर्ण प्रेम मे दोनो एक नही हो जाते ।''[१] जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे स्त्री-पुरुष अथवा प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर आकर्षण को काम तक ही परिमिन न कर उसे उत्तरोत्तर इन्द्रियेत्तर विषय के रूप मे स्वीकार किया है ।

लौकिक जीवन मे ईश्वरीय आस्था

जैनेन्द्र की दृष्टि मे ईश्वर मात्र व्यक्ति की आवश्यकताओ का ही पोषक नही है । वह विज्ञान की विभीषिका से सत्रस्त मानव के लिए एक समाधान है । विज्ञान ने मानव को चाद तक पहुचा दिया है, किन्तु पडोसी के दु ख-दर्द का अनुभव करने की प्रेरणा नही प्रदान की है । बौद्धिकता की प्रगति के साथ-साथ हार्दिकता शुष्क होती गई है । हृदय से शून्य व्यक्ति सदैव अभावग्रस्त बना रहता है। वह अपने अभाव को नशीली वस्तुओ के सेवन से पूर्ण करने का क्षणिक प्रयास करता है । उसकी पशुता समर्पण के अभाव मे अहता को पुष्ट करती जाती है । एक ओर विज्ञान के तर्कवाद दूसरी ओर अर्थलोलुपता भी आधुनिक सभ्यता का दुस्साध्य रोग है । धन के पागलपन ने ही आज समाज मे भेद भाव की भावना भर दी है । वस्तुत जैनेन्द्र की ईश्वर सम्बन्धी विचार-धारा आधुनिक युग के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है । भौतिकता की चकाचौंध मे उन्हे ईश्वर एकमात्र अवलम्ब प्रतीत होता है ।

जैनेन्द्र की ईश्वरीय निष्ठा ही सामाजिक प्रेम और व्यवस्था का साधन है । वे प्राणी मात्र मे ईश्वर की कल्पना करते है । अत ईश्वर के समक्ष केवल 'स्व' का विसर्जन ही पर्याप्त नही है । आत्मा की परमात्मा से एकाकार होने मे ही मुक्ति नही है, वरन 'स्व' का त्याग 'पर' के हेतु परमावश्यक है । परहित ही उनके जीवन का मूलादर्श है । ईश्वर की प्राप्ति अर्थात सब मे अपनी प्राप्ति ।[२] इस प्रकार स्व पर मूलक भेद मिट जाने पर ही ईश्वर की प्राप्ति सभव है । जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम अन्य के सत्कार और स्व के विसर्जन मे ही फलित होता है । अपने को मिटाने मे ही जीवन की सार्थकता है । जैनेन्द्र प्रतिदिन के जीवन इस प्रकार की विनत भावना के मूल मे ही व्यक्ति की आस्तिकता के दर्शन करते है ।[३] जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे तथा राजनीतिक, आर्थिक

---

१ डा० राधाकृष्णन् 'रविन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६३, पृ० ५६-अनु० ज्ञानवती दरबार ।

२ जैनेन्द्र कुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० २६ ।

३. जैनेन्द्र कुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० ४७ ।
—'...प्रेम से बडी आस्तिकता और क्या है ? उस प्रेम के रूप मे अद्वैतता और एकात्मकता का प्रमाण क्या हमारे ही भीतर गर्भित नही पडा है ।'

एव सामाजिक क्षेत्र मे 'स्व-पर' के भेद-भाव से ऊपर उठते हुए अद्वैतता अथवा अभेद की प्रतिष्ठापना की है। ईश्वर की उपासना मे शिथिलता तभी आती है, जब व्यक्ति की वृत्ति स्वार्थपूर्ण हो जाती है। जैनेन्द्र ने जीवन मे धर्म पर विशेषरूप से बल दिया है। उनकी दृष्टि मे धर्म आस्तिकता अथवा समर्पण का ही प्रतिरूप है। प्रेम और समर्पण के मार्ग मे द्वन्द्व की सभावना नही रह जाती। जैनेन्द्र के अन्तस मे केवल ईश्वर को जानने की जिज्ञासा ही नही है, वरन् वे भक्त-कवियो के सदृश्य प्रभु के समक्ष आत्म-समर्पण के हेतु विकल रहते है। जिस प्रकार भक्त भगवान के समक्ष स्वय को घोर पापी, दुष्ट और नीचात्मा ही समझता है, उसके इस आत्म-निवेदन के द्वारा उसके व्यक्तित्व को नीचा नही समझा जा सकता। भक्त भावातिरेक के कारण ही स्वय को इतना दीन-हीन मानता है। जैनेन्द्र दार्शनिक है, तथापि उनके साहित्य मे अह से मुक्ति पाने के लिए अतिशय विनम्र निवेदन की झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है। 'साधु का हठ' मे माधु की ईश्वर के समक्ष गिडगिडाहट उसकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास की ओर ही इगित करती है।[1] जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास तथा कहानी के पात्रो के माध्यम से ही नही, निबन्धो मे भी प्रत्यक्ष-रूप से उनकी विनम्रता तथा समर्पण की उत्कट अभिलाषा के दर्शन होते है। ईश्वर साक्षात्कार के अभाव मे उन्हे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। उनका हृदय भगवान् मे खो जाने के लिए तडपता रहता है। यही नही, उनकी साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी ईश्वर के उपासना का ही अग है।[2] भक्त के सदृश्य उन्होने साहित्य के माध्यम से अपने हृदय के उच्छ्वास को ही व्यक्त किया है। ससार के माया-जाल मे घिरे रहने के कारण ईश्वर का साक्षात्कार नही हो पाता। उनके मन मे एक विक्षोभ और व्यथा है। व्यथा का मूल ईश्वर

---

१ 'अब तो मेरे लिए तेरी यह प्रार्थना ही सब कुछ है। यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है। यही मेरी साधना है और यही मेरी साधना का साध्य है। प्रभु, भगवान् मैं ऐसा नही रहना चाहता। मै बिल्कुल तेरा हो रहना चाहता हूं। मेरे रोम-रोम मे हरेक तुझे ही प्राप्त करे, तेरी ही स्फूर्ति पाये, किसी को मुझसे क्रोध की प्रेरणा न मिल सके।' —जैनेन्द्रकुमार 'साधु का हठ', दिल्ली, १९६३, पृ० ११।

२. —'शायद वही है (ईश्वर) जिसके लिए मै जीना सार्थक मान सकता हू। मेरा लिखना अन्त मे इसी प्रयोजन से जा मिलता होगा। अन्यथा अपने मे उसका दूसरा प्रयोजन मुझे नही मालूम होता है।' —जैनेन्द्रकुमार : 'परिप्रेक्ष', दिल्ली, १९६५ से उद्धृत।

के से वियोग अथवा पार्थक्य है। जैनेन्द्र सगुण भक्तो के सदृश्य ससार मे द्वैत को एक सीमा तक आवश्यक मानते है। आत्मा-परमात्मा अथवा उपासक-उपास्य के द्वैत मे ही भक्ति की प्रगाढता भासित होती है। 'पर' के अभाव मे 'स्व' के समर्पण का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र अपने मन मे उठते हुए आवेग को स्पष्टत व्यक्त करने मे असमर्थ है, तथापि उनकी अगाध निष्ठा भावविह्वलता की स्थिति मे प्रकट ही हो जाती है।[१]

जैनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर से पदार्थ रूप मे कुछ पाना व्यर्थ है। लेकिन पदार्थ के अतिरक्त भी बहुत पाना शेष है। वह स्वय अपने को पाता है।'[२] जैनेन्द्र के पात्रो मे समाहित विश्वास की अडिगता उनकी आस्तिकता को ही इगित करती है। जीवन मे अतत भगवान का सहारा ही डूबते को उबारने वाला होता है। विषम परिस्थितियो मे उनके पात्र भगवान को ही याद करते है।[३] असत् की प्रतिष्ठा होते देखकर उन्हे ऐसा प्रतीत होता है मानो उनका ईश्वर उनसे छीना जा रहा हो।[४] सत्य के मार्ग मे चलकर वे कष्ट झेल सकते है, किन्तु असत् के मार्ग मे उन्हे शान्ति नही है।

लौकिक प्रेम मे भी उत्तरोत्तर ईश्वरीय प्रेम की ही कल्पना की गई है। यदि प्रेम मे ईश्वरोन्मुखता नही है तो वह मिथ्याप्रपच मात्र है। यही कारण है कि 'कल्याणी' मे जैनेन्द्र ने प्रभु प्रेम को ही सत्य माना है, बाकी प्रेम माया है।[५] 'सुखदा' मे तो जैनेन्द्र ने पूर्ण विश्वास के साथ प्रेम की सत्यता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि मे 'ईश्वर या परमेश्वर—सब प्रेम ही है अथवा प्रेम मय है।'[६] प्रेम का क्षेत्र व्यापक है। उसकी परिधि मे समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। ब्रह्माण्ड चलता ही उसी के चलाए है। प्रेम का कोई भी सम्बन्ध अथवा

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', दिल्ली, १९६५—'मुझे ठीक पता नही कि मै भगवान् के दर्शन पाना चाहता हू। मानता एक उन्ही को हू। पर साक्षात् मे एक उन्ही के दर्शन नही हो पाते।......ऐसी परेशानी मे दिन बीत रहे है जीना अकारथ हुआ जा रहा है।'

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और समाधान', पृ० ४८।

३ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', दिल्ली, १९६४, पृ० ४२।

४. जैनेन्द्रकुमार (स्वीकार), पृ० ७०।

५ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० ८२।

६ 'सत्य मैं उसी प्रेम को समझता हूं, ईश्वर उसी प्रेम को समझता हू। ईश्वर के ऊपर कहते है परमेश्वर है, परमेश्वर उसी को समझता हूं।' —'सुखदा', पृ० १५०।

रूप अपनी चरम सीमा पर पहुचकर ईश्वरीय प्रेम मे ही परिणित हो जाता है। यह स्थिति समर्पण द्वारा ही सम्भव होती है। प्रेम और अह दो विरोधी तथ्य है। जब 'मै' 'पर' मे समर्पित होकर विलीन हो जाता है तभी प्रेम का लक्ष्य पूर्ण होता है। उस समर्पण मे अनायास ही ईश्वरीय प्रेम की उपलब्धि सभव हो जाती हैं।[१]

ईश्वरीय आस्था द्वारा जीवन मे व्यवस्था

जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वरीय आस्था जीवन मे व्यवस्था तथा सुख-शान्ति लाने का साधन है।[२] ईश्वरीय आस्था के कारण ही समाज मे व्याप्त श्रेणी बद्धता सहज ही स्वीकार्य हो जाती है। क्योकि व्यक्ति स्वय को भाग्याधीन समझने लगता है। आस्तिक की दृष्टि मे भाग्यवश ही कोई गरीब है तो कोई अमीर है। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे यदि यह विश्वास न हो कि सब ईश्वर की दया से होता है तो जीवन मे प्रतिक्षण स्पर्द्धा व द्वेष के कारण कलह मचा रहे। जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था जीवन के सभी क्षेत्रो की परिचायिका है। आस्था का सक्रिय रूप धर्म है। वे राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि के मूल मे धर्माभिमुखता को अनिवार्य मानते है। धर्म अर्थात् ईश्वर का भय ही व्यक्ति को अनैतिक आचरण से वचित रखता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अभि-व्यक्त ईश्वर-प्रेम मदिर और मस्जिद तक ही परिमित नही है। उनके साहित्य मे हमे ऐसे स्थल कम ही प्राप्त होते है जहा परोक्ष रूप से पूजा अर्चना आदि की झलक मिल सके। कारण यह है कि वे प्रदर्शन से अधिक वास्तविकता को श्रय देते है। प्रदर्शन मे सत्य विनष्ट हो जाता है अथवा उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्रो के जीवन मे ईश्वर के प्रति निष्ठा शब्दो द्वारा अथवा प्रवचन द्वारा अभिव्यक्ति नही प्राप्त करती वरन् प्रतिदिन के जीवन मे विषमताओ से जूझने तथा 'पर' की स्वीकृति अभिमानता मे ही उनकी आस्तिकता फलीभूत होते हुए दृष्टिगत होती है।

---

१. 'प्रेम मे इतना नि शेष आत्मसमर्पण हो सकता है कि अनायास ईश्वर भक्ति का फल मिल जाय, बिना ईश्वर को जाने या उसका नाम लिए प्रेम की परिपूर्णता मे ईश लाभ पा जाने के उदाहरण अनेकानेक मिल जायेगे।'
—जैनेन्द्रकुमार . 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८७।

२ 'ईश्वर नामक सज्ञा सुव्यवस्था मे सहायता तो अवश्य देती है…'
—जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया' (नई व्यवस्था, भाग १), तृ०स० दिल्ली, १९६२, पृ० १६७।

प्रार्थना का महत्व

जैनेन्द्र ईश्वर की उपासना के लिए प्रार्थना को अनिवार्य मानते है। प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति मे आत्म-शक्ति का विस्तार होता है।[1] गाधी जी ने अपने जीवन मे प्रार्थना पर विशेष रूप से बल दिया था। प्रार्थना उनके जीवन का एक अनिवार्य अग थी। उनकी दृष्टि मे प्रार्थना की बेला मे पारस्परिक भेद-भाव विनष्ट हो जाता है। सत खलील जिब्रान ने भी प्रार्थना की अनिवार्यता को स्वीकार किया था। उनकी दृष्टि मे प्रार्थना करते समय ऊचे उठकर व्यक्ति उन महत्ती आत्माओ से भेट करता है जो उस समय प्रार्थना रत होती है और जिनसे प्रार्थना-बेला के अतिरिक्त कभी भेट नही हो सकती।[2]

जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' के माध्यम से जिस पूजा गृह की कल्पना की है, उसमे नीच-ऊच सभी का प्रवेश स्वीकार्य है। हिन्दू, मुसलमान, शूद्र आदि का प्रार्थना के मदिर मे निषेध नही किया गया है।

प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति ईश्वर के प्रति पूर्णत समर्पित हो जाता है। उसमे अपना आपा भी शेष नही रह जाता है। वह भक्ति-भाव मे विभोर होकर भगवान के नाम की रट लगा लेता है। यही नही, उसका तन पूजा के वश अर्घ्य की भाति समर्पित हो जाता है। 'साधु की हठ' शीर्षक कहानी मे साधु प्रार्थना करता हुआ ईश्वर के साथ आत्मसात् हो जाने के लिए तडपता रहता है। वह चाहता है कि ईश्वर की भक्ति उसमे इस प्रकार समाहित हो जाय कि इतर भावो के हेतु अवकाशहीन न रह जाय। जैनेन्द्र की कुछ कहानियो मे ('गवार' आदि मे) भक्ति-भावना छद्म रूप से व्यक्त हुई है। उनमे ईश्वरीय आस्था प्रमुख नही है। किन्तु 'साधु की हठ' मे साधु की अतिशय विनम्रता और समर्पण मे ईश्वर से साक्षात्कार की कामना पूर्णत निश्छलता के साथ मुखरित हुई है। उसकी भावविह्वलता मे सत्य का छिपाव न होकर आत्म प्रकाशन की ही प्रधानता है। वह ईश्वर के विरह मे व्याकुल होकर कहता है कि 'क्या मैंने मुझे रोकर अपनी आत्मा के अर्घ्य की अजलि को तेरी स्वीकृति के समक्ष लिए बैठकर, तुझे सौ-सौ बार, हर हर बार, विश्वास नही दिलाया कि

---

१. 'प्रार्थना से शक्ति आती है। जिस निर्बलता ने राम का बल पकडा है, उसका बल फिर क्यो हारे ? परमात्मा मे विश्वास रखो वह भय से हमे तारेंगे।'

—जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', दिल्ली, १९६४, प्र० स०, पृ० १६८।

२ सत खलील जिब्रान 'जीवन दर्शन' (अनु० दि प्रोफेट अनु० सत्यकाम विद्यालकार) सशोधित सस्करण, १९५८, पृ० ७०।

समिधा की भाति यज्ञ के हुताशन मे भस्म होकर भी मै तुझमे ही पहुँचना चाहता हू ।[1] सत खलील जिब्रान के अनुसार भी प्रार्थना का अर्थ ही अपनी आत्मा को विश्वात्मा के सघर्ष मे लाना है ।

वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे प्रार्थना का महत्व विशेषरूप से दृष्टिगत होता है । उसमे लेखक की आस्तिकता साकार रूप धारण करके फूटी पडती है । जिस प्रकार सूर, तुलसी आदि कवियो की रचनाओ मे अतिशय भावुकता के स्थल मे कवि का व्यक्तित्व कवित्व की मर्यादा को भूल जाता है । उसी प्रकार 'साधु की हठ' मे लेखक की भक्ति-भावना का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है । जीवन का सारा ज्ञान, सारी साधना, प्रार्थना की तन्मय अवस्था मे विलुप्त हो जाती है, इसीलिए साधु के माध्यम से उनकी प्रार्थना के प्रति आस्था प्रकट होती है । उनकी दृष्टि मे प्रार्थना ही सब कुछ है । यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है । यही मेरी साधना है, यही मेरी साधना का साध्य है । 'टकराहट' मे लेखक ने भारतीय आस्तिकता और पाश्चात्य जीवन के सत्य से उत्पन्न द्वन्द्व की ओर इगित किया है । जैनेन्द्र ने कैलाश के द्वारा आश्रम मे होने वाली प्रार्थना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि प्रार्थना मे व्यक्ति के मन का द्वन्द्व शान्त हो जाता है और वह ईश्वर की शरण मे जाकर परमशान्ति का अनुभव करता है । उसकी दृष्टि मे जीवन की मर्यादाओ को सहज भाव से स्वीकृत करने मे ही आत्मशाति की प्राप्ति हो सकती है ।[2]

जैनेन्द्र की आस्थामूलक भावनात्मक तथा आध्यात्मिकता उनके साहित्य की रूढता और शुष्कता को दूर कर उसे सरस और ग्राह्य बना देती है, जिसके कारण वे लेखक होने के साथ ही दार्शनिक की आस्था को भी अपने मे समा लेते है । जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर की भक्ति मे जो नशा है, वह लौकिक नशो (शराब) मे सभव नही हो सकता । उन्हे तो प्रकृति की विराट्ता के मध्य एकमात्र उसी ब्रह्म की छाया ही दृष्टिगत होती है । लौकिक नशा पल भर के बाद समाप्त हो जाता है किन्तु ईश्वर की भक्ति जिसके हृदय मे समाहित हो जाती है, वह आजन्म उसी मे डूबा रहता

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'साधु की हठ' (जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ६,) पृ० ११ ।

२ प्रार्थना मे हम अपने को अलग मानते है, इसी कारण प्रार्थना मे बल मिलता है ।
—जैनेन्द्रकुमार 'टकराहट' (जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ७), दिल्ली, १९६३, तृ० स०, पृ० ६ ।

है ।[1] वस्तुत जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था कोरे विचार और तर्क का प्रतीक न होकर भक्तिमय आस्तिकता की अभिव्यक्ति है। उनके साहित्य का अध्ययन करते हुए कभी-कभी मन एकदम तन्मय हो उठता है और ऐसी स्थिति मे लेखक का विचारक रूप पीछे रह जाता है तथा श्रद्धालु लेखक का रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है ।

ईश्वर : अज्ञेय

उपरोक्त विशद् विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था अज्ञेयवादियो के सदृश्य ही ईश्वर के स्वरूप को समझने मे असमर्थ है । उनके अनुसार एक परम शक्ति अदृश्य रूप से सारे जगत का सचालन करती है। व्यक्ति अपनी भावना और सबुद्धि के द्वारा उसके स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हुए भी अतत असमर्थ ही रहता है । 'सुखदा' मे सुखदा स्वीकार करती है कि मनुष्य का ईश्वर को जानने का समस्त प्रयत्न समुद्र के तट पर कौडिया खेलने वाले बालक के सदृश्य व्यर्थ ही सिद्ध होता है ।[2] वह ईश्वर अपने निराकार रूप मे समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है । अतएव उसको अपनी कल्पना मे सीमित करके निरपेक्ष मतव्य देना सभव नही हो सकता । उसके सभव मे केवल हम सम्भावना ही कर सकते है, क्योकि ईश्वर निरपेक्ष सत्य है, व्यक्ति का अभिमत सापेक्ष है । जैनेन्द्र ने सुखदा से व्यक्त किया है कि ईश्वर ऐसा सूत्रधार है, जो समस्त सृष्टि के सूत्र को अपने हाथ मे लिए हुए है ।[3] यद्यपि ईश्वर अज्ञेय है तथापि उसे जानने की व्यक्ति की जिज्ञासा कभी शान्त नही होती । सृष्टि ईश्वर का सत्य और प्रत्यक्ष रूप है । सृष्टि के प्रपच को देखकर ऐसा भान होता है कि व्यक्ति शतरज की मोहर के सदृश्य जड है और खिलाडी तो कही छिपा हुआ समस्त जीवो को माया के

---

१ 'उसका नशा कभी नही चुकता । उसको चाहो उसको पाओ वह नशा है जो उतरेगा नही । वह अशान्ति मे भी शान्ति देगा ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'टकराहट' पृ० ६ ।

२. —जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० १८ ।

३. खिलाडी तो जाने ऊपर-नीचे, यहा-वहा-कहा छिपा बैठा है। और हम उसके खेल मे कठपुतली के मानिन्द नाचते है । नाचते है सो मन मे बहला भी लेते है । लेकिन हमारी यह सब उछल-कूद, जोड-जुगत अपने मन तक की ही है। तार पीछे कही किसी और के हाथ मे है । हम सामने भर होने के लिए हैं। —जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० २०३ ।

प्रपच मे नचाता रहता है। जैनेन्द्र की आस्था भाग्यवादिता के रूप मे ही मुखरित होती है। उनके अनुसार व्यक्ति नाना सकल्प-विकल्प रचता रहता है, किन्तु होता वही है जो ईश्वर को स्वीकार होता है। श्री प्रभाकर माचवे ने भी जैनेन्द्र के विचारो को अज्ञेयवादियो के समकक्ष स्वीकार किया है। माचवे जैनेन्द्र के विचारो को स्पेन्सर आदि अज्ञेयवादी विचारको के सिद्धातो से पृथक् मानते है। स्पेन्सर की विचारधारा विज्ञानसम्मत अधिक है। किन्तु जैनेन्द्र, तालस्टाय और गाधी जी की विचारधारा से सहमत है, जिसमे कैट के 'परमात्म अस्तित्व' की नैतिक आवश्यकता का तर्क ही अधिक कर्मशील है।[1] जैनेन्द्र का दृष्टिकोण बौद्धिक से अधिक व्यवहार सम्मत है। बुद्धि के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को न ही सिद्ध किया जा सकता और न ही असिद्ध किया जा सकता है। सत्ता को बुद्धि के द्वारा जानने के प्रयत्न मे व्यक्ति का अहकार ही प्रकट होता है। परमात्मा को लेकर सदैव एक प्रश्नचिन्ह सामने उपस्थित रहता है। विश्व की विचित्रताओ के मूल मे एकमात्र वही है, किन्तु उसे कैसे जाना जाए? ससार मिथ्या है। 'व्यर्थ प्रयत्न' मे परम तत्व को बरबस बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष देखने की चेष्टा की गई है। ग्रन्थो के सहारे केवल यही जान पडता है कि 'वह यह नही है, वह वह नही है। तब यह और वह क्या है— कैसे मालूम हो? यही कैसे मालूम हो?'[2] अन्तत बुद्धि पराजित होती है और सबुद्धि ही सहायक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार कभी-कभी ईश्वर की ओर से मिलने वाली निराशा ईश्वर को मिथ्या समझने लगती है। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार वह (ईश्वर) ऐसा झूठ है जिससे ससार की समस्त असत्यता समाहित हो जाती है। ईश्वर को 'परम भक्ति' के रूप मे स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति का अहभाव विगलित हो जाता है। ईश्वर की भक्ति का नशा चढने पर वही सब कुछ प्रतीत होने लगता है। वस्तुत जैनेन्द्र की आस्तिकता तर्क से इतर समर्पण मे ही सत्य की खोज करती है। उन्होने ईश्वर को अनुभूति के स्तर पर ही स्वीकार किया है। 'काश्मीर की वह यात्रा' मे जैनेन्द्र को प्रत्यक्षरूप से ईश्वर के दर्शन नही हो पाते, किन्तु विराट् प्रकृति के आकर्षण मे उन्हे एकमात्र ईश्वर के अस्तित्व की ही झलक मिलती है। अज्ञात ईश्वर उनके लिए अप्राप्य है किन्तु उसकी शक्ति और रूप का अनुभव करते ही उनका हृदय आर्द्र हो उठता है। 'आत्म-विभोरता' की स्थिति मे प्रेम की अविरल धारा अश्रु बनकर प्रवाहित होने

---

१ प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', बम्बई, पृ० १३।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', सातवा भाग, तृ० स०, १९६३, दिल्ली, पृ० १२७।

लगती है। अश्रु-प्रवाह ही मानो भक्ति की वह पराकाष्ठा है जहा आस्तिक अपनत्व को भूलकर ईश्वर की अनुभूति मे ही रम जाता है।[१] उनके हृदय मे बस एक ही उच्छ्वास बार-बार उठता है कि 'हे अज्ञात, तू ही है, तू ही है।' भावना सदा ही अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करके स्वीकार्य बना लेती है। उनकी दृष्टि मे एकमात्र वही है। (ईश्वर) जैनेन्द्र के अनुसार 'कौन जानता है कि मानव-प्राणी के लिए एक अकेला सत्य अनुभव वही है। शायद वही है। शायद नही, सचमुच वही है। जीवन के पास उससे बडी सच्चाई कोई दूसरी नही है, कोई दूसरी हो नही सकती है।'[२]

ईश्वर : भाग्यविधाता

जैनेन्द्र के साहित्य मे ईश्वर का चाहे जो स्वरूप भी हो, किन्तु उसके अस्तित्व और उसकी महत्ता प्रतिपल उनके हृदय मे बनी ही रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'भाग्य विधाता का ही दूसरा नाम है।'[३] जैनेन्द्र के साहित्य मे भाग्य के समक्ष नतमस्तक हुआ व्यक्ति अपरोक्ष रूप से ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार करता है।

---

१ उस अज्ञात के तट पर खडे होकर जो होता है, हम उसके अनन्त गर्भ की नीलिमा मे आखे फाड-फाडकर कुछ देखने की स्पर्धा मे अधे बया बने क्यो नही। हम आख मूदकर घुटने आ बैठे, विवशता के दो आसू ढर जाने दे और गद्गद् कण्ठ के गुहार दे, 'हे अज्ञात, तू ही है। हम सब और हमारा समस्त ज्ञात तेरे गर्भ मे है, और तू उससे परे है, ज्ञाता है। तू ज्ञात नही है—इसमे तू ही है, तू ही सत्य है। तुझमे तेरी शरण मे हू।'
—जैनेन्द्रकुमार 'काश्मीर की वह यात्रा', दिल्ली, १९६८, पृ० १२।

२ जैनेन्द्रकुमार 'वह अनुभव' (जैनेन्द्र—प्रतिनिधि कहानिया), दिल्ली, १९६९, पृ० १२८।

३. जैनेन्द्रकुमार . 'परिप्रेक्ष्य', १९६५, प्र० स०, दिल्ली, पृ० १११।

परिच्छेद—३

जैनेन्द्र और धर्म

जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि

जैनेन्द्र का जीवन अध्यात्म और भौतिकता का समुच्चय है। भौतिकता यदि शरीर है, तो अध्यात्म उसकी आत्मा है। दोनो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। धर्म का अस्तित्व जीवन के स्वीकार्य मे ही सम्भव है, और जीवन की सार्थकता धर्मरत होने मे है। जैनेन्द्र का साहित्य उनके व्यक्तिगत अनुभव का ही प्रतिनिधित्व करता है। उनका धार्मिक-बोध किसी मत या वाद से आबद्ध नही है। उन्होने वेद, पुराण, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थो के गभीर अध्ययन का कष्ट नही किया है, किन्तु धर्म का शाश्वत रूप जो कि आदिकाल से विश्व के सभी धर्मो मे प्राप्त होता है, उनके साहित्य मे सहज ही देखने को मिलता है। उन्होने धर्म को ज्ञान से नही, वरन् अनुभव से प्राप्त किया है। उनका धर्म मानव-धर्म है। धर्म के इस व्यापक रूप के अन्तर्गत जीवन के विविध अग समाविष्ट हो जाते है। उनके साहित्य मे धर्म का अस्तित्व उसी प्रकार अलक्ष्य है, जैसे लकडी मे अग्नि।

जैन दर्शन

जैनेन्द्र का साहित्य उनके युग की परिस्थितियो और उनके जन्मजात सस्कारो का ही परिणाम है। यद्यपि वे स्वय को समस्त बन्धनो (परिस्थिति-गत) से मुक्त मानते है, किन्तु सामान्य दृष्टि से यह सम्भव नही हो सकता कि व्यक्ति नितान्त निरपेक्ष हो जाय। मनुष्य का जीवन और उसके विचार नितान्त

नवीन नही हो सकते । जैनेन्द्र के धार्मिक विचार भी किसी नये आदर्श की स्थापना नही करते, किन्तु उनका महत्व सत्य को तत्कालीन आवश्यकता के अनुकूल नये ढग से व्यक्त करने मे है । जैनेन्द्र का जन्म जैन परिवार मे हुआ है । जैन धर्म की आत्मा उनके सस्कारो मे समायी हुई है । जैनेन्द्र ने यदि स्व-धर्म के रूप मे किसी भी धर्म को स्वीकार किया है तो वह जैनधर्म ही है । जैनेन्द्र ने अपने जीवन को जैन आदर्शो मे ही ढालने का प्रयास किया है । साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, अत जैनेन्द्र-साहित्य पर जैन धर्म और दर्शन का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है । अतएव जैनेन्द्र के धार्मिक विचारो को समझने के लिए जैन धर्म का स्वरूप और उसकी व्यापकता को समझना अनिवार्य है ।

जैनियो का विश्वास है कि जैन धर्म भारतवर्ष मे ही नही, वरन् विश्व मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।[१] जैनियो की अहिसक और रहस्यवादी दृष्टि समस्त विभिन्नताओ को स्वीकार करके चली है । उसमे किसी मत का निषेध नही किया गया है और न ही किसी भी विचार को निरपेक्ष सत्य के रूप मे ही स्वीकार किया गया है । जैनियो ने 'इट इज नाट' के मार्ग को न स्वीकार करके 'इट कैन बी' के मार्ग का अनुसरण किया है । जैनियो की रहस्यवादी दृष्टि पाश्चात्य विद्वान् आइन्स्टाइन की रिलेटिविटी का सिद्धान्त पृथक् नही है ।[२] भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिको ने दोनो की शब्दावली मे भी समानता के ही दर्शन किए है ।[३] आइन्स्टाइन के अनुसार सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान मनुष्य की बुद्धि के परे है, हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते है ।[४]

---

१ 'It is true that according to the belief of the Jains, their religion is a 'world religion' in the sense that it is a religion not only for human beings of all races and classes, but even for animals, Gods and denizens of hell '—Winternitz —Calcutta (1933), (p 425)

२ Winternitz—Calcutta (1933).

३ डा० राधाकृष्णन ने स्याद्वाद की अंग्रेजी मे 'रिलेटिविटी' से सम्बन्धित किया है और 'रिलेटिविटी' को हिन्दी मे 'स्याद्वाद' के नाम से सबोधित किया गया है । —डा० राधाकृष्णन 'इण्डियन फिलासिफी'

४. 'We can know only the relative truth, the absolute is known only to the universal observer '

—Dr R Krishnan—'Indian Philosophy'

जैन धर्म का उद्‌भव ब्राह्मण धर्म के पराभव का काल था। जैन और बौद्ध दर्शन का जन्म ब्राह्मण धर्म की परम्परागत रूढियो, अन्ध-विश्वासो और मिथ्या कर्मकाण्डो की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। ब्राह्मण धर्म उन दिनो जीवन के बाह्य कर्मकाण्डो तथा विविध मतवादो से इतना चिपटा हुआ था कि उसमे धर्म के आत्म-तत्व को खोजना कठिन हो गया था। उस समय पूजा पाठ का बाहुल्य हो रहा था, किन्तु धर्म के प्रति लोगो की आस्था समाप्त हो रही थी। धर्म जीवन का अग न होकर मतवादो के प्रचार का माध्यम बन गया था। जैन दार्शनिको से पूर्व के समस्त भारतीय दार्शनिको ने 'ईश्वर के अस्तित्व', 'सृष्टि और सत्ता के सम्बन्ध' आदि अप्रत्यक्ष विषयो पर ही विचार किया था। उन्होने गूढ सत्य को खोजने का प्रयास किया था किन्तु जैन दार्शनिक जीवन के व्यावहारिक धरातल को ही अपने अध्ययन का विषय बनाकर चले है। उनका धर्म पारलौकिक न होकर प्रत्यक्ष जगत और मानव-व्यवहार मे ही निहित है। जैन-दर्शन तर्क पर आधारित है,[१] अन्धविश्वासो पर नही। यही कारण है कि सैकडो वर्षो के बाद आज भी अपनी उपयोगिता के कारण विश्व-व्यापी बना हुआ है।

जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु मोक्ष की स्थिति तक पहुचने के लिए मार्ग मे आने वाली विभिन्न स्थितियो की अवहेलना नही की जा सकती। मोक्ष यदि मजिल है तो सत्य अहिंसा, अपरिग्रह, प्रेम, त्याग आदि वे सोपान है, जिनके माध्यम से हम मजिल तक पहुच सकते है। अत जैन दार्शनिको ने साध्य से अधिक साधन पर बल दिया। साधन की विशुद्धता के अभाव मे साध्य की प्राप्ति की कल्पना निरर्थक है। जैनियो ने अज्ञात के रहस्य को जानने से अधिक वर्तमान जीवन के उत्कर्ष की ओर ध्यान दिया है। जैन दर्शन ही विश्व का एक ऐसा महत्वपूर्ण दर्शन है, जिसमे वर्तमान भौतिकता और अध्यात्मवादी प्रवृत्ति का अपूर्व सगम दृष्टिगोचर होता है। विज्ञान मे वस्तु अथवा 'मुद्‌गल' पर विशेष बल दिया गया है।

जैन धर्म मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग वस्तु के स्वभाव अथवा उसके धर्म के लिए हुआ है। वस्तु का प्रकृति के प्रतिकूल आचरण अधर्म का सूचक है। अग्नि का गुण ताप उत्पन्न करना, जल का शीतलता प्रदान करना, मनुष्य का धर्म मनुष्यता है। मानव-धर्म से च्युत व्यक्ति मोक्ष अथवा ईश्वर की प्राप्ति नही कर सकता। जैनियो के वस्तु धर्म का तात्पर्य आत्म-धर्म है। वस्तु मे विभिन्नता अनिवार्य है, किन्तु धर्म शाश्वत है, वह वस्तु के मूल मे विद्यमान है। जिस प्रकार शरीर मे निहित आत्मा का धर्म ही व्यक्ति का वास्तविक धर्म

---

१ V R Gandhı 'The Jaın Philosophy'; (1924) Bombay,

है, उसी प्रकार वस्तु के अन्त गर्भित गुण को ही उसका धर्म कहते है । सब जीवो मे एक ही आत्मा का निवास है, अत समस्त जीवधारियो का मूल धर्म एक ही है । शरीर की भिन्नता के सदृश्य धर्म के बाह्य रूपो मे भिन्नता हो सकती है, किन्तु आत्म तत्व मे एकता अनिवार्य है । जैनियो का यह आत्मधर्म ही उनकी अहिसक नीति और स्यद्वादी विचारधारा का मूल आधार है । सब जीवो के प्रति प्रेम तथा सभी मतावलम्बियो के प्रति समान आदर की भावना जैन धर्म का मूलाधार है । अहिसा जैन धर्म का प्राण है । उनके अनुसार प्रकृति के विभिन्न कार्य-कलाप अपना नियम तोड सकते है—सूर्य पश्चिम से निकल सकता है, चन्द्रमा से अग्नि की वर्षा हो सकती है, किन्तु जीवहत्या मे धर्म कदापि स्थिर नही रह सकता । हिसा से बढकर कोई अधर्म नही है ।[१]

जैन धर्म का द्वितीय महत्वपूर्ण अग त्याग और अपरिग्रह है । समस्त लौकिक इच्छाओ का त्याग, 'पर' के हेतु स्व सुख का त्याग, जैनियो के धर्म का उद्देश्य है । मानवता की सेवा और मानव मात्र के प्रति प्रेमभाव रखना ही धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है । जैन धर्म मे अति सग्रह की प्रवृत्ति का निषेध किया गया है । कम-से-कम खर्च मे ही जीवनयापन करना ही उनका मूलादर्श है । जैन तीर्थकर का कोई घर नही होता, वह प्रकृति के मुक्त वातावरण मे ही अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है । उसका सम्पूर्ण जीवन एक कठोर तपस्या होती है । महावीर स्वामी का जीवन जैन धर्म की अपरिग्रही नीति का प्रत्यक्ष उदाहरण है । मनुष्य की इच्छाए अनन्त है । एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है । अत जैनियो के अनुसार अपरिग्रही होकर ही हम ससार मे सन्तुष्ट रह सकते है ।

वस्तुत जैन धर्म जीवन के अन्य आदर्शो का समुच्चय है । वह सैद्धातिक और तात्विक होने से अधिक व्यावहारिक और विज्ञान सम्मत है ।

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का अर्थ और स्वरूप

जैनेन्द्र जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित है । जैनेन्द्र का साहित्य उनके इस प्रभाव का ही प्रमाण है । सभवत जैनेन्द्र ने जैन साहित्य का गभीर अध्ययन किया है । अपने साहित्य मे जैन धर्म के विभिन्न अगो और उपागो का भी उन्होने वर्णन

---

१. विण्टरनिट्स · 'दि हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर', पृ० ४२५ ।
—अहिसा परमोधर्मो यतो धर्मस्ततो जय —'विजयधर्मसूरि' आत्मोन्नति दर्शन ।

किया है। कुछ जैन-कथाए तो उनके जीवन का अग बन गई, उसके प्रभाव से उनका हृदय आर्द्र हो उठा। उनका जीवन विनम्रता और निरहकारिता का आदर्श बन गया। जैनेन्द्र के अनुसार जैन धर्म किसी विशिष्ट समय मे विशिष्ट व्यक्ति द्वारा नही चलाया गया था। यह तो जीवन-धर्म है। ईसाइयो ने ईसा को ही 'गॉड, अथवा 'ईश्वर' माना है, किन्तु जैनियो ने महावीर स्वामी को अपना आदि पुरुष नही, वरन् चौबीसवा तीर्थकर माना है। उनके अनुसार मनुष्य ही समस्त सासारिक वासनाओ और दोषो से मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त करता है। कैवल्य प्राप्त व्यक्ति ही ईश्वर के सदृश्य है। महावीर स्वामी के तपपूत व्यक्तित्व ने जैनेन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। वे उन्हे अमर विभूति मानते है। उनकी मृत्यु हमे उनसे दूर नही कर सकती।[1]

जैनेन्द्र हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार है। साहित्यकार का भी एक धर्म होता है, उसे साहित्य का धर्म कहते है। साहित्य-सृजन की कुछ निश्चित मर्यादाए होती है, उनसे हटकर साहित्यकार अपने साहित्य के महत्व को अक्षुण्य नही रख सकता। नेतृत्व करना, उपदेश देना अथवा प्रचार करना साहित्यकार का धर्म नही है। यही कारण है कि जैनेन्द्र जैन-धर्म के समर्थक होते हुए भी उसके प्रचारक नही हो सके। जैन धर्मावलम्बियो की यह तीव्र अभिलाषा थी कि जैनेन्द्र जैन-साहित्य की रचना करे अथवा अपने साहित्य द्वारा जैन-धर्म का प्रचार करे। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जैन साहित्य लिखना ही जैन धर्मावलम्बी होने का सूचक नही है।[2] धर्म तो आत्मा का गुण है। वह साहित्य की आत्मा मे व्याप्त होना चाहिए, उसके प्रचार के द्वारा हम अधर्मोन्मुख हो जाते है, क्योकि प्रचार मे आग्रह होता है। प्राचीनकाल के साहित्य पर धर्म की ऐसी छाप पडी कि उसे हम वाङ्मय कह सकते है, साहित्य नही।[3] जैनेन्द्र के अनुसार जिस धर्म के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा होती है, उसका प्रभाव अनायास ही साहित्य मे परिलक्षित होने लगता है। साहित्यकार को उसके लिए प्रयास नही करना पडता, क्योकि प्रयास मे प्रचार का आग्रह रहता है। सच्चा धार्मिक

---

१ जैनेन्द्र 'मन्थन', दिल्ली, १९५३, पृ० २२१।

२ 'क्या जो मै लिखता हू वह साहित्य जैन नही है।...क्या जैन धर्मग्रन्थो मे वर्णित नामावली तथा शब्दावली के प्रयोग से जैन बन जाता है। उस सूरत मे ऐसा भी तो हो सकता है कि वह साहित्य जैन तो हो साहित्य हो ही न।'

—जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', प्र० स०, दिल्ली, १९१५, पृ० ४२।

३. परिप्रेक्ष, पृ० ४२।

स्वय ही उस देश मे रग जायगा। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य मे धर्म-तत्व को ढूढना सरल नही है। बाह्य-वस्तु शीघ्र ही पकड मे आ सकती है, किन्तु पात्रो मे अन्तर्निहित सत्य के ज्ञान के लिए उनकी आत्मा के गुण को समझना आवश्यक है। जैनेन्द्र ने अपने सैद्धान्तिक निबन्धो मे प्रत्यक्ष रूप से जैन धर्म अथवा धर्म के अन्य विविध रूपो का वर्णन किया है, किन्तु स्थूल दृष्टि से देखने पर हम उनकी धार्मिकता का पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त कर सकते। जैनेन्द्र के उपन्यासो मे धर्म के किसी वाद का प्रचार नही किया गया है, उनके पात्रो का जीवन इस प्रकार से ढाला गया है कि वे अपने आचरण मे अपनी धार्मिकता का आभास देते है।

जैनेन्द्र ने जैन धर्म की भाति वस्तु के स्वभाव को ही धर्म माना है, किन्तु व्यक्ति के स्वभाव को ही धर्म मान लेने से धर्म का स्वरूप स्पष्ट नही हो पाता। प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ व्यक्तिगत भिन्नताए होती है तथा उसके प्रत्येक कर्म का धर्ममय होना भी आवश्यक नही है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति या वस्तु की आत्म-प्रकृति को ही धर्म माना है।[१] व्यक्ति के शरीर मे ही उसकी सम्पूर्णता नही रहती, शरीर तो स्थूल और बाह्य रूप है, किन्तु शरीर के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्व आत्मा के रूप मे विराजमान है। आत्मा जड जगत के समस्त बन्धनो से मुक्त है। आत्म-तत्व की प्राप्ति ही जीवन का परम धर्म है। जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास और कहानियो के पात्र उसी आत्मतत्व के साक्षात्कार मे प्रयत्नशील दिखाई पडते है। 'जयवर्धन', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'परख' आदि उपन्यासो मे अह विसर्जन द्वारा आत्मतत्व की प्राप्ति का प्रयास किया गया है। धर्म की पूर्णता अह के विसर्जन मे भी सम्भव हो सकती है। जब व्यक्ति 'पर' के हेतु 'स्व' का त्याग करता है और इस कर्म मे उसकी सच्ची निष्ठा विद्यमान रहती है, तभी उसे अपने कर्म की सार्थकता का अनुभव होता है।

जैनेन्द्र ने धर्म के शास्त्र सम्मत रूप को भी स्वीकार किया है। धर्म शब्द 'धा' धातु से नि सृत है। 'धा' का अर्थ है धारण करना। धर्म की धारणा शक्ति के कारण ही सृष्टि टिकी हुई है। मनुष्य का धर्म सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर उत्तरोत्तर ईश्वरोन्मुख होता है। हिन्दू धर्म मे यह स्वीकार किया गया है कि धर्म की धारणा शक्ति की क्षमता 'आत्मा' मे ही निहित है। अत प्रत्येक कर्म का मूल आत्मकेन्द्रित होना चाहिए और समस्त कर्मों को ईश्वर की

---

१. जैन धर्म को भी इतना जानता हूँ कि वह आत्म धर्म है' —जैनेन्द्रकुमार, 'मन्थन', दिल्ली, प्र० स०, १६५३, पृ० ६१।

प्राप्ति के हेतु ही किया हुआ समझना चाहिए ।[1]

सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना रखते हुए भी जैनेन्द्र ने स्व-धर्म को ही श्रेष्ठ माना है ।[2] जैनेन्द्र का धर्म जैन धर्म है । जैनी होने के कारण जैनेन्द्र स्वय को जैन धर्मावलम्बी मानते है । जैन धर्म के अधिकाश आदर्शों का उन्होने अपने सृजनात्मक साहित्य मे प्रतिपादन किया है । अहिसा, सत्य, अपरिग्रह, आस्तेय, अहशून्यता आदि के उनके उपन्यासो मे स्पष्ट ही दर्शन होते है । स्वधर्म जीवन का आदर्श होते हुए भी सीमित होना चाहिए । जब स्वधर्म को हम असीम मानकर चलने लगते है, तभी सघर्ष उत्पन्न होता है और यह विवादात्मक द्वन्द्व हिसा का पोषक है । अपने धर्म को ही निरपेक्षरूप से महान धर्म मानना उचित नही है, क्योकि जिस प्रकार हमारा धर्म हमे प्रिय है और श्रेष्ठ प्रतीत होता है, उसी प्रकार दूसरे का धर्म उसे भी श्रेष्ठ प्रतीत हो सकता है । जैनेन्द्र जैनी होते हुए भी जैनेतर को अपना भाई समझना चाहते है ।[3] उनके अनुसार जैन धर्मी 'मानवधर्मी' होकर ही सर्वसुलभ और उपयोगी हो सकता है । वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है । सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पडेगा । इसकी जैनेन्द्र को कोई जरूरत नही मालूम पडती ।[4] जैनेन्द्र जैन धर्म की स्याद्वादी विचार-धारा के प्रभाव के कारण ही विविध धर्मों की अनेकता को मिटाने के पक्ष मे नही है । हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म सब सत्य है,[5] किन्तु उन सब की विभिन्नता एक

---

१ (क) गीता मे भी स्वीकार किया गया है—
सद्दश चेष्टते स्वस्या , प्रकृते अपि,
प्रकृतिम् यस्ति, भूतानि, निग्रह, किम् करिष्यति ।
श्लोक ३३, अध्याय २ ।

(ख) —जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', प्र० स०, पृ० १६६, १६७, २१५ ।

२. त्रेयाम् स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वमुष्ठितात् ।
स्वधर्ममिधन श्रेय परधर्मो भयत्वह गीता ॥३५॥ अ० ३ ।

३ —जैनेन्द्र 'मन्थन', पृ० ८१ ।

४ —जैनेन्द्र 'मन्थन', पृ० ८१ ।

५ 'अपना धर्म छोडकर सब धर्मो को एक बनाने की कोगिश बेकार कोशिश है । धर्मो की एकता तो परमधर्म मे ही है ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन', पृ० ८५ ।

परम धर्म मे केन्द्रित हो जाती है और वह है अहिसा[1] पण्डित अपने धर्म को ऊचा कहते है और मौलवी अपने धर्म को। सब का यही विश्वास रहता है कि मेरा धर्म ही ससार से पार दिलाने का एकमात्र सही मार्ग है। उनकी 'समाप्ति' शीर्षक कहानी मे धर्म के नाम पर होने वाले वाद-विवाद का स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। धर्मान्ध आचार्यो के अनुसार 'वैकुण्ठधाम को जो सन्मार्ग पहुचाने वाला है, वह है, जो मेरे धर्म का है। बाकी और पाखण्ड नही तो क्या है।'[2] जैनेन्द्र इस द्वन्द्वपूर्ण मताग्रह को स्वीकार करने के पक्ष मे नही है। उनके अनुसार किसी के धर्म पर आघात करना हिसा है। अपने धर्म के प्रति निष्ठा होने के साथ ही दूसरे धर्म के प्रति भी आदर होना चाहिए। सच्चा धार्मिक व्यक्ति विनम्र होकर ही स्वधर्म पालन करता है।[3]

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म अपने विशुद्ध रूप मे अव्यक्त है, क्योकि वह आत्मधर्म है। आत्मा का हम केवल अनुभव कर सकते है अथवा उसके अस्तित्व का अनुमान लगा सकते है, किन्तु उसे देख नही सकते। किन्तु आत्मा की सार्थकता शरीर मे रहकर ही सम्भव है। अन्यथा वह प्रेत के सदृश्य है। आत्महीन शरीर भी शव ही कहलायेगा। अत दोनो का सहअस्तित्व अनिवार्य है। एक के अभाव मे दूसरे की कल्पना सासारिक दृष्टि से उपयुक्त नही है। मानव जीवन मे रूप-रग, गरीबी-अमीरी, ऊच-नीच आदि नाना विभिन्नताए दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इन बाह्य भेदो को ही सत्य मान बैठता है और समस्त जीवो के प्राणतत्व की समानता के रहस्य को भूल जाता है। इसी अज्ञानता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति मे सघर्ष उत्पन्न होता है। धर्म एक भावनात्मक स्थिति है। भावना स्वय मे निर्बल है। जैनेन्द्र के अनुसार कोरी धर्म-भावना मे इतनी क्षमता नही है कि वह अपने को चिरस्थायी बनाए रख सके। अत धर्म के स्थायित्व के लिए सम्प्रदाय अथवा सस्था का अस्तित्व अनिवार्य है। प्राचीनकाल से आज तक यदि मानव-धर्म स्थायी रह सका है तो वह विभिन्न धार्मिक सस्थाओ, धार्मिक ग्रन्थो आदि मे सन्निहित होकर ही अक्षुण्ण

---

१ 'स्वधर्म मे सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हमको एक परम धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिसा।'

२ —जैनेन्द्र · 'समाप्ति' सम्पा० शिवनन्दनप्रसाद, दिल्ली, १९६९, पृ० २०६।

३ —जैनेन्द्र . 'समाप्ति', पृ० २०७।

४. 'मन्थन', पृ० १९६।

रह सका है । धर्म और सम्प्रदाय आत्मा और देह के सदृश्य अकाट्य बन्धन से बधे है । उनके सम्बन्धो को बाह्य प्रहारो द्वारा नष्ट करना उचित नही है । जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का सस्थाबद्ध रूप ही सामाजिक व्यवस्था के लिए उपयुक्त हो सकता है ।[1]

जैनेन्द्र की धार्मिक विचारधारा समयानुकूल परिवर्तनशील है । युग की परिस्थितियो और मानसिक चेतना के परिवर्तन के साथ यदि उसमे परिवर्तन नही होता तो उसे स्वीकार करना कठिन प्रतीत होगा । सृष्टि के आदिकाल से ही आत्मतत्व के ज्ञान की जिज्ञासा मानव मे विद्यमान रही है । जीवन परिवर्तनशील है । जीवन मे परिवर्तन होने के साथ-ही-साथ व्यक्ति विचारो और मान्यताओ मे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है । धर्म जीवन के विविध अगो का मूलाधार है । अत धर्म के बाह्य रूप सम्प्रदाय और सस्थाओ मे भी अन्तर आना स्वाभाविक है । जिस प्रकार शरीर नश्वर है, एक ही शरीर अनन्तकाल तक एक ही रूप मे विद्यमान नही रह सकता । इसके अतिरिक्त रोगग्रस्त तथा वृद्धावस्था के कारण अर्जित शरीर का नष्ट होना आवश्यक है अन्यथा वह शरीर ही बोझ बन जाता है । उसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदायो की भी एक निश्चित आयु होती है ।[2] समय-समय पर सस्थाओ मे अनेको दोष उत्पन्न हो जाते है । अत धर्माचार्यो द्वारा धर्म के सम्प्रदाय रूपी शरीर का पुनर्निर्माण आवश्यक है । आधुनिक युग विज्ञान का युग है । अब लोगो की बाह्य कर्मकाण्ड मे आस्था समाप्त हो रही है । जैनेन्द्र वर्तमान मानसिक चेतना और परिस्थितियो से पूर्णत अवगत है । उन्हे धर्म की व्यापक शक्ति का पूर्ण ज्ञान है । उनके अनुसार धर्म कर्मकाण्ड मे ही सीमित नही रह सकता । धर्म का स्वरूप युग-विशेष की आवश्यकता पर ही निर्भर करता है, किन्तु धर्म के अस्तित्व को कभी भी नकारा नही जा सकता । धर्म तो आत्म धर्म है, जीवन धर्म है अत उसका रूप शाश्वत है । आत्मा के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता । सभी सम्प्रदाय आत्म-धर्म से युक्त होकर ही सही माने जा सकते है । धर्म-रहित सम्प्रदाय उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे आत्मा रहित शरीर । जैनेन्द्र के अनुसार धर्म के सस्थागत रूप को स्वीकार करने के लिए अहिसा धर्म का पालन आवश्यक है । किसी भी सम्प्रदाय के अस्तित्व पर आघात नही किया जा सकता, क्योकि वे धर्म की प्राप्ति के विविध मार्ग है, जो एक ही लक्ष्य की ओर सतत् अग्रसर हो रहे है । जैनेन्द्र का यह दृष्टिकोण सत्य और उपयोगी प्रतीत होता है । उसमे द्वन्द्व के लिए स्थान

---

१ 'मन्थन', पृ० १६६ ।

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, पृ० ११९ ।

नही रहता। जिस प्रकार विभिन्न नदिया विभिन्न मार्गो से प्रवाहित होते हुए भी सागर मे ही समाहित होती है। उसी प्रकार विभिन्न मतवाद मात्र ईश्वर-प्राप्तक मार्ग ही है। लक्ष्य की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। यदि हम मार्ग मे ही उलझे रह गये तो सत्य की प्राप्ति नही कर सकते। सत्य तो सर्वत्र एक है, चाहे वह भारत मे हो या विश्व के किसी भी कोने मे हो। जैनेन्द्र ने धर्म को व्यक्ति के आचरण तक सीमित करके उसे सामाजिक और विश्वव्यापी बनाने का प्रयास किया है। 'अनन्तर' मे वनानि द्वारा जिस शान्ति-धाम की स्थापना की योजना बनाई गई है, वह धर्म की सकीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक न होकर विश्वव्यापी मानव-धर्म की स्थापना का प्रयत्न प्रतीत होती है।[1] सस्था और सम्प्रदाय मे रहकर ही धर्म-भावना प्रगतिशील हो सकती है। 'अनन्तर' मे शान्ति-धाम किसी खास धर्म या मत का प्रवर्तक न होकर मानव-मात्र की परस्परता को बढाने का एक महत्वपूर्ण साधन है। वस्तुत जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार है। उनके साहित्य मे जहा कही भी उनकी धार्मिकता के दर्शन होते है, वे उनके विचारो की उच्चता और व्यापकता के ही दर्शन कराते है। उनका साहित्य उनके आत्मज्ञान (धर्म) का ही अभिव्यक्त रूप है। आज मनुष्य की स्वार्थमयी दृष्टि ने सम्प्रदायो को दूषित और कलकित कर दिया है। 'सम्प्रदाय' शब्द से ही स्वार्थ की गन्ध आती है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के समर्थको पर नाना आरोप करते है। इस दुराग्रह मे धर्म की मूल सवेदना सम्प्रदाय से छूट जाती है और वे कलह और सघर्ष के केन्द्र बन जाते है। जैनेन्द्र के अनुसार विभेद की विद्रोहात्मक स्थिति अधर्म की सूचक है। पर के लिए स्व का त्याग ही जैन धर्म का मूलाधार है। जैनेन्द्र के अनुसार यद्यपि परम धर्म मानव धर्म अथवा अहिसा धर्म है, किन्तु सामान्यरूप से किसी को किसी विशिष्ट मार्ग पर चलने के लिए विवश नही किया जा सकता। 'अनन्तर' मे जैनेन्द्र ने अपनी इसी सहृदयता का परिचय दिया है।[2] उनके अनुसार मत-

---

१. 'वनानि एक सस्था स्थापित करना चाहती है, 'शान्ति धाम'। देश-विदेश का प्रश्न उसमे न होगा, न किसी खास धर्म या मन्तव्य। उनका विचार है कि अपनी-अपनी सस्कृतियो ने भी मनुष्य की परस्परता मे बाधा डाली है।' —जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर' दिल्ली, १९६८, पृ० ६७।

२ 'हम अपने मन से सबको नापते है। शायद हम विवश है। इसलिए हममे से हर एक को नही चाहिए कि स्वय को लेकर जो भी चाहे हो, दूसरे को उस जैसा रहने दे।'

—जैनेन्द्र 'अनन्तर', पृ० ६७।

भेद स्वाभाविक है, किन्तु अपने ही मत का आग्रह व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के अह का सूचक है। ऐसी स्थिति मे उसका धर्म रूप विनष्ट हो जाता है। धर्म तो व्यक्ति के अह को गला देता है, उसे अत्यधिक विनम्र बना देता है। उसमे द्वन्द का प्रश्न ही नही उठता।[1]

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म के सम्प्रदायगत होने की भी कुछ मान्यताए हैं, उनकी पूर्ति मे ही धर्म के सम्प्रदायगत होने की सार्थकता है, अन्यथा वह समाज मे विषमता और सघर्ष उत्पन्न करने मे ही सहायक होता है। कोई भी सम्प्रदाय धर्मगत होकर अवहेलनीय नही हो सकता, किन्तु आज धर्म-तत्व विलीन होता जा रहा है। केवल निर्जीव शरीर के रूप मे सम्प्रदाय ही प्रचलित है। सम्प्रदाय सत्य की प्राप्ति का साधन है, उसे ही सत्य मानकर हम सत्य से विमुक्त हो जाते है। जैनेन्द्र के अनुसार सम्प्रदाय धर्म को घेरते नही फैलाते है।[2] सत्य का जिज्ञासु व्यक्ति उत्तरोत्तर मौलिक शरीर के बन्धनो से मुक्त होता हुआ आत्मतत्व के रहस्य को जानने मे रत रहता है, भौतिकता उसे घेर नही पाती। उसी प्रकार सच्चा सम्प्रदाय मतवाद के द्वन्द्वो से परे मानव-हित के हेतु स्वय को बन्धन-मुक्त करता जाता है। उसका जीवन मानव सेवा मे ही समर्पित होता है।

वस्तुत जैनेन्द्र ने धर्म के सम्प्रदायगत रूप को स्पष्टत स्वीकार किया है। किन्तु उनकी आस्था मानव-हित मे ही केन्द्रित है। धर्म का गुण मैत्री उत्पन्न करता है। जैनेन्द्र के अनुसार 'धर्म वह है जिसे मानकर बुद्धि मे नम्रता आती है और विद्रोह नही रहता।[3] धार्मिक सम्प्रदायो की यदि धर्म के प्रति आस्था नही है तो वे व्यर्थ हैं। जैनेन्द्र के अनुसार बाह्याडम्बर से अधिक धर्म के प्रति आत्मिक श्रद्धा होनी चाहिए। आज लोगो की धर्म पर से श्रद्धा उठ गई है। मानव जीवन अर्थ और काममय ही हो गया है। यद्यपि अर्थ और काम भी जीवन के पुरुषार्थ है किन्तु उनका भी धर्ममय होना आवश्यक है।

धर्म और विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। सामान्यत लोगो मे विज्ञान के सम्बन्ध मे एक भयावह दृष्टि व्याप्त है। उनके अनुसार वैज्ञानिक आविष्कारो

---

१ 'धर्म जिसे गला देता है, मत उसी को फुलाने लगा।'
—जैनेन्द्र 'अनन्तर', पृ० ८५।

२ जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन', पृ० १७१।

३ जैनेन्द्रकुमार . 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० १३१।

ने जीवन को मशीन के सदृश्य बना दिया है, उसकी आत्मिक शक्ति विलुप्त हो गई है। सामान्यत धर्म और विज्ञान दो विपरीत स्थितिया प्रतीत होती है। धर्म यदि हृदय की वस्तु है तो विज्ञान बुद्धि और तर्क की। धर्म के द्वारा हम आत्मतत्व को जानने का प्रयास करते है और विज्ञान द्वारा ब्रह्माड मे व्याप्त अणु-परमाणु के अन्तर्निहित सत्य को समझने का प्रयास किया जाता है। जैनेन्द्र धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध मे एक नवीन दृष्टि अपनाकर चले हे। उन्होने धर्म और विज्ञान के मध्य की खाई को भरने का प्रयास किया है।[1] उनके अनुसार यदि धर्म आत्मा की वस्तु है तो विज्ञान शरीर की वस्तु है। दोनो का अटूट सम्बन्ध होना चाहिए। जैनेन्द्र के अनुसार आज धर्म का अस्तित्व स्थिर रखने के लिए उसके प्रति सच्ची श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धाहीन धर्म की कल्पना निराधार है। भारत धर्मप्रधान देश है। सामान्यत भारतवर्ष को ही विश्व का एकमात्र धार्मिक प्रतिनिधि समझा जाता है किन्तु सत्यता इस से परे है भारतवासियो मे यह दभ है कि वे अपनी आध्यात्मिकता के कारण ही उद्योग मे पिछडे हुए है, किन्तु यह उनका भ्रम है। धर्म का दिखावा करते हुए भी भारतीयो की आत्मा धर्म से मुक्त हो गई है। जैनेन्द्र अपने युग की इस स्थिति से पूर्णत परिचित है। इसीलिए उनके उपन्यासो मे धार्मिक कर्मकाण्ड आदि के दर्शन नही होते। उन्होने धर्म के जिस रूप को स्वीकार किया है, वह विज्ञानसम्मत है। उनके अनुसार वैज्ञानिक की सत्य के प्रति आस्था कभी भी समाप्त या मन्द नही होती। धर्म मे सत्य के सम्बन्ध मे विविध मतभेद हो सकते है, किन्तु विज्ञान मे सत्य जो है वह है चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो सके या नही। वह सतत् कार्यशील रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक युग मे एकमात्र गाधी ही धर्म के महान वैज्ञानिक हुए है।[2] विज्ञान का विषय 'पदार्थ' है। वह वस्तु के अनासक्त होकर उसके सार तत्व को ग्रहण करने मे प्रयत्नशील है। धर्म मे वस्तु और निज के प्रति अनासक्त भाव के दर्शन होते है। विज्ञान जीवन से ही सबद्ध है। मानव उपयोगिता से पृथक् होकर विज्ञान का कोई महत्व नही है। जैनेन्द्र ने धर्म को विज्ञानमय बनाने के हेतु उसकी आत्मा को हो ग्रहण कियी है। कर्म के प्रति सतत् निष्ठा ही विज्ञान का धर्म है। वस्तु भली है या बुरी इससे विज्ञान का कोई सम्बन्ध नही है। धर्म का यही स्वरूप जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' मे भी व्यक्त किया है।[3] धर्म के विज्ञान-सम्मत रूप को स्वीकार करने मे धर्म

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत' १८९।
२ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत' १९०।
३ 'उपयोगी कर्म मे अपने को भूलकर लगे रहना ही धर्म है।'
—जैनेन्द्र 'कल्याणी', दिल्ली।

के प्रचार का आग्रह नही होता। आग्रह बाह्य जगत् की वस्तु है, किन्तु वैज्ञानिक विज्ञापन से दूर अपनी प्रयोग-शाला मे कार्यरत रहता है। उसकी नवीन खोजो का अनायास ही प्रचार हो जाता है, उसे प्रयास नही करना पडता। जैनेन्द्र इसी तथ्य को दृष्टि मे लेकर धर्म को भी सहज बनाना चाहते है, उसके प्रचार मे उनकी आस्था नही। उनके अनुसार आस्था तो कर्म की धर्ममयता मे होनी चाहिए, प्रचार मे नही, जैनेन्द्र ने एक वैज्ञानिक के सदृश्य 'काश्मीर की यात्रा' मे अपने जीवन को एक प्रयोग माना है।[1]

जैनेन्द्र के अनुसार वैज्ञानिक यदि मानव-धर्म की ओर खिचेगा तो एक ऐसे विश्वास और आस्था का जन्म होगा जो सामान्य प्रचलित अर्थ से भिन्न होगी। विश्वास निश्चित रूप से वह है जो सौ फीसदी तर्काश्रित नही है। वैज्ञानिक की समस्त प्रगति उसके अन्तर मे निहित अटूट आस्था का ही परिणाम है। विज्ञान नितान्त बुद्धि-सम्मत होकर मानव जीवन की उपयोगिता से तटस्थ हो जाता है।[2] विज्ञान की सार्थकता आस्थापरक होने मे है। प्राय ऐसे उदाहरण देखने को मिलते है, जब कि वैज्ञानिक अपनी प्रगति की चरमावस्था मे सत होते हुए देखे जाते है।[3] जैनेन्द्र के अनुसार धर्म आस्था का विषय है, किन्तु कभी-कभी उसमे इतना तर्क-वितर्क उत्पन्न हो जाता है कि धर्म की मूल सवेदना नष्ट हो जाती है। विज्ञान का तर्क बुद्धि सम्मत और सत्य पर आधारित होता है। अध्यात्मवादियो की ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे विविध धारणाए प्रचलित है। जैनेन्द्र ने इस सत्य को अपनी एक कहानी मे कोयले मे आग के अस्तित्व के आधार पर दर्शाया है। तत्वज्ञानी कभी भी अपने सत्य का पूर्ण प्रतिपादन किए बिना सन्तुष्ट नही हो सकता। इस प्रयास मे विवादियो मे मार-पीट तक की भी स्थिति आ जाती है, किन्तु कोई भी हार मानने को तैयार नही होता। जैनेन्द्र धर्म मे बाल की खाल निकालने के पक्ष मे नही है। उनके अनुसार 'मुक्का मुक्की द्वारा तत्व निर्णय ही काल-ज्ञापन का एक उपाय नही है, अन्य भी अनेक कर्म है। जीवन उनसे भी चलता है, बल्कि बहस की जगह उन कामो को करना कुछ कहला सकता है।'[4] जैनेन्द्र की धार्मिक वैज्ञानिकता

---

१ जैनेन्द्र 'काश्मीर की वह यात्रा', पृ० ३९।

२ 'बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नही, बध्या होती है। यह विश्वास बुद्धि का पूरक होता है। वह बुद्धि को नही, केवल उसके दभ को नष्ट करता है और इस तरह केवल उसे नम्रता, नाजुकता ग्रहणशीलता देता है।
—जैनेन्द्र 'समय और हम' पृ० ११७।

३. 'समाप्ति', पृ० ३०४-३०६।

४ जैनेन्द्रकुमार : 'समाप्ति', पृ० ३०५।

का आधार यही कर्मशीलता है, वाद-विवाद नही। जैन धर्म मे अन्यविश्वासो और मिथ्या आडम्बरो का उन्मूलन धर्म के तर्क सम्मत रूप द्वारा ही किया गया है। यहा तर्कजाल न बिछाकर, कोरी भावना मे बुद्धि का समावेश किया गया है।

धर्म और राजनीति

जैनेन्द्र के साहित्यिक-रचना का प्रारम्भिक काल राजनीतिक उथल-पुथल का काल था। चारो ओर गाधी का प्रभाव व्याप्त था। राजनीति को लोग धर्म से निरपेक्ष रखना चाहते थे।[१] उनके अनुसार राजनीति के हिसात्मक धरातल पर धर्म को आरूढ नही किया जा सकता था। गाधी का जीवन आध्यात्मिकता और नैतिकता का स्पष्ट उदाहरण है। उन्होने अपना सारा जीवन देश की राजनीति मे ही लगाया था किन्तु राजनीतिक-परिवेश मे रहते हुए भी वे राजनेता नही थे। वह तो महान् धार्मिक और अध्यात्म पुरुष थे। उनके अनुसार राजनीति जीवन का अग होने के कारण जीवन-धर्म से विमुख नही हो सकती। धर्म-निरपेक्ष राजनीति मे मानव-कल्याण को विशेष प्रश्रय नही दिया जा सकता। उसमे राजनीति का तात्पर्य राजतत्र से लिया जाता है। जैनेन्द्र ने अपने जीवन की आध्यात्मिकता को राजनीति मे ढालने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र गाधी के युग मे ही हुए है। वे गाधी के वाद से बधे हुए नही है, किन्तु युगीन चेतना से वे स्वय को पूर्णत तटस्थ नही कर सके। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म की साधना राजनेता जिस प्रकार सफलतापूर्वक कर पाता है, उतना धर्म का नेता नही।' धर्म भावात्मक है, राजनीति कर्मप्रधान है। धार्मिक सिद्धातो और आदर्शो का सक्रिय और व्यवस्थित रूप ही राजनीति है। जैनेन्द्र के अनुसार सामान्यत धर्म-निरपेक्षता के दो रूप देखने को मिलते है। एक वह रूप जिसमे धर्म के प्रति पूर्ण उपेक्षा भाव रहता है और दूसरा वह जिसमे किसी धर्म-विशेष को न स्वीकार करते हुए भी सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना दृष्टिगत होती है। राजनीति मे जैनेन्द्र ने धर्म के जिस स्वरूप का समावेश करना चाहा है, वह उसका विज्ञानसम्मत रूप ही है। उसमे पूजा-व्रतादि को प्रश्रय न देकर धार्मिक श्रद्धा को विशेष महत्व दिया गया है। 'जयवर्धन' और 'मुक्तिबोध' मे तथा कुछ कहानियो मे उनकी इसी विचारधारा के दर्शन होते है। उनके अनुसार विभिन्न राष्ट्रो मे धर्म-युद्ध की स्थिति ही स्वीकार की जा सकती है।[२] सीमा-

---

१. प० जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी', पृ० ५३१।

२. जैनेन्द्र 'जयवर्धन', पृ० ३९९।

विस्तार औद्योगीकरण के विस्तार के हेतु होने वाला युद्ध पारस्परिक स्नेह को समाप्त कर देता है। जैनेन्द्र के अनुसार सघर्ष की स्थिति केवल सत् और असत्, न्याय और अन्याय के मध्य ही स्वीकार की जा सकती है। ऐसी स्थिति मे युद्ध धर्म भावना से अनुप्राणित होकर परिचालित होता है। क्षत्रिय का धर्म सत्य की रक्षा के हेतु युद्ध करना है। यही उनका धर्म है। जैनेन्द्र व्यक्ति के धर्म को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की सीमाओ से मुक्त कर मानव धर्म के रूप मे देखना चाहते है।[1] वस्तुत जैनेन्द्र व्यक्ति की सार्थकता धर्ममय होने मे ही स्वीकार करते है। उनका विश्वास है कि 'गाधी के बाद हमने भौतिक पर ध्यान दिया है, नैतिक की तरफ दुर्लक्ष किया है, फिर भी उस नैतिक भाषा का उच्चार और उद्घोष करते आए है। ऐसे बाहर और अन्दर की स्थितियो मे फर्क पडा और हमारी साख टूट रही है।'[2] जैनेन्द्र के अनुसार नेता त्याग और सेवा-भाव द्वारा ही धर्मवत आचरण कर सकता है, जो व्यक्ति सेवा के हेतु पद की कामना करते है, वे वास्तव मे दुनिया को धोखा देते है। सेवाभावी के लिए पद का लोभ निरर्थक है, किन्तु राज्य-व्यवस्था के हेतु यदि नेतृत्व आवश्यक ही है तो यह आत्म केन्द्रित होना चाहिए। उसमे शासक की अपेक्षा सेवक का धर्म प्रमुख होना चाहिए।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे अहिंसा

जैनेन्द्र की धार्मिक-दृष्टि व्यक्ति की ही समस्या का समाधान न होकर अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वव्यापी समस्या का समाधान है। उसमे राष्ट्रवाद का निषेध किया गया है। जैनेन्द्र की अहिसक दृष्टि सत्य को सीमित करने के पक्ष मे नही है। उनके साहित्य की आत्मा अह-विसर्जन और अहिसा मे ही निहित है। जैनेन्द्र के अनुसार अहिसा एक अखड सत्य है, यह आत्मिक धर्म है। अहिसा धर्म के लिए कोई अपवाद नही है। क्योकि वह परम धर्म है। परम धर्म तो निरपवाद होता ही है।[3] व्यक्ति, परिस्थिति और देश-काल आदि के भेद से उसके स्वरूप मे कोई अन्तर नही पडता। जैनेन्द्र ने स्वधर्म के पालन पर विशेष बल दिया है। स्वधर्म-पालन के मूल मे उनकी अहिसक नीति ही विद्यमान है।

---

१. जैनेन्द्र · 'कालधर्म' (जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानिया), दिल्ली, १९६६, पृ० २३६—'राज्य मानव धर्म के सिद्धातो के अनुसार चलना चाहिए।' 'काल धर्म', पृ० २३५।
२. जैनेन्द्रकुमार · 'मुक्तिबोध', पृ० ५०।
३ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', १९५६, पृ० १४७।

उनके अनुसार जब तक हम अपूर्ण है, अश है तब तक हमारा धर्म अहिसा है। किसी के धर्म पर चोट करना हिसा ही है। जैनेन्द्र की अहिसक नीति शारीरिक हिसा तक ही सीमित न होकर मन और वर्णागत अहिसा मे भी व्याप्त है।

अहिसा जैनेन्द्र की धार्मिक विचारधारा का मूलाधार है। अहिंसा वह प्राण-तत्व है, जिसमे विमुक्त होकर धर्म टिक नही सकता। जैन धर्म मे अहिसा पर बहुत अधिक जोर दिया है। उनकी अहिंसक नीति तो विश्व-विख्यात है। जैन धर्म मे अहिसा का बहुत काठोरता से पालन किया गया, उसमे लचक नही है। जैनेन्द्र ने अहिसा को मानव-धर्म मे अन्तर्निहित करके रचना की है। जैनेन्द्र के अनुसार अहिसा बाह्याचरण से अधिक आन्तरिक प्रेम और निष्ठा मे विद्य-मान होनी चाहिए। अप्रेम के वशीभूत होकर किया गया प्राणघात ही वास्त-विक हिसा का द्योतक है, अन्यथा देह के मरने या मारने मात्र मे हिसा नही है।[1] कारण, प्रेम ही भगवान् है, वह प्रेम का घात भगवद् घात होगा, हिसा वही है। प्रेम निष्ठा, भगवद् निष्ठा अहिसा है।[2]

जैनेन्द्र ने स्व-धर्म-पालन मे होने वाली हिसा को पाप नही माना है। सामा-न्यरूप से उन्होने जीव हिसा को बहुत बडा पाप माना है। विचारगत चोट भी उनकी दृष्टि मे हिसात्मक ही है, किन्तु स्वधर्म पालन मे वही हिसा व्यक्ति का कर्तव्य हो जाती है, क्योकि स्वधर्म पालन ही मानव-धर्म है। यद्यपि हिसा का यह कर्मनिरपेक्ष दृष्टि से स्वीकार्य नही है, किन्तु सापेक्ष दृष्टि से कर्तव्यच्युत व्यक्ति अधर्मोन्मुख ही समझा जायगा। वस्तुत जैनेन्द्र की विचारधारा गति-शीलता की परिचायक है।[3] उसमे जडता और रूढिबद्धता नही है। कर्तव्य की पूर्ति के लिए हृदय के मधुर भावो का भी उत्सर्ग करना पडता है। जैनेन्द्र की 'निर्मम' कहानी इस बात का स्पष्ट उदाहरण है, उसमे हमे गीता के कर्मयोग और निष्काम भाव के दर्शन होते है। शिवा सैन्य दल की हिसा से घबडा कर अपने हृदय की प्यास को प्रेम के द्वारा तृप्त करना चाहता है, किन्तु गुरु का

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० १४८।
'देह के जीने मरने से उसका (अहिसा का) सम्बन्ध नही है। मै सब बार बार मारू या सैकडो, हजारो, लाखो, करोडो मे, इस सबसे अहिसा का कोई सम्बन्ध नही है। पर अपने भीतर के प्रेम को मरने दू तो मुझसे अपराधी कौन होगा ?'

२. जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० १४८।

३ साम्य गाधी 'गाधी विचार दोहन,' अहिसा का भाव दृश्य परिणामो से अधिक अत.करण की रागद्वेष-विहीन अवस्था मे है।

आदेश उसे कर्तव्यबद्ध कर देता है।[१] यह सत्य है कि प्राचीन काल से ही स्व-धर्म पालन ही व्यक्ति का धर्म रहा है। गीता का समस्त ज्ञान अर्जुन को स्वधर्मोन्मुख करने के लिए ही कृष्ण द्वारा प्रतिफलित हुआ है।[२] जैनेन्द्र की कहानियो और उपन्यासो मे अन्यत्र भी इस कर्मनिष्ठा के दर्शन होते है। उन्होने कर्मनिष्ठा मे भी निष्काम भावना को प्रादुर्भूत करने का प्रयास किया है। निष्काम भाव से किया गया कार्य त्याग और परहित की भावना से मुक्त होता है। कामनायुक्त कर्म मे व्यक्ति स्वहित की ओर अधिक आकृष्ट होता है। इसलिए 'निर्मम' कहानी मे गुरु शिष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हुए कहते है—"जाओ शिव का कर्म करो। शका न करो आकाक्षा न करो।"[३]

जैनेन्द्र के विचार—गांधी और जैन दर्शन

जैन दर्शन का मुख्य सिद्धात 'स्याद्वाद' है। जैनेन्द्र के अनुसार 'स्याद्वाद' अहिसा का बौद्धिक प्ररूपण है। जो भी कथन अपने-आप मे सापेक्ष्य हो वह निरपेक्ष भाव से पूर्ण नही हो सकता। इसलिए कथन के सामने प्रतिकथन भी अनिवार्य है। यह भावना स्यात् की अपेक्षा से आई है। 'स्यात्' के कारण अनेक वाद परस्पर प्रतिकूल न होकर अपनी अपनी जगह भस्म हो सकते है। इसको अनेकात भी कहा गया है। स्याद्वाद मे तनिक भिन्नता यह है कि प्रत्येक कथन स्वय अपने अस्ति और नास्ति दोनो मे वह वस्तु है, इसमे गर्भित है कि 'यह वस्तु नही है।'

स्याद्वाद अथवा अनेकात दोनो बौद्धिक क्षेत्र मे अहिसा की चर्चा के केन्द्र है और यह अहिसा वही मूल तत्व स्व पर बोधक है। इसीलिए स्याद्वाद पर टीका हो सकी है कि वह मन और आचार की शिथिलता का सूचक माना गया है। किन्तु जैनियो ने जितना स्याद्वाद पर बल दिया है उससे कम सम्यक् दर्शन पर नही है। इसमे श्रद्धा की अविचलता का निदर्शन होता है। सम्यक् दर्शन अपस्, अप्त है और हो सकता है। उसमे कही किसी समझौते की आवश्यकता नही है।

---

१ 'जो चीज तुम्हे दु ख पहुचाती है, हिसा वही करने के लिए तुम बाध्य हो। यश-प्रतिष्ठा जिससे तुम भागना चाहते हो वे ही तुम्हे चिपटानी पडती है, किन्तु मैं समझता हू शिव का वह विराट उत्सर्ग का अवसर है। ·· तब जो तुम जैसे विरलो को मिलता है, तुम खोओगे नही।'
—जैनेन्द्र —'जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानिया' (निर्मम), पृ० ४६।

२. गीता—२ अध्याय (श्लोक ११ मे पूरा अध्याय)

३ जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानिया, पृ० ४६।

वह ऊपर से नीचे तक विरोधाभास लगाए हुए है। सम्यक् दर्शन का स्याद्वाद से मेल नही, किन्तु तत्व की भूमिका पर चाहे जैसा विरोध दीखता हो जीवन मे सामजस्य सहज फलित हो सकता है।[१]

जैन दर्शन मे एक ओर दृष्टि की सापेक्षता के दर्शन होते है, तो दूसरी ओर आग्रह प्रधान है। वस्तुत 'स्याद्वाद और सम्यक् दर्शन' परस्पर विरोधी है। यद्यपि जैन दार्शनिको ने व्यावहारिक भूमिका पर सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु तात्विक दृष्टि से उनमे कोई सगति नही है। यही कारण है कि जैनियो की अहिसा का सिद्धात भी सैद्धान्तिक ही रह जाता है। जैनियो के विचार मे बौद्धिक निरूपण अधिक है, श्रद्धा का अभाव है।

गाधी ने 'सत्याग्रह', द्वारा सिद्धात और व्यवहार मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। गाधी दर्शन अद्वैतवाद का पोषक है। जैन दर्शन द्वैतमूलक है। एक मे बौद्धिक अभिमत प्रधान है तो दूसरे मे तात्विक सत्य की प्रधानता है। जैनियो मे बौद्धिक दृढता आती है, गाधी के सिद्धान्त मे कर्म की दृढता आती है, बौद्धिक सकीर्णता नही आती है। जैनेन्द्र के अनुसार जैनी अहिसा की धारणा करुणामयी है। अद्वैत से उद्भूत नही है। इसलिए उसमे जीव दया का अतिरेक भी हो जाता है। जैनी अहिसा मे जीवन की मरणशीलता कम हो जाती है जब कि गाधी जी की अहिसा ऐक्य मूलक है। जैनी अहिसा स्वकेन्द्रित होती है। जैन दर्शन मे 'ये करो, ये न करो' की प्रवृत्ति बहुत अधिक मिलती है। निषेध के द्वारा जीवन की पूर्णता की प्राप्ति नही हो सकती। गाधी दर्शन मे व्यावहारिक जीवन की पूर्णता अथवा ऐक्य के दर्शन होते है। जैन दर्शन मे ग्रहीत अहिसा की जाती है और की जा सकती है, जब कि आस्तिक्य वाली अहिसा बाहर की नही जा सकती है अर्थात् अहिसा कर्म का विशेषण अथवा लक्षण नही रह जाती, प्रत्युत जीवन से तद्गत होती जाती है। उस अहिसा का स्वरूप बाहर से हिसा जैसा ही लग जाए तो असम्भव नही है। किन्तु जैन दर्शन मे हिसा को किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही किया जा सकता। गाधी दर्शन मे अद्वैत भाव की प्रधानता है जिसके कारण 'स्व पर' मे कोई अन्तर नही है। 'पर' को कष्ट से मुक्त करने मे 'स्व' द्वारा हिसा नही, वरन् अपरोक्षरूप से धर्म का ही सेवन होता है। गाधी जी ने अपने रुग्ण, मरणासन्न बछडे के कष्ट को असहनीय समझकर उसे जीव-मुक्ति देने मे ही धर्म का अश स्वीकार किया, किन्तु जैन धर्मी कभी भी ऐसा नही कर सकता।

जैनेन्द्र के साहित्य मे 'हत्या' शीर्षक कहानी उपरोक्त तथ्य की सत्यता को

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर।

प्रमाणित करने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। उसमे लेखक ने एक ओर पूर्ण अहिसक अर्थात् जैनी की 'स्व पर' मूलक करुणा की ओर इगित किया है तो दूसरी ओर आस्तिकता प्रधान अद्वैतमूलक सत्य की ओर सकेत किया है। अन्त मे अद्वैतवादी व्यक्ति आस्तिक होते हुए भी 'घोडी' की जीवनमुक्ति मे धर्म की झलक देखता हुआ उसे अपनी गोली का शिकार बना लेता है। घोडी के मालिक ओवरसियर के हृदय मे अपनी पुरानी घोडी के लिए घर के आत्मीय सम्बन्धियो के सदृश्य ही अपार प्रेम है। वे उसके कष्ट को देखकर बहुत दुखी रहते है किन्तु दूसरे अग्रेज सज्जन के हृदय मे भी दया कम नही है। किन्तु उनकी दया घोडी को मरता हुआ नही रहने देना चाहती।[1] इस प्रकार उपरोक्त घटना द्वारा गाधी की अहिसा और जैन दर्शन की अहिसा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जैनेन्द्र पर गाधी की ही अहिसा का प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र ने भी कर्म से अधिक भावना पर बल दिया है। उनकी दृष्टि मे 'स्व-पर' भिन्न नही है। इसलिए 'पर' की दुख से मुक्ति अनिवार्य है।

जैनेन्द्र-साहित्य मे अहिसा विविध सन्दर्भो मे दृष्टिगत होती है। उन्होने अपने उपन्यास के पात्रो के चित्रण मे अपनी पूर्ण अहिसक नीति का ही परिचय दिया है। वे किसी के हृदय के प्रेम को चोट नही पहुचाना चाहते। उनके पात्र स्वय तिल-तिल कर मर जाते है किन्तु अपने कारण किसी को कष्ट नही देते। 'परख' मे कट्टो तथा 'त्यागपत्र' की मृणाल उनके ऐसे ही पात्र है, जिनका जीवन कष्ट झेलने मे ही बीतता है। 'परख' अपने प्रेमी पात्र की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। वह नही चाहती कि उसके कारण उसके प्रेमी को कष्ट हो। 'त्यागपत्र' मे मृणाल का जीवन व्यथा से पूर्ण है। किन्तु अपनी व्यथा को वह बाटना नही चाहती। वह नही चाहती कि उसके कारण उसका भतीजा कष्ट पाये। इन दोनो उपन्यासो मे जैनेन्द्र ने निज की व्यथा को सहने मे ही अपनी अहिसक नीति का परिचय दिया है। 'सुखदा', 'विवर्त' मे भी जैनेन्द्र ने सुखदा और भुवन मोहिनी के पति को उनके प्यार की रक्षा के हेतु कष्ट सहते हुए दिखाया है, किन्तु उपरोक्त उपन्यासो मे इन उपन्यासो की स्थिति मे अन्तर है। उनके त्याग की चरम सीमा थी, त्याग सहर्ष था, किन्तु इन उपन्यासो मे पुरुष पात्रो की दुर्बलता का ही परिचय मिलता है। यदि यह कहा जाय कि वे अपनी अहिंसक नीति के कारण पत्नी के मार्ग मे बाधा नही उत्पन्न करते तो उचित नही प्रतीत होगा। 'सुखदा' और 'विवर्त' के पुरुष पात्र बहुत कायर से प्रतीत होते है। अहिसा साहस मे है, विवशता मे नही।

---

१ जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० ८५।

अपरिग्रह

जैनेन्द्र ने अहिसा के अतिरिक्त अपरिग्रह, सेवा, त्याग आदि भावो को भी जीवन की धर्ममयता के लिए आवश्यक माना है। अहिसा मे ही अपरिग्रह गर्भित होता है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक जो परिग्रही प्रवृत्ति देखने को मिलती है, वह मनुष्य की परिग्रही प्रवृत्ति का ही परिणाम है। अधिक से अधिक बटोरने की अभिलाषा से ही हम एक-दूसरे की वस्तु का अपहरण करते है और इस छीन-झपट मे हिसा का प्रवेश स्वाभाविक है। वस्तुत जीवन की अहिसात्मक नीति के लिए अपरिग्रहिता अनिवार्य है। जैन धर्म मे अति सचय की प्रवृत्ति का निषेध किया गया है और दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस दृष्टि से बहुत ही कठोर है। उनकी अपरिग्रही दृष्टि जीवन को बहुत ही सादा और नीरस बना देती है। बाह्य-शुष्कता मन की समस्त कोमल भावनाओ को नष्ट कर देती है किन्तु अहिसक के लिए सहृदय होना आवश्यक है। जैनेन्द्र अपने जीवन और साहित्य मे मध्यम मार्ग को अपना कर चले है। उनके अनुसार ईश्वरोन्मुख को छोडकर किसी भी मार्ग की एकोन्मुखता स्वाभाविक नही है। धर्म हृदय की वस्तु है अत अपरिग्रह की भावना हृदय मे प्रादुर्भूत होनी चाहिए, क्योकि प्राय बाह्य जीवन मे अपरिग्रही दिखाई देने से व्यक्ति की वस्तु के प्रति बहुत अधिक आसक्ति होती है। अत अनासक्त भाव से ग्रहण की गई कोई भी निधि व्यक्ति को उसके धर्म से नही गिरा सकती। जैनेन्द्र के अनुसार 'अपरिग्रह की कृतार्थता वस्तु के अछूते रहने मे नही है, वस्तु के मध्य खुले रहने मे है।'[1] वस्तुत जैनेन्द्र ने किसी भी सिद्धात का अन्धानुकरण नही किया है। उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति मे मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ के दर्शन होते है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब वस्तु या किसी प्रवृति पर अत्यधिक दबाव डाला जाता है तो उसमे विस्फोट होना स्वाभाविक होता है। जिस कार्य का अधिक से अधिक निषेध किया जाता है उस कार्य की ओर उन्मुख होने के लिए हम अधिक लालायित रहते है। धन के या वस्तु के अतिनिषेध से उसकी कामना बढती ही जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार हमारी प्रवृत्ति सहज होनी चाहिए। उनके अनुसार जैनियो की अतिअपरिग्रहता का ही परिणाम है कि आज अधिकाश जैनी निरपवाद भाव से वैश्यवर्गी है। जैन धर्म के मूल सिद्धात और जैनियो के वर्तमान जीवन मे बहुत अन्तर है और यह स्थिति स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के अनुसार यह आवश्यक नही कि जगल मे रहने वाला व्यक्ति

---

१ जैनेन्द्रकुमार : 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ११०।

अपरिग्रही हो ।[१] उसकी तृष्णा नही समाप्त होती । विवशता मे वस्तु का अभाव अपरिग्रह नही है । जब की वस्तु के होते हुए भी उसमे वासना नही होती तभी अपरिग्रह के वास्तविक रूप का प्रतिपादन होता है । अपरिग्रह अभावात्मक नही, वरन् सद्भावात्मक स्थिति है ।[२] जैनेन्द्र के उपन्यासो और कहानियो मे उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति विविध सन्दर्भो मे द्रष्टव्य है । जैनेन्द्र के जीवन मे भी उनकी अपरिग्रहिता के दर्शन होते है । सदैव कम-से-कम मे ही वे कार्य करने मे सन्तुष्ट रहते थे । उनका जीवन आडम्बर से दूर नितान्त सादा है । उनके अनुसार त्याग मे अहशून्यता होनी चाहिए । सर्वसुख का त्याग करने वाले व्यक्ति मे भी यदि अपने इस कर्म का बोध बना रहता है और वह यह सोचता है कि मेने यह त्याग किया है, तो वह कभी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नही कर सकता । 'बाहुबली' मे बाहुबली समस्त राज्य-सुखो को त्यागकर भी कैवल्य गति नही प्राप्त कर पाता, किन्तु उसका भाई चक्रवती भरत राज्य भोग करता हुआ भी सहज ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । वह ससार मे रहकर भी अनासक्त, विनम्र और निरहकारी होता है, किन्तु बाहुबली को अपने तप और अविजित होने का बोध बना रहता है, जब वह अपने त्याग की महत्ता को भूल जाता है तभी वह मुक्त पुरुष बन जाता है।[३] 'लाल सरोवर' मे वैरागी अत्यधिक विनम्र है वह अपने महत्व से अनभिज्ञ है । त्याग, सेवा और परहित की भावना उसमे कूट-कूट कर भरी हुई है । उसे धन की आवश्यकता नही है, अत उसकी (धन की) प्राप्ति उसे कष्ट देती है, क्योकि धन समस्त अनर्थो का मूल है ।[४] परिग्रह यदि मानव-हित की भावना से किया जाता है तो यह स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु स्वार्थान्ध व्यक्ति की परिग्रही प्रवृत्ति सघर्ष का कारण है ।

सामान्यरूप से जैनेन्द्र ने धन के प्रति अनासक्ति मे ही अपरिग्रह के आदर्श की कल्पना की है, किन्तु भावना की पवित्रता के साथ ही साथ कर्मण्यता की भी आवश्यकता अपरिहार्य है । जैनेन्द्र अपने जीवन मे अधिक कर्मशील नही रहे है । जो कार्य ऊपरी दबाव के कारण हो जाता, उतना ही उनके लिए पर्याप्त होता है । अपनी ओर से वे अधिक सचेष्ट नही है । उनके साहित्य मे भी इसी प्रवृत्ति

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १११ ।

२ जैनेन्द्र 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १११ ।

३ 'बाहुबली' 'जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियां', पृ० १७८ ।

४. 'बाहुबली' 'लाल सरोवर', पृ० १७८ ।
"अनेकानेक अनर्थो का मूल यह स्वर्ण कहा मुझमे आ गया । हे भगवान्, मुझको ऐसा कठोर दण्ड तुमने क्यो दिया ?", पृ २६३ ।

के दर्शन होते है । किसी के ऊपर आश्रित रहकर किसी प्रकार जीवनयापन करना अपरिग्रह नही, वरन् व्यक्ति की असली मनोवृत्ति का ही परिचायक है । जैनेन्द्र के मामा भगवानदीन के जीवन पर जैन धर्म के आदर्शो की गहरी छाप देखने को मिलती है, जैनेन्द्र उनके प्रभाव से मुक्त नही है । 'काशमीर की वह यात्रा' उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है । भगवानदीन के आदेश से अमरनाथ की यात्रा मे वे अपने पास का एक-एक पैसा त्याग देते है । मार्ग के खर्च के लिए वे ईश्वर के आश्रित रहते है । उन्होने वहा अपने जीवन को साधु के जीवन मे ढालने का प्रयास किया था । यद्यपि साधु गृहस्थ धर्म के बन्धनो से मुक्त होकर दूसरो के सहारे जीवनयापन कर सकता है, किन्तु साधु के जीवन और गृहस्थ जीवन मे अन्तर है । धर्म समाज-सापेक्ष है । असामाजिक होकर धार्मिक व्यक्ति के कर्तव्यो की कोई सार्थकता नही है । ससार मे रहकर जीवनयापन के लिए धन का सग्रह आवश्यक है, किन्तु जैनेन्द्र एक स्थल पर कहते है—'कमाई एक चिन्ता का चक्कर है ।···सोचा कि जीवन वह जीकर देखना चाहिए, जहा स्वय जीविका प्रश्न न हो और आस्तिक चिन्ता का विषय न हो । वह जीवन बन्धन से हीन होगा और मुक्ति का क्या अर्थ है ?'[1] किन्तु जीवन के सघर्ष से घबडा कर ससार से मुक्ति लेने वाला व्यक्ति कभी भी महान नही हो सकता । मनुष्य का पुरुषार्थ कर्मशील होने मे है । 'अनन्तर' मे भी एक स्थल पर ऐसे ही विचारो के दर्शन होते है— 'तुम जैसी कोई जो पैसे से समर्थ हो और मै उसकी सेवा पर होकर सर्वथा अपरिग्रही बन जाऊ···'[2] उनके इन विचारो से यह स्पष्ट व्यक्त है कि जैनेन्द्र ने 'अनन्तर' मे प्रसाद को धन के प्रति आसक्त होते हुए भी अपरिग्रही होने के हेतु प्रयत्नशील बनाया है । सम्भवत यह जैनेन्द्र की अनिश्चित विचारधारा का ही परिणाम है । प्राय उनके सिद्धान्तो और पात्रो के आचरण मे भिन्नता मिलती है । स्वय धन के लिए प्रयत्नशील न होना पडे, क्योकि परिग्रह की प्रवृत्ति प्रयत्न मे से उत्पन्न होती है ।[3] किन्तु धन किसी-न-किसी स्रोत से बहकर आता रहे । इस प्रकार भावना और कर्म दोनो मे दोष उत्पन्न हो जाता है । उपर्युक्त उद्धरण को देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि वह जैनेन्द्र के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करता, वह किसी सामान्य पात्र द्वारा व्यक्त विचार होगे, क्योकि उनके जीवन और

---

१. जैनेन्द्र कुमार 'काश्मीर की वह यात्रा', पृ० ६७ ।
२. जैनेन्द्र कुमार 'अनन्तर', पृ० ६१ ।
३. 'सास हम अनायास लेते है । उसके लिए प्रयत्न करना पडता है तब उसे सास का रोग कहते है ।' —जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन' ।

अनन्तर के प्रसाद के जीवन और विचारो मे कोई अन्तर नही है।

जैनेन्द्र के विचारो के सम्बन्ध मे एक निश्चित धारणा नही निर्धारित की जा सकती। उनके साहित्य का सैद्धान्तिक पक्ष उनके गभीर चिन्तन-मनन का परिणाम प्रतीत होता है, किन्तु उनके साहित्य सृजनात्मक पक्ष के यत्र-तत्र उनके सिद्धातो का अनुसरण नही हो पाया है। जब वे सिद्धात और रचना मे साम्य स्थापित करके चलते है तभी उनके विचारो मे परिपक्वता के दर्शन होते है। अपरिग्रह धर्म का अनिवार्य अग है। आदिकाल से ही ऋषि-मुनियो के जीवन और तत्कालीन साहित्य मे हमे अपरिग्रही प्रवृत्ति के दर्शन होते है, किन्तु समय के साथ उसके प्रयोग के ढग मे अन्तर आना स्वाभाविक था। राजा-महाराजाओ के युग मे समस्त सत्ता तथा अर्थ का केन्द्रीयकरण राजा के नियत्रण मे होता था, किन्तु प्रजातत्र मे सत्ता या धन व्यक्ति की केन्द्रित नही हो सकता। गाधी जी ने इसीलिए एक नवीन मार्ग का प्रतिपादन किया है। जैन तीर्थंकर की कठोर अपरिग्रहिता से पृथक् गाधी जी की अपरिग्रही नीति ट्रस्टीशिप पर आधारित है। जैनेन्द्र के अनुसार इस नीति के पालन द्वारा अपरिग्रही का धर्म भी पूर्ण हो जाता है और सामाजिक आवश्यकताओ पर आघात नही पहुचता। उनके अनुसार जिस प्रकार मानव-शरीर की सार्थकता समष्टि की सेवा और कल्याण मे निहित होने मे है, उसी प्रकार व्यक्ति का धन समष्टि की आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन होना चाहिए। गाधी जी का जीवन अपरिग्रहिता का महान उदाहरण है, फिर भी उन्होने कभी मिलते हुए धन को अस्वीकार नही किया। जहा से भी धन मिला वे सचित करते रहे, उन्होने एक-एक पैसे का हिसाब रखा। जैनेन्द्र के विचारो पर गाधी की ट्रस्टीशिप का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'अनन्तर' मे जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि गाधीजी से पूर्णत प्रभावित प्रतीत होती है।[1] उनके अनुसार धन का सग्रह पाप नही है, यदि व्यक्ति की उसके प्रति कोई वासना न हो। धन का सग्रह सार्वजनिक हित के लिए होना चाहिए। आजकल जिस प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय आस्थाहीन हो गये है, उसी प्रकार बहुत से स्वार्थी व्यक्ति सार्वजनिक धन के स्वार्थ-साधन चाहते है। जैनेन्द्र ने सार्वजनिक राशि को व्यक्तिगत स्वार्थ से पृथक् रखने का

---

१ 'गाधी जी ने सब राजाओ को समाप्त करना चाहा था। और वह चाहते वैसे आप ट्रस्टी बने ही है। भीतर से अनासक्त है, तो प्रजा की ओर से आपको मिला यह ट्रस्ट प्रजा का हित ही करेगा और आपकी आत्मा का भी अहित नही करेगा' —'अनन्तर', पृ० ११६।

प्रयास किया है।[१] 'अनन्तर' मे शान्ति धाम की स्थापना के हेतु सहायता, अमीरो के खजाने से प्राप्त होती है।[२] जैनेन्द्र धार्मिक सस्थाओ अथवा अन्य जन हित-कारी सस्थाओ के हेतु प्राप्त होने वाले धन के मूल मे आस्था के अभाव अथवा अविनय को नही स्वीकार करते, उनके अनुसार दबाव अथवा गर्व की भावना से दिया गया धन धार्मिकता पर आघात करता है।[३]

वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार अपरिग्रह धर्म-नीति का अनिवार्य अग है। अपरिग्रही आचरण द्वारा हमे जीवन के सत्य का बोध हो सकता है। ससार मे कोई कुछ लेकर नही आता और न कुछ साथ लेकर जा सकता है। वस्तु या धन के सग्रह मे व्यक्ति का मैं प्रबल हो उठता है। 'यह मेरा है', 'यह तेरा है' यही भावना सघर्ष की प्रेरक बनती है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना के लिए अपरिग्रह को आवश्यक माना है। अपरिग्रह द्वारा हम बिना रक्त क्राति के साम्यवाद की स्थापना कर सकते है। जैनेन्द्र के अनुसार ससार मिथ्या है, मानव-शरीर नश्वर है। अत सचय की प्रवृत्ति निरर्थक ही सिद्ध होती है।[४] अपार धनराशि के होते हुए व्यक्ति स्वय को उस समस्त राशि मे फैला नही सकता। धन का गर्व उसके अह को फुला सकता है किन्तु शरीर तो सीमित ही रहता है। जैनेन्द्र जीवन को तत्वज्ञानी के सदृश्य समझने का प्रयास करते है। उनकी दृष्टि मे परिग्रह परहित मे सन्निहित होकर ही सार्थक है, अन्यथा उसका कोई महत्व नही है।[५]

---

१ 'अनन्तर'—'आप लोग सार्वजनिक पैसा रखते है, जिसमे मेरा हक नही पहुचता और इसलिए पैसा मुझे पास लेना पडता है।', पृ० १४१।

२ 'रुपया जिसके पास गया उसका है' '। जी नही, समाज का है और धन-वाले सिर्फ खजाची है कि आज जो सेवक है उनके हुक्म पर रुपया देते रहे।' —'अनन्तर', पृ० १६१।

३ 'अनन्तर', पृ० १६०।

४ 'पदार्थो को बटोर कर उनके बीच हमने रुकना चाहा, यही हमारी भूल है। क्या कोई कभी रुक सका है ?' —जैनेन्द्र . 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० २३४।

५ 'जिसके पास सब कुछ है, वही उस सब जो कुछ को छोडकर दो हाथ भर जगह ही बस अपना सका है। बिछी खाट पर गृहपति का अस्तित्व कितने सक्षेपस्थ मे समाप्त मालूम होता है। बाकी जो कुछ है सो उसका होने के लिए नही है बाकी सब कुछ उससे पराया है। उसकी निजता इससे आगे नही है।—जैनेन्द्र 'वह अनुभव' (जैनेन्द्र की कहानिया), पृ० १२७।

परहित

जैनेन्द्र के अनुसार मानव-धर्म परहित की भावना पर आधारित होना चाहिए, उसमे अह विसर्जन के भाव सन्निहित होने चाहिए। जैनेन्द्र धर्म मे तप अथवा काया-क्लेश को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग माना गया है। उनकी धारणा है कि शरीर को अधिक-से-अधिक कष्ट देकर व्यक्ति इन्द्रियो को सयमित कर लेता है, उसकी सासारिक विषयो मे बासना नही रहती। जैनेन्द्र के अनुसार हमारा ध्यान, जो त्याग किया है, उसकी ओर न केन्द्रित होकर, जिसे प्राप्त किया है, उस ओर केन्द्रित होना चाहिए। शरीर व्यक्ति की सम्पत्ति नही है, उसे समष्टि की सेवा मे रत होना चाहिए। धर्म सामाजिक कृत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार जो लोग ससार से विरक्त होकर धार्मिक होने का प्रयास करते है, वह उनका ढोग है।

जैनेन्द्र के अनुसार काया-क्लेश के द्वारा हम अपनी आत्मा के रस को सुखा देते हैं। बूद का अस्तित्व समुद्र की अपेक्षा मे ही सम्भव है। समुद्र से पृथक् होकर उसका अस्तित्व स्थिर रही रह सकता।[1] जैनेन्द्र के अनुसार जैन धर्म मे 'तप' ही कैवल्य प्राप्ति का मार्ग है। महावीर स्वामी ने तप द्वारा कैवल्य गति प्राप्त की थी, किन्तु वे तपस्या के बाद स्वय के न रहकर, समष्टि मानव बन गये थे। वे एक महान विभूति थे। वे अपवाद है। सामान्यत कायिक तपश्चर्या अह के पोषण मे सहायक होती है। 'बाहुबली' मे बाहुबली अपने तपश्चर्या-काल मे ससार से विरक्त होकर जिन वन मे काया को क्लेश दे रहे थे। किन्तु व्यक्ति की महानता उसके ससार के प्रति सुगम होने मे है, ससार उससे लाभान्वित हो सके यही उसका धर्म है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने 'बाहुबली' को मानव धर्मी बनाने के हेतु उसे तपस्या से विमुख कर जनहित की ओर केन्द्रित किया है।[2] तपस्या से मुक्त होकर वे मानव हो जाते है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत' दिल्ली १९६२, पृ० १९९।
'काया क्लेश की उग्रता को जब तपस्या और साधन माना जाता है तो उसके नीचे धारणा यही है कि व्यक्ति स्वय अपना है, वह अपने को सुखा सकता, गला सकता है, मार सकता है, वह स्वय मे अपने को मुक्त कर सकता है। शेष अन्य पर हैं, वह स्वय स्वय है। यह एकान्तिक धारणा व्यक्ति को अपने सदर्भ से तोड़ देती है।'

२. 'मैं सब के प्रति सदा सुप्राप्त होने की स्थिति मे अब रहूगा··· बाहुबली ने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थिया सब खुल गई थी। अब उन्हे किस ओर से बद रहने की आवश्यकता थी? वे चहु ओर खुले सब के प्रति सुगम रहने लगे थे।' —'बाहुबली', पृ० १७९।

वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का वास्तविक रूप 'स्व' के विसर्जन मे ही निहित है। आदिकाल से ही जितनी भी महान आत्माए हुई, उनका जीवन परहित के लिए ही समर्पित रहा है।[1]

जीवन में धर्म की आवश्यकता

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म जीवन का अनिवार्य अग है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।[2] मोक्ष जीवन का लक्ष्य है। अर्थ और काम जीवन के दो तट है, इन दोनो तटो के मध्य धर्म रूपी सरिता का प्रवाह ही जीवन को सफल बना सकता है। मानव जीवन के समस्त कर्मो की सार्थकता उसके धर्ममय होने मे है। किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे मानव जीवन धर्म से कटता जा रहा है। धन और उसका भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया है। धन के ठेकेदार लोग बडी से बडी इण्डस्ट्री का निर्माण करते है, पैसा उनके पास खिचता आता है। उनका शरीर फूलता जाता है, किन्तु आत्मा सूखती जा रही है। मशीन के युग मे वे मशीन के सदृश्य ही निर्जीव होते जा रहे है। आज का साहित्यकार भी जीवन के यथातथ्य चित्रण मे ही रत है, उसी मे उसे आनन्द मिलता है, किन्तु साहित्य का उद्देश्य कोरा यथार्थोन्मुख होने मे नही हो सकता। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास और कहानियो मे अधिकाशत ऐसे लोगो का चित्रण किया है, जिनके लिए अर्थ और काम प्रमुख है, धर्म का उन्हे कोई ज्ञान नही है, और न ही उसके प्रति उनमे कोई जिज्ञासा ही है।[3]

'विवर्त', 'कल्याणी', 'अनन्तर', 'मुक्तिबोध' आदि उपन्यासो मे उन्होने अर्थलिप्सु व्यक्तियो का चित्रण किया है। पाश्चात्य सभ्यता के रगे हुए उनके पात्र भारतीय धर्म की आत्मा से मुक्त है। 'अनन्तर' मे जया अति मौलिकता से घबडाकर ही 'शाति धाम' की स्थापना करती है। उसके अनुसार ···जीवन भोगाभिमुख होता जा रहा है—उसने सकल्प बाधा है कि इस गिराव को

---

१ 'परहित सरिस धर्म नही भाई, पर पीडा सम नहि अब भाई।'
—तुलसीदास 'रामचरितमानस'।

२. जैनेन्द्र 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० २६५।

३ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर',—'ये धाम धाम (शाति धाम) मै नही समझता। जिसमे रहता हूं वही समझता हू। रुपया समझता हू। यह भी समझता हू, कि सब मुझे उसी के लिए समझते है। मुझे और कुछ से मतलब नही है।'

रोकना होगा, जीवन को उसकी सही धुरी पर फिर से निष्ठ और प्रतिष्ठ करना होगा।[1] वैज्ञानिक सुविधाओ के आधार पर विश्व-चिन्तन[2] का भार अपने ऊपर धारण किए हुए ऊपर से मजिल खडी होती जा रही है किन्तु अन्दर से उसका जीवन नीव रहित होता जा रहा है। जैनेन्द्र के अनुसार 'धर्म आवश्यक है, उसी तरह जैसे मकान के लिए नीव आवश्यक होती है। कर्म की सफलता के लिए धर्म की स्थिरता जरूरी है।' विचारो के मूल मे धर्म का निवास अनिवार्य है। जैनेन्द्र की आध्यात्मिक चेतना स्व-कल्याण मे ही केन्द्रित न होकर विश्व-कल्याण की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। उनके अनुसार 'धर्म से निरपेक्ष होकर जगत जो धडाधड उन्नति करता जा रहा है, उससे सकट टलता नही दीखता, बल्कि कुछ बढ ही रहा है।··· धर्म की इसीलिए जरूरत है कि वह उन्नति की बागडोर अपने हाथ मे ले।'[3] जैनेन्द्र ने आधुनिक युग मे जीवन को धर्ममय बनाने के लिए विज्ञान के धर्म सम्मत रूप को ही स्वीकार किया है। विज्ञान का सत्य सर्वत्र अपवाद रहित है, उसमे सघर्ष की स्थिति होने की सम्भावना कम रहती है। 'अनन्तर मे उन्होने धर्म के विज्ञान-सम्मत स्वरूप को ही स्वीकार किया है। धर्म का विज्ञान सम्मत रूप व्यक्ति को कर्मशील बनाने मे सहायक होता और उसके धर्ममय होने के कारण आध्यात्मिकता का भी पोषण होता जाता है।

जैनेन्द्र के अनुसार सच्चा धर्म वही है जिसमे अन्तश्चेतना और आन्तरिक आह्लाद बढता हुआ मालूम हो। जिसमे चित्त सिकुडता, सिमटता हो वही

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ५६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ४१ —'इधर अध्यात्म का स्थान क्रमश· विश्व और जीवन चिन्तन क्रमश लेता जा रहा है।

३ (क) जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० १९८।

(ख) 'विज्ञान मान लेता है कि जो है है। उससे झगडता नही उसके मार्ग मे उतरता है। ऐसे तथ्य को लेकर तह मे जाता है और उसी मे सतह से दूर हटता-हटता सत्य के निकट पहुच जाता है। ऐसे, मानो कार्य के भीतर कारण को पकड लेता है। इससे घटना की हानि नही होती, ज्ञान की वृद्धि होती है। लगता है कि कर्ममय जगत मे उपराम पाकर यदि इसी तरह मनोमय जगत मे उतरा जाये तो हानि नही होगी, वरन् कर्मण्यता के हित मे कुछ लाभ ही होगा।'

—'अनन्तर', पृ० ९६।

अधर्म है।[१] धर्म का भाव आत्मा के पोषण मे ही फलित होता है। वस्तुत. जीवन मे जिन कार्यो से आत्मतुष्टि और आनन्द की वृद्धि होती है वही धर्म है। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए 'स्व' का विसर्जन अनिवार्य है। 'स्व' स्वार्थ से युक्त होकर 'पर' का निषेधक अथवा शोषक बन जाता है। धर्म आत्मा के विस्तार मे है। 'स्व' जितना अधिक 'पर' की ओर उन्मुख होता है उतनी ही उसमे त्याग और समर्पण की भावना जाग्रत होती है। चित्त के सिकुडने अर्थात् स्वकेन्द्रित होने से स्वार्थी वृत्ति ही विकसित होती है। 'स्वार्थ' धर्म का शत्रु है। धर्म का मूल परहित मे समाहित होना चाहिए।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे मोक्ष

मानव जीवन मे धर्म का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। भारतीय दर्शन मे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चतुष्टय द्वारा जीवन की पूर्णता की ओर इगित किया है। धर्म जीवन का आधार है, नीव है, जिस पर जीवन रूपी मजिल आधारित है। मानव जीवन सतत यात्रा है। मोक्ष की प्राप्ति ही मजिल है। भारतीय दार्शनिक ने मोक्ष प्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया है। मोक्ष जीवन की अन्तिम पहुच है, जहा पहुच कर जीवन के सारे कर्म बधन छूट जाते है और वह कर्मशून्य अर्थात् निस्पृह हो जाता है। अद्वैतवादी शकर की मुक्ति का स्वरूप एक ही महावाक्य मे समाहित है। 'अहम् ब्रह्मास्मि, जीव बसैव वापर' जैनधर्मी कैवल्य की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानते है। जैन धर्म मे जीव और पुद्गल के सयोग को ही बन्धन माना गया है। अत जीव का पुद्गल से वियोग ही मोक्ष माना गया है। पुद्गल से वियोग तभी हो सकता है, जब नये पुद्गल का आश्रय बद हो और जो जीव मे पहले से ही प्रविष्ट है वह जीर्ण हो जाय। पहले को सवर और दूसरे को निर्जरा कहते है।

विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक 'विचार पोथी' मे मोक्ष के सम्बन्ध मे कहा है—'आत्मदर्शन मोक्ष का आस्वाद लेना है। परमात्म दर्शन मोक्ष का पेट भर भोजन करना है। पहली बात का अनुभव इसी देह मे हो सकता है, दूसरी का देहात के अनन्तर।'

उपरोक्त विभिन्न दार्शनिको के सदृश्य जैनेन्द्र ने भी ब्रह्म जीव आदि तात्विक विषयो का विवेचन करने के साथ 'मोक्ष' अथवा मुक्ति पर भी अपने विचार व्यक्त किए है। किन्तु जैनेन्द्र के तात्विक विचार कोरी दार्शनिकता से पोषक न होकर व्यवहार सम्मत है। उन्होने जीवन की यथार्थता से विमुख होकर किन्ही

---

१. जैनेन्द्रकुमार . 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० १३१।

सिद्धातो की प्रतिष्ठा नही की है। परम्परा के सस्पर्श मे रहते हुए भी वे परम्परागत विचारो से बधे हुए नही है। उनकी मोक्ष सम्बन्धी धारणा नितान्त मौलिक है।

जैनेन्द्र मोक्ष को मजिल न मानकर सफर मानते है। सफर का आनन्द तभी तक है जब तक कि मजिल का ज्ञान नही। मजिल को सोचकर चलने मे यात्रा मजिल के लिए होती है। जैनेन्द्र ने 'समय और हम', 'प्रश्न और प्रश्न' मे इन्ही विचारो की पुष्टि की है। उनका विचार है कि 'सफर जिसका काम है वह मुसाफिर मजिल को माने नही बैठेगा। मुझे तो यह लगता है कि जो मजिल को जान गया, वह कभी भी मजिल तक पहुचा नही।'[१]

जैनेन्द्र के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ससार के त्याग मे नही, वरन् उसके सहर्ष स्वीकार मे ही है। जैन दर्शन मे इस सूत्र 'सम्यग्दर्शन चरित्राणि' (मोक्ष मार्ग) मे ही मोक्ष का आदर्श स्वीकार किया है। यद्यपि जैनेन्द्र ने उपनिषद्, भागवत् आदि का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन नही किया है तथापि उपनिषदीय विचारो की झलक उनके साहित्य मे स्पष्टत मिलती है। जैनेन्द्र के अनुसार—'ज्ञान, कर्म और भक्ति साधना के ये तीन वर्ग समझे जाते है। तीन ये तीन रहते होगे तब मुक्ति कैसे मिलती होगी, मै नही जानता।'[२] जीवन आनन्द इकाई ही ज्ञान, कर्म और भक्ति की समग्रता मे ही जीवन का लक्ष्य पूर्ण होता है। तीनो मे से किसी एक के विकास द्वारा जीवन के खण्ड का ही विकास होता है। समष्टि का नही। व्यक्ति की पराकाष्ठा पर अह का विगलन हो जाता है। 'मै' की जीवन-यात्रा की सार्थकता 'पर' की स्वीकृति मे ही सम्पन्न होती है। जैनेन्द्र के जीवन-दार्शनिकता का मूल तत्व 'अह' का समष्टि मे खो जाना है। और यही तत्व उनके समस्त विचारो का आधार बिदु है।

वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार 'मोक्ष' का अर्थ ससार से मुक्ति नही वरन् 'अह' से मुक्ति पाना है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे मोक्ष मे कर्म से मुक्ति नही वरन् कर्म के लिए प्रेरणा होती है। जैनेन्द्र ने अपने नवीनतम सग्रह 'समय, समस्या और सिद्धान्त' मे भी स्पष्टत स्वीकार किया है कि 'मुक्ति' असल में अह से मुक्ति है। अह का नाश नही हो सकता। अस्मित्व के निमित्त से तो अस्तित्व का बोध होता है। इसलिए जैनेन्द्र के अनुसार 'मुक्ति' अस्तित्व का वह विसदीकरण है, जहा उसके अस्तित्व से भिन्न अथवा विरुद्ध रहने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अह अपने चारो ओर फैले इन सम्बन्ध सूत्रो मे पूरी तरह खुलकर

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० २०६।
२. जैनेन्द्रकुमार . 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ४८।

बह जाने दे तो ऐसे वह मुक्ति की ओर बढता है। अपनी ओर लेने और सिमटने मे बन्धन का बोध होता है।'[१]

जैनेन्द्र के अनुसार मोक्ष के मार्ग मे मुक्ति मूलक रुकावट नही है। वह एक ठहराव मात्र है। मृत्यु और जन्म से क्रम मे मोक्ष के लिए यात्रा चलती रहती है। क्योकि मोक्ष के आगे कुछ नही है द्वार बन्द है। जैनेन्द्र मोक्ष की मजिल तक पहुचने के लिए पग-पग चलकर जाना आवश्यक समझते है। हवा मे उड कर नही अन्यथा पुरुषार्थ का कोई महत्व नही रह जायगा।'[२]

जैनेन्द्र मोक्ष की प्राप्ति के लिए चारो पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को आवश्यक मानते है। उसके अनुसार धर्ममय दृष्टि द्वारा अर्थ और काम के मार्ग द्वारा चलकर ही मोक्ष की मजिल प्राप्त हो सकती है।

जैनेन्द्र जीवन-सघर्ष से बचकर मिलने वाले मोक्ष को अच्छा नही मानते। जैनियो की मोक्ष सम्बन्धी धारणा भी जैनेन्द्र को अमान्य है। जैनियो के अनुसार आत्मा और शरीर दोनो भिन्न है, शरीर जड तत्वो से बना है, किन्तु आत्मा चेतन है। आत्मा 'स्व' की सूचक है और शरीर 'पर' का सूचक है। जैन दर्शन मे शरीर से अथवा 'पर' से छूटना ही आत्मा की मुक्ति है। इस प्रकार जैन तत्ववाद मे आत्म और 'शरीर' मे 'स्व' 'पर' का द्वैत भाव समाहित है। इसलिए उनमे विच्छेद की साधना का उपदेश दीखता है। मुक्ति का चित्र वहा सर्वथा विदेहता का है और शुद्ध आत्मा स्वरूपता के कैवल्य, सिद्ध रूप मे चित्रित किया गया है। जैन दर्शन मे मुक्ति व्यक्तित्व के काट छाट के मार्ग मे ही फलित होती है। उसमे जीवन की समग्रता और सत्यता का निषेध मिलता है। कर्म से मुक्ति और शरीर को तप द्वारा कृषित और विकार रहित करने पर ही मुक्ति सभव हो सकती है, किन्तु जैनेन्द्र जैनी होते हुए भी जैन दर्शन की एकागी मुक्ति को स्वीकार करने मे असमर्थ है। उन्होने जीवन को समग्रता मे स्वीकार किया है। जैन दर्शन की एकागी दृष्टि को वे स्वीकार करने मे असमर्थ है। जैनेन्द्र ने अपनी कतिपय कहानियो मे भी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए सत्यता की प्रतिष्ठा की है।[३] 'बाहुबली' मे बाहुबली अपने शरीर को तप द्वारा अस्मि मात्र कर लेने पर भी कैवल्य नही प्राप्त कर पाता जब कि उसका भाई राज्य भोग करते हुए भी कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। कारण, बाहुबली के हृदय से तप द्वारा अपने 'अविजित' होने का अभिमान नही दूर

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० ६६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० २०६।

३ जैनेन्द्र . 'प्रतिनिधि कहानिया', सपा० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० १७६।

हो पाता है। जैसे ही उसे अपने अभिमान का बोध होता है, उसके लिए मोक्ष का मार्ग कठिन नहीं रह जाता है। वस्तुत जैनेन्द्र के जीवन, धर्म और दर्शन सब का सार है 'अह से मुक्ति।' अह से मुक्ति प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। यही जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि का सार तत्व है ।

परिच्छेद—४



जैनेन्द्र की दृष्टि में भाग्य, कर्म-परम्परा एवं मृत्यु



भाग्यवादी जैनेन्द्र

जैनेन्द्र परम आस्तिक, विचारक और लेखक है। उनकी अटूट ईश्वरीय आस्था की गहरी छाप हमे उनके साहित्य मे दृष्टिगत होती है। मनुष्य रूपी सूक्ष्म यन्त्र का निर्माता ईश्वर है। अतएव ईश्वर ही अपनी स्वेच्छा से यत्र की गति को परिचालित करता है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के सम्बन्ध मे व्यक्ति का समस्त मन्तव्य समुद्र के तट पर कौडियो से खेलने वाले बालको के निर्णय की भाति है। फिर भी बालको को (मनुष्य का) मस्तक मिल गया है और हृदय भी मिल गया है। वे दोनो निष्क्रिय होकर तो रहते नही। इसी से जो जानने के लिए नही है, उसे जानने की चेष्टा चली है।[1] वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे मनुष्य निर्जीव, जड, यत्र नही है। उसमे विवेक, बुद्धि तथा पुरुषार्थ है। अतएव विधाता व्यक्ति की गति का अवरोधक नही है, वरन् सहयोगी है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे कहानी और उपन्यास के पात्रो की अडिग ईश्वरास्था को देखते हुए ऐसा आभास होता है कि उनकी दृष्टि मे कर्त्ता-धर्त्ता एकमात्र परब्रह्म ईश्वर ही है। ईश्वर की अनन्त शक्ति के समक्ष मनुष्य बहुत ही तुच्छ है। अतएव जैनेन्द्र के पात्र अत्यधिक भाग्यवादी हो गए है। उनके जीवन का उतार-चढाव भाग्य की परिधि मे ही सम्भव हो सका है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', प्र० स०, १६५२, दिल्ली, पृ० स० १८।

पाश्चात्य नियतिवादी और अनियतिवादी विचार

जैनेन्द्र की भाग्यवादी दृष्टि मे तथा पाश्चात्य नियतिवादी दार्शनिको मे किंचित् वैभिन्य दृष्टिगत होता है। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र मे दो पृथक् विचार-धाराए दृष्टिगत होती है—(१) नियतिवादी और (२) अनियतिवादी। नियतिवादी विचारको के अनुसार यदि व्यक्ति के जीवन के भूत और वर्तमान को भली प्रकार जान लिया जाय तो उसके भविष्य के सम्बन्ध मे निर्णय दिया जा सकता है। नियतिवादियो के अनुसार मनुष्य की सकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नही है, पूर्व निर्धारित है। उनका कहना है कि निर्णीत कर्म मे सकल्प-शक्ति प्रेरणा के साथ समीकरण करती है और प्रेरणा का स्वरूप व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर है। अतएव व्यक्ति के चरित्र का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसके आचरण के बारे मे भविष्यवाणी की जा सकती है। नियतिवादी विचारक व्यक्ति के आचरण और प्रकृति की घटनाओ को एक ही नियम से सचालित होते हुए देखते है। नियतिवादी दार्शनिक अपने सिद्धान्तो की धुन मे यह भूल जाते है कि व्यक्ति आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है। उसमे अनेको सम्भावनाए है और वह उन सम्भावनाओ को पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्र है। उपरोक्त सत्य को सम्मुख रखते हुए कान्ट ने यह स्वीकार किया है कि सकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता नैतिकता की आवश्यक मान्यता है। नियतिवादियो के अनुसार पाश्चात्य और दृढ सकल्प का मानव जीवन मे कोई स्थान नही है।[1]

जैनेन्द्र के विचारो और नियतिवादी दार्शनिको मे मूल अन्तर यह है कि जैनेन्द्र के पात्रो की सम्भावनाए नियति के कारण विनष्ट नही होती। जैनेन्द्र के साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि वे पात्रो को भाग्य के सहारे छोड देते हैं और अपनी और भविष्य के सम्बन्ध मे व्यक्ति के चरित्र के सम्बन्ध मे कोई भविष्यवाणी नही करते। नियतिवादी भविष्य की घोषणा निश्चित रूप से कर देते है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार भावी अज्ञेय है, व्यक्ति की पहुच से परे है। अतएव उस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना व्यक्ति की क्षमता का उल्लघन करते हुए केवल अहता को पुष्ट करना है। जैनेन्द्र के अनुसार ब्रह्म सर्वव्याप्त है और वही भूत, वर्तमान, और भविष्य का ज्ञाता है। व्यक्ति अपनी सीमित शक्ति के कारण वर्तमान की यथार्थता मे ही जीवन व्यतीत करता है और भविष्य की सम्भावना मे आदर्शो की पूर्ति के स्वप्न देखता है। इस प्रकार जैनेन्द्र के पात्र अतिशय भाग्यवादी होते हुए भी अपने जीवन की सम्भावनाओ का हनन नही

---

१ शाति जोशी के 'नीतिशास्त्र' मे व्यक्त विचारो पर आधारित, प्रथम सक्षिप्त सस्करण, दिल्ली, १९६३, पृ० स० ८२-८५।

करते। व्यक्ति विधि का दास होते हुए भी कर्म के हेतु स्वतन्त्र है।

जैनेन्द्र अतिशय भाग्यवादी

जैनेन्द्र के साहित्य मे पग-पग पर भाग्य अथवा विधाता की पुकार को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र के पात्रो के हृदय मे भाग्य का भूत सवार है और यह शका भी उत्पन्न होती है कि अतिशय भाग्यवादिता कही पात्रो के जीवन को निष्क्रिय तो नही बना देती ? उनकी कुछ कहानियो मे बार-बार बेचारे विधाता की याद करनी पडती है। 'राजीव और भाभी' मे ३-४ बार विधि के समक्ष व्यक्ति की विवशता का उल्लेख किया गया है।[१] सामान्यत हम नित्य-प्रति के जीवन मे भाग्य का सहारा लेकर मन को सान्त्वना देते है, यह सत्य है, किन्तु बहुत ही छोटी-छोटी बातो पर प्रतिपल विधाता को बीच मे लाना भी उचित नही प्रतीत होता। वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे किसी विशिष्ट परिस्थिति मे ही भाग्य-विधाता का स्मरण नहीं किया गया है, वरन् अत्यन्त सामान्य स्थितियो मे भी विधाता का सहारा लेकर व्यक्ति की विवशता को वर्णित किया गया है। —'कल्याणी' मे कल्याणी किसी के घर जाने मे भी अपनी इच्छा-शक्ति पर विश्वास नही करती और कहती है—'अच्छा। भाग्य होगा तो क्यो न आऊगी।'[२]

भाग्यवादिता : आस्थामूलक

जैनेन्द्र की भाग्यवादी प्रवृति इस तथ्य की ओर सकेत करती है कि वे

---

१ (अ) 'भाग्य ही तो है। जब वह खुले तो उस कोष मे से क्या-क्या नही निकलेगा।' पृ० स० २६।

(आ) 'वही से भाग्य देव भी पलट कर बरस पडने लगे'—पृ० स० २६।

(इ) 'किन्तु जब सिर पर दुर्दैव ही खेल जाए तो विधाता के मन का हाल भला कौन जान सकता है।'—पृ० स० ३१।

(ई) 'जब राजीव ने मोटर की बात मन मे पक्की कर ली तब सब प्रपचो के रचयिता बाबा विरञ्चि ऊपर बैठे-बैठे मुस्कराए होगे। कहते होगे—देखो लडके की बात—अरे,—हम फिर कुछ ठहरे ही नही। जो ये दुनिया के छोकरे हमे बिन बूझे ही सब करने लगेगे तो हो लिया काम।'

—जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानिया', पृ० स० ३१।

२ जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', पृ० स० ७६।

ईश्वर को ही सर्वोपरि मानते है। यदि ईश्वरेच्छा न हो तो व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता। ईश्वरीय-आस्था मे व्यक्ति के अह का विगलन हो जाता है। अह का शून्य भाव ब्रह्म को ही सर्वोपरि प्रमाणित करता है। व्यक्ति केवल कर्ता है, किन्तु कर्म का फल भाग्याधारित है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति कर्म करता हुआ भी निराश नही होता, क्योकि वह वर्तमान तक ही परिमित है, भविष्य मे उसकी पहुच नही है।

जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य का लेखा अर्थात् विधाता का नियम ससार मे व्यवस्था उत्पन्न करने का प्रसाधन है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे भाग्य का नियम अतर्क्य नही है।[1] ईश्वर भी मनमानी पक्षपात नही करता। व्यक्ति अपने ही कर्मो का फल भोगता है। भाग्य व्यक्ति के सचित कर्मो का ही अभिव्यक्त रूप है। पूर्वजन्म के सम्बन्ध मे कोई नही जानता, किन्तु वर्तमान जीवन मे व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य दृष्टिगत होने वाले वैषम्य को देखकर, यही कल्पना की जाती है कि व्यक्ति के कर्म-फल के कारण ही परस्पर गरीबी-अमीरी, सुखी-दुखी होने का वैभिन्न्य दिखाई देता है, किन्तु भाग्य व्यक्ति के ही पूर्वजन्मो के कर्मो से बनता है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि भाग्य कोरी भावना का प्रतीक है, अधविश्वास है, वरन् भाग्य का परिणाम तार्किक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। जैनेन्द्र भाग्य को कर्मो के आधार पर तो स्वीकार करते है, किन्तु उसे पूर्वजन्म के सचित कर्मो का परिणाम नही मानते।

भाग्य से विद्रोह नही

जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का प्रमुख आदर्श ईश्वरोन्मुखता है। उनकी दृष्टि मे भाग्य पर आश्रित रहने वाला व्यक्ति कर्म की उपेक्षा नही करता। कर्म उसका इष्ट है, किन्तु फल की प्राप्ति न होने पर वह भगवान को दोष नही देता, वरन् दु ख मे भी आत्मानन्द की प्राप्ति करता है। जैनेन्द्र की अधिकाश रचनाओ के पात्र भाग्य के कुचक्र पर उत्तेजित और क्रुद्ध नही होते और न ही भाग्य से लडना श्रेयष्कर समझते है। 'त्यागपत्र' मे प्रमोद (जज) अपनी बुआ की स्थिति पर बहुत दुखी होता है, किन्तु बुआ को उस राह से मोड नही पाता। वह जानता है कि जो कुछ भगवान करता है, सोच-समझकर ही करता है। ईश्वरेच्छा का निषेध करके व्यक्ति आत्मा के सन्तोष से भी हाथ धो बैठता है। इसीलिए

---

१ 'भाग्य का तर्क यदि कठोर है तो ऐसा अकारण नही है'''यहा जो जैसा करता है वैसा ही भरता है।'
—जैनेन्द्र की कहानिया (वह रानी), दिल्ली, १९६४, प्र०स०, पृ०स० ४७।

वह (प्रमोद) कहता है कि 'जो हुआ ठीक हुआ, ठीक इसलिए कि उसे अब किसी भी उपाय से बदला नहीं जा सकता।' जैनेन्द्र भाग्य और दुःख के मध्य व्यक्ति की परस्परता के हेतु बहुत सतर्क रहे हैं। उनके अनुसार व्यक्ति स्नेह के आदान-प्रदान के द्वारा अतिशय पीड़ा को झेलता हुआ भी स्वर्ग का अधिकारी होता है। वस्तुतः भाग्य में जो होना है, उसे तो टाला नहीं जा सकता कि पारस्परिक प्रेम में मनुष्य का वश है अतएव वह नहीं समाप्त होना चाहिए।[1]

'विवर्त' में भी भुवन मोहिनी रेल-दुर्घटना के लिए जितेन को दोषी नहीं ठहराती। उसका विश्वास है कि 'होता होनहार है और सब काल कराता है।'[2] 'वस्तुतः उसकी दृष्टि में गाड़ी पलटने और इसके बहाने कुछ लोगों की मौत होने की घटना पूर्व निश्चित थी, अतएव उसके लिए किसी व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पुनश्च मोहिनी जितेन को समझाती हुई कहती है—'जो हुआ, हो गया। होनहार कब टला है।'[3] 'सुखदा' में सुखदा भी अपने पति को किसी कार्य के लिए दोष नहीं देती और कहती है—'उन्होंने कुछ नहीं किया। सब भाग्य के आधीन हुआ है।'[4] वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति का समस्त सोच-विचार व्यर्थ सिद्ध होता है। यद्यपि जैनेन्द्र के पात्र सतत् कर्मशील हैं तथापि वे भाग्य से लड़ने में अक्षम हैं, क्योंकि 'सोच विचार कुछ काम नहीं आता। दिमाग सोचता रहता है, होनहार होता रहता है। सोचा जाता है वह होता ही नहीं।'[5]

आस्थाहीन व्यक्ति कर्म करते हुए यह अनुभव करता है कि कर्त्ता मैं ही हूं, श्रेय मुझे है। जैनेन्द्र के अनुसार 'अंह' तथा पुरुषार्थ की दुहाई देने वाले व्यक्ति के जीवन की लचक समाप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति अपनी आकांक्षा के पूर्ण न होने पर तथा प्रयत्न में फल की झलक न देखकर निराश होकर टूट जाता है, उसमें पुनः कम से कम युक्त होने का उत्साह नहीं रह जाता। ऐसे व्यक्ति का जीवन उस सूखे वृक्ष की भांति होता है जो अपनी कठोरता के कारण तन-कर खड़ा रहता है, किन्तु तूफान का एक झोंका उसे दो टूक कर देता है, किन्तु झूमता हुआ लचकदार पेड़ टूटता नहीं, वरन् झुक जाता है। यही कारण है

---

१. स्नेह—क्या वह स्वयं में इतना पवित्र नहीं है कि स्वर्ग के द्वार उसके लिए खुल जाएं।—जैनेन्द्रकुमार : 'त्यागपत्र', पृ० सं० ४६।
२. जैनेन्द्रकुमार : 'विवर्त', प्र० सं०, १९५३, दिल्ली, पृ० सं० २९।
३. जैनेन्द्र कुमार : 'विवर्त, पृ० सं० ३०।
४ जैनेन्द्र कुमार : 'सुखदा', प्र०सं०, दिल्ली, १९५२, पृ० सं० २०४, १७७।
५. जैनेन्द्र कुमार : 'विवर्त', पृ० सं० ९२।

कि जैनेन्द्र के पात्र विषम से विषम परिस्थितियो मे निराश होकर टूटते नही, वरन् स्नेह और प्रेम की धारा उनमे जीवन-शक्ति का प्रवाह करने मे सक्षम होती है।

निष्काम-कर्म भाव

जैनेन्द्र के विचारो पर गीता की निष्काम कर्म-भावना का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। 'गीता' मे अर्जुन को कर्म-शीलता का उपदेश देते हुए कृष्ण ने कहा है कि 'जो पुरुष सब कर्मो को परमात्मा मे अर्पण करके (और) आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पत्ते के सदृश्य पाप से लिपायमान नही होता।'[1] व्यक्ति समस्त इन्द्रियो से कर्म-रत होते हुए भी यह माने कि 'मैं कुछ नही करता हू।'[2] जैनेन्द्र के अनुसार कर्तृत्व भाव से हीन रहने वाला व्यक्ति अपने समस्त कर्मो को ईश्वरेच्छा से सचालित होता हुआ स्वीकार करता है। उसके अनुसार विधाता ही सर्वोपरि है। उन्होने बार-बार अपनी रचनाओ मे इस सत्य की ओर सकेत किया है कि 'मै नही हू, क्योकि शून्य है—मैं कुछ नही हू यह अनुभूति ही मेरा सब कुछ है।'[3] जैनेन्द्र के अनुसार इस प्रकार की निस्पृह भावना व्यक्ति को कर्म से विमुख नही करती, वरन् उसे कर्तृत्व के अहकार से मुक्त करती है। वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे भाग्य का निर्णय व्यक्ति की प्रगति मे बाधक नही होता।

पुरुषार्थ

जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त भाग्यवादिता कोई नई घटना नही प्रतीत होती है, क्योकि भारतीय, यूनानी, इस्लाम आदि सभी धर्मो तथा दर्शनो मे व्यक्ति की भाग्यवादिता का परिचय मिलता है।[4] भारतीय दर्शन मे भी भाग्य

---

१ श्री मद्भगवद्गीता—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति य।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रामिवाम्भसा ॥१०॥

श्री मद्भगवद्गीता—अध्याय ५, श्लोक १०, गीताप्रैस, गोरखपुर।
श्री मद्भगवद्गीता—अन्य श्लोक १२ अध्याय ६।२७, २८।१०।६, ६।१२

२ श्री मद्भगवद्गीता—नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्विश्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

अध्याय-५, श्लोक ८, ९

३. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया' (उपलब्धि तीसरा भाग), पृ० स० १२६।

४ हीरेन्द्रनाथ दत्त 'कर्मवाद और जन्मान्तर', स० १९८६, इलाहाबाद, पृ० स० १०५।

को प्रधान माना है। यथा—'भाग्य' फलति सर्वत्र न विधा न च पोरुषम्।' किन्तु दूसरी ओर पौरुषवादियो का भी अभाव नही है, जो कि पुरुषार्थ के समक्ष भाग्य को निरर्थक मानते है। उनके अनुसार 'उद्योगी प्रयत्नशील मनुष्य को ही सौभाग्य लक्ष्मी वरण करती है। भाग्य की दुहाई तो कायर लोग दिया करते है।'[1] उपरोक्त भाग्यवादी और पुरुषार्थवादी विचारको का मन्तव्य एक पक्षीय है। अतिशय भाग्यवादिता के द्वारा व्यक्ति की अकर्मण्यता का बोध होता है तथा पुरुषार्थ से तात्पर्य यदि कर्मशीलता से है तो प्रत्येक कर्मशील व्यक्ति को समानरूप से परिश्रम करते हुए भी समान उपलब्धि क्यो नही होती ? कोई थोडे से श्रम से ऊपर उठता जाता है और कोई अथक परिश्रम करके भी निराश रहता है, वस्तुत इस वैभिन्य के मूल मे प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना भाग्य ही दृष्टिगत होता है। वेदान्त रत्न श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक मे 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के द्वारा इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'जिस प्रकार एक पहिया लगा रहने से रथ नही चलता, इसी प्रकार देव की सहायता के बिना पौरुष काम नही देता। उनकी दृष्टि मे नाव मे पाल लगा देने से ही काम नही वन जाता, उसके अनुकूल हवा की भी जरूरत होती है। खेत मे बीज बो देने मे ही कमल नही खडी हो जाती, बरसात के पानी से उस बीज की सिचाई भी होनी चाहिए। अतएव दैव और पौरुष दोनो की आवश्यकता है। भाग्यवादी का पौरुष को एकदम उडा देना ठीक नही है, पौरुषवादी का दैव को एकदम अस्वीकार कर देना भी ठीक नही है। इस दृष्टि से देव का अर्थ किस्मत या भाग्य नही है, देव तो पिछले जन्म के किए हुए सुकृत या दुष्कृत से बना हुआ अदृष्ट है।'[2]

---

१ हीरेन्द्रनाथदत्त 'कर्मवाद और जन्मान्तर', पृ० स० १०६।

उद्योगिन पुरुषसिहमुपेति लक्ष्मी
दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति।

२ दैव पुरुषकारे च कर्मसिद्धव्यर्वस्थिता।
तत्र दैवभिव्यक्त पौरुष पौर्षदेहिकम् ॥३४७॥
केचिद्देवाद्धात्केचित्केचित्पुरुष कारत ।
सिद्धमन्त्यर्था मनुष्याणा तेषा योनिस्तु पौरुषम् ॥३४८॥
यथाह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एव पुरुषकारेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एव पुरुषकारेण बिना दैव न सिद्धयति ॥३४९॥

—हीरेन्द्रनाथदत्त 'कर्मवाद और जन्मान्तर'

भाग्य और पुरुषार्थ सहयोगी

जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ का अर्थ केवल शुभ करना ही नही है। वरन् शुभ के साथ ही ईश्वर के सहयोग को भी स्वीकार करना आवश्यक है। जैनेन्द्र की मान्यता है कि 'जब पुरुष अपने अह से विमुक्त होता है, तभी भाग्य से सयुक्त होता है।' भाग्य का सहारा लेकर कर्म करने से व्यक्ति को अदम्य उत्साह और शक्ति प्राप्त होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे ऐसा व्यक्ति पशु तुल्य है जो केवल कर्म और पुरुषार्थ पर विश्वास करता है तथा भाग्य को उपेक्षणीय समझता है। पशु के कार्य मे त्वरा अधिक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि मनुष्य पशु से महान है तो इसी दृष्टि से कि उसमे स्नेह और सहयोग की भावना है। कोरा पुरुषार्थ अहता को फुलाने मे सहायक होता है जैसे कि कोरी भाग्यवादिता अकर्मण्यता की पोषक है। जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ का तात्पर्य केवल सक्रियता से है, तत्व और सत्य से नही है। पुरुषार्थ की उपयोगिता भी सक्रियता के ही साथ है, शेष के साथ सहज स्वीकारता का सम्बन्ध है और उसका द्योतक भाग्य है। जहा तक सक्रियता प्रयत्नशील है, वही तक पुरुषार्थ की व्याप्ति है। जैनेन्द्र के अनुसार समस्त के पुरुषार्थ का समवेत रूप मान्य है। उनकी दृष्टि मे राष्ट्रीय पुरुषार्थ भाग्य की सापेक्षता मे ही ग्राह्य हो सकता है। भाग्य वह पुरुषार्थ है जिसमे प्रत्येक तत्व भाग्य होता और जो व्यक्ति का नही है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे बौद्धिक स्तर पर ही भाग्य और कर्म से कार्य-कारण के रूप समझ सकते है। वस्तुगत सत्य से इसका कोई सम्बन्ध नही है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे भाग्य की स्थिति कर्म के मध्य ही स्वीकार की गई है। जैनेन्द्र की मान्यता है कि 'भाग्य के प्रति अभ्यतर मे अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्रही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होना है।'[१]

जैनेन्द्र पुरुषार्थ मे परमार्थ का योग अनिवार्य मानते है। यदि अर्थ परमार्थ मे नही जुडता तो वह सहज स्वीकार्य नही हो सकता। व्यक्ति के कर्मो की इति प्राप्त कर्तव्य मे ही है। जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य ईश्वर का आदेश है। ईश्वर व्यक्ति के विपरीत कोई कार्य नही कर सकता। उन्होने सूर्योदय का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार सूर्य के सामने आने पर हम उसे सूर्योदय कहते है, किन्तु पीछे चले जाने पर सूर्य का अस्तित्व समाप्त नही होता, वरन् वह हमे दृष्टिगत नही होता।[२] व्यक्ति की क्षमता असीम है। उसकी पहुच

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', पृ० स० ११४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', पृ० स० ११८।

वर्तमान तथा दृश्य जगत तक ही सीमित है, किन्तु ईश्वर सर्वव्याप्त है। भाग्य का प्रत्यक्ष प्रभाव न देखकर यह नही समझना चाहिए कि भाग्योदय नही हुआ। भाग्य का ज्ञात एकमात्र ब्रह्म ही है, व्यक्ति की स्थूल दृष्टि अजेय सत्य का बोध प्राप्त करने मे असमर्थ है।

प्रयत्न के द्वारा व्यक्ति की समग्रता को नही जाना जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार कार्य मे सफल न होने पर प्रयत्न की व्यर्थता नही सिद्ध होती। उनकी दृष्टि मे भाग्य शायद पुरुष के अर्थ को ज्यादा जानता है।[१] जैनेन्द्र के साहित्य मे उसी कर्म को सद्प्रयत्न के रूप मे स्वीकार किया गया है, जिसमे कामना का काटा न हो।

भाग्य को सहर्ष स्वीकार करने से व्यक्ति भाग्य के नियत्रण मे नही रहता। भाग्य सर्वथा अजेय है। अज्ञात के रहस्य को जात मे पूर्णत उतारने का दम्भ मिथ्या है। अज्ञात असीम है, ज्ञात ससीम है। असीम को ससीम मे बाधने के प्रयत्न मे व्यक्ति का अर्थ सिद्ध नही होता। प्रयत्न (कर्म) की धारा अनन्तकाल तक प्रवाहित होने के लिए है। विधाता का विरोध करने का दृढ सकल्प मन मे रखकर भी व्यक्ति अन्तत ईश्वरेच्छा पर अपने को समर्पित कर देता है।[२] वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे भाग्य की क्रूरता पर क्षोभ का भाव नही दृष्टिगत होता, क्योकि उन्हे भाग्य दुख ही नही सुख का वरदान भी प्रतीत होता है। सुख मे व्यक्ति विधाता को भूला रहता है और दुख मे उसकी याद करता है। 'त्यागपत्र' मे एक स्थान पर जैनेन्द्र ने भाग्य के समक्ष विनत होने वाले प्रमोद (जत) की भावो की अभिव्यक्ति करते हुए बताया है कि जो होता है उसके लिए विधाता को तो दोष दे नही सकता, क्योकि उन तक किसी प्रकार मैं अपना धन्यवाद तक नही पहुचा सकता।[३] वस्तुत जैनेन्द्र के पात्र किसी को दोषी न ठहराकर स्वय को ही पतित मानते है। इस प्रकार वे अहता का निषेध करते हुए[४] ईश्वर का (भाग्य का) सहयोग पाकर प्रसन्न रहते है। उनमे यह विश्वास समाया हुआ है कि जीव ब्रह्म का अश है अतएव जीव के दुख से विधाता निरपेक्ष नही हो सकता।

कर्माकर्म भाव

जैनेन्द्र के साहित्य मे भाग्य सम्बन्धी विचारो का विश्लेषण करते हुए यह

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत' पृ० स०, दिल्ली, १९६२, पृ० स० १९।

२. जैनेन्द्रकुमार 'विवर्त', प्र० स०, दिल्ली, १९५३, पृ० स० २१७।

३ जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र', प्र० सं, पृ० स० ४५।

४. जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र,' प्र० स०, पृ० स० ४५।

ज्ञात होता है कि उन्होने पुरुषार्थ का निषेध नही किया है। ईश्वर को ही एकमात्र सत्य मानने के कारण उनके कर्म सम्बन्धी विचारो मे भी व्यक्ति के अह भाव के दर्शन नही होते। जैनेन्द्र के कर्म सम्बन्धी विचारो पर गीता की निष्काम कर्म साधना तथा कर्म-अकर्म की मान्यता का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगत होता है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' मे अर्जुन को उपदेश देते हुए कृष्ण ने कहा है कि 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय मे बुद्धिमान पुरुष भी मोहित है।...जो पुरुष कर्म मे अर्थात् अहकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओ मे अकर्म अर्थात् वास्तव मे उनका न होना पाना देखे और जो पुरुष अकर्म मे अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किए हुए सम्पूर्ण क्रियाओ के त्याग मे भी कर्म को अर्थात् त्याग रूप क्रिया को देखे, वह पुरुष मनुष्यो मे बुद्धिमान है और वह भोगी सम्पूर्ण कर्मो का करने वाला है।'[1]

जैनेन्द्र के अनुसार 'कर्म' मे 'अकर्म' की भावना व्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख करती है तथा व्यक्ति स्वार्थ को भूलकर परमार्थ हेतु ही जीवनयापन करता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति का कर्म-शील होना ही कोई बडी बात नही है। कर्मशीलता के साथ ही उसमे कर्म के प्रति अनासक्ति का होना भी आवश्यक है। आसक्त भाव से किए गए कार्य मे स्वार्थ की झलक दृष्टिगत होती है।[2] जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'कर्म से स्वार्थ पैदा होता है अकर्म से नि स्वार्थ है।'[3]

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'जयवर्धन' मे कर्म तथा अकर्म के स्वरूप को जूट के उद्धरण द्वारा बहुत ही स्पष्ट रूप मे व्यक्त किया है। उनके अनुसार जैसे 'नारियल के जटाजूट और उसके बाद के खप्पर का मूल्य यही है कि भीतर गिरी है, गिरी अकर्म है तो कर्म तो वह जटाजूट ही है।'[4] इस दृष्टान्त द्वारा लेखक ने कर्म के मूल मे निहित अकर्म की भावना का रूप दर्शाया है। ऊपर से आकर्षक न प्रतीत होने वाली वस्तु के भीतर भी वस्तु का मूल अर्थ

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता—'किं कर्मकिम कर्मेतिकवयोऽप्यत्र मोहिता ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
—अध्याय ४

२. 'कार्यकर्त्ता का काम कार्य करना तो है ही, पर बडा काम अपने को अनासक्त रखना है। अनासक्ति से काम मे हार नही मालूम होगी, वह सतत् होगी, और फल भी उसका मीठा और बडा होगा।'
—जैनेन्द्रकुमार · 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० स० २२०।

३. जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० स० २६२।

४ जैनेन्द्रकुमार : 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० स० २२०।

अथवा उसकी सार्थकता निहित होती है अतएव व्यक्ति को कर्म मे ही न अटक कर अकर्म के भाव की गहराई मे भी प्रविष्ट होना चाहिए, अन्यथा कोरा कर्म निरर्थक है। 'जयवर्धन' मे जैनेन्द्र ने अन्यत्र एक स्थल पर 'अकर्म' की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है। कर्म ठीक है, किन्तु वह अकर्म के साथ ही ठीक है नही तो बचाव और भरमाव होगा।'[1]

पुनर्जन्म

जैनेन्द्र के साहित्य के सन्दर्भ मे उनकी भाग्यवादी नीति और कर्म-अकर्म के भावो की विवेचना करते हुए यह समस्या उत्पन्न होती है कि व्यक्ति के कर्मो का उसके जीवन से क्या सम्बन्ध है। यद्यपि यह सत्य है कि व्यक्ति अकर्म भाव को मन मे रखकर कर्म करता हुआ भी अनासक्त रहता है, किन्तु इस सत्य का भी निषेध नही किया जा सकता कि वह अकर्म अर्थात् कर्तृत्व भाव से हीन होकर कर्म करता रहता है। उसकी कर्मशीलता मे कोई अन्तर नही आता, केवल भावना मे ही अन्तर आता है और भावना की विशुद्धता के कारण कर्म और भी महान हो जाता है। ऐसी स्थिति मे प्रश्न उठता है कि विशुद्ध भावना से किए व्यक्ति के कर्मों का क्या होता है। उसने पूर्व जन्म मे जो निस्पृह भाव से कार्य किए होगे, उनका क्या प्रभाव दृष्टिगत हो रहा है और पुनर्जन्म मे क्या होगा? व्यक्ति शुभ कर्मो के द्वारा अपने जन्मो का सुधार कर सकता है कि नही? विविध समस्याओ के समाधन हेतु जैनेन्द्र के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारो का विश्लेषण अनिवार्य है।

सस्कार समष्टि को प्राप्त

पुनर्जन्म मे जैनेन्द्र की पूर्ण आस्था है। उनके अनुसार जन्म और मृत्यु का चक्र अनन्त काल तक चलता रहता है। एक के बाद दूसरा क्रम समाप्त नही होता, अत मृत्यु के बाद भी जन्म का क्रम बना रहता है। मृत्यु मे जीवन का अवसान नही है। स्थूल शरीर बार-बार जन्मता और मरता है, किन्तु सूक्ष्म आत्मा अमर है। वह ईश्वर अर्थात् परमात्मा का अश है। परमात्मा ही एक-मात्र पूर्ण शक्ति स्वरूप है, आत्मा उस अर्थ मे निरपेक्ष नही है, जिस रूप मे परमात्मा है। मृत्यु के अनन्तर आत्मतत्व ब्रह्म मे विलीन हो जाता है और उसके कर्म ब्रह्माण्ड मे व्याप्त हो जाते है। व्यक्ति अपने कर्मो के लिए स्वय उत्तरदायी नही होता वरन् मृत्यु के बाद उसके कर्मों का महत्व और बढ जाता है। व्यष्टि

---

१. जैनेन्द्रकुमार . 'जयवर्धन', दिल्ली, १६५६, पृ० स० १२।

के गुण-दोष युक्त कर्म समष्टि मे व्याप्त हो जाते है।'[1] पूर्व जन्म के कर्मफल तथा सस्कार व्यक्ति से छूटकर उसी प्रकार समष्टि मे विलीन हो जाते है, जिस प्रकार तालाब मे उठी लहर सारे सरोवर मे व्याप्त हो जाती है। उसका पार्थक्य मिट जाता है।[2] वस्तुत व्यक्ति के सस्कार जाति और जाति के समस्त ब्रह्माण्ड का अग हो जाते है। व्यक्ति के सब कार्यो के सस्कार समष्टि को गोरवान्वित करते है। दूसरी ओर उसके दुष्कर्म स्वय तक ही सीमित नही रहते, उसमे सामाजिक वातावरण भी दूषित हो जाता है। अत व्यक्ति के कर्म समाज को हानि पहुचाने के लिए भी उत्तरदायी होते है। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म के प्रति दायित्व अधिक बढ जाता है।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे जन्म और मृत्यु के अनवरत घटनाक्रम से ही समष्टि का जीवन अभिव्यक्ति पाता है। समष्टि का जीवन ही परम लक्ष्य है, व्यक्ति के जन्म-मृत्यु की कडी उसमे साधन रूप है। सस्कारो की ग्रधि समष्टि मे बिखर जाने के लिए ही होती है। पुनर्जन्म से इसका कोई सम्बन्ध नही होता। इस सम्बन्ध मे जैनेन्द्र के सस्कारो की तुलना खजूर के वृक्ष से करते है। पर प्रतिवर्ष पडने वाले वलय से करते है। वृक्ष के टूट जाने पर सम्भव हो सकता है कि वृक्ष की गुठली जमीन पर गिरकर किसी नये वृक्ष का बीज बन जाए, किन्तु उन वलयो का कोई महत्व नही होता। वे उस गुठली से उत्पन्न होने वाले पेड से कोई सम्बन्ध नही स्थापित कर सकते। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति से पूर्वजन्म के सस्कार पुनर्जन्म की स्थिति के निर्धारण मे सहायक नही होते।[3]

सच्चिदानन्द परमात्मा अखण्ड है, पूर्ण है, और व्यक्ति अपूर्ण तथा अतृप्त है। मृत्यु जीवन का अन्त नही, वरन् प्रगति का द्वार है। अपनी अतृप्त आकाक्षाओ, वासनाओ की पूर्ति के लिए व्यक्ति बार-बार जन्म लेता है। जैनेन्द्र सस्कारो का एक जन्म से दूसरे जन्म मे सक्रमण स्वीकार नही करते, इसलिए

---

१ 'जन्म-मरण व्यक्ति भोगता है, लेकिन इस भोग के द्वारा मानो वह समष्टि लीला को ही व्यक्त कर रहा होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५६।

२, जरा सी ककरी डालिए तो सरोवर के तल पर सिहरन होती है, जो छोर तक पहुचती है और फिर शान्त हो जाती है। इसी तरह सच पूछिए तो प्राप्त सस्कार मुझ तक नही रहता, मानो विश्व-चेतना मे समाकर वही पर्यवसान पाता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५९६।

३. जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम', पृ०स० ५९७।

व्यक्ति की आसक्तिया और अनुभूतिया चारो ओर तन्तु रूप मे फैलकर साहित्य, कला कृति आदि के रूप मे व्यक्ति के मरणोपरान्त भी जीवित रहती है। 'सुखदा' मे लाल के कथन से इसी तथ्य का बोध होता है— 'हम तुम नही जीते सुखदा, जीता खुद जीवन है। वह इतिहास मे जीता है, विकास मे जीता है। वह हमारा तुम्हारा नही है, बल्कि हम उसमे है।'[१]...इस प्रकार जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु के द्वारा व्यक्ति अपना और कुछ का ही नही रहता, वरन् सब का और असत्य का हो जाता है।[२]

जैनेन्द्र के अनुसार जन्म-मरण का चक्र व्यक्तित्व के अथवा आत्मता के विकास की दृष्टि से कोई महत्व नही रखता। जैनेन्द्र की दृष्टि मे यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि आत्मा, जिसका पूर्व शरीर से सबध था, उसी मे प्रवेश करेगी, जिस प्रकार हर पतझड मे पत्ते वृक्ष से झर जाते है और बसत मे फिर हरे-भरे पत्ते खिल आते है।[३] इस प्रकार वृक्ष का ही बार-बार नवजीवन होता है, तथा पतझड और बसत रूपी जन्म-मरण का क्रम तो वृक्ष रूप समष्टि से जीवन का साधनमात्र है। उसी प्रकार 'जन्म-मरण व्यक्ति भोगता हो, लेकिन इस भोग द्वारा वह समष्टि-लीला को ही व्यक्त कर रहा होता है। वस्तुत व्यक्ति का सम्बन्ध मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है।[४] उसके वर्तमान जीवन के कर्मो का भावी जीवन से कोई सम्बन्ध नही होता। व्यक्ति के कर्म मृत्यु के बाद समष्टि मे व्याप्त होकर अमर हो जाते है।

कर्म की स्थिति : विभिन्न दार्शनिक सम्बन्धी संदर्भ

जैनेन्द्र के विचारो का उपरोक्त विवेचन करने के पश्चात् यह समस्या उत्पन्न होती है कि व्यक्ति के व्रत वर्तमान क्रियामाण[५] कर्मो की क्या सार्थकता है ? तथा व्यक्ति का भाग्य सचित कर्मो के अभाव मे किस प्रकार निर्मित होता है ? जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त भाग्यवादी विचारधारा उनके पुनर्जन्म सम्बन्धित विचारो के साथ सगत नही प्रतीत होती है। भाग्य व्यक्ति के क्रियामाण कर्मो के पुण्य और पाप का सचित रूप ही है। प्रारब्ध व्यक्ति के सचित कर्मो का अश है। यदि व्यक्ति अपने वर्तमान नाम और रूप से सर्वथा असम्बद्ध

---

१ जैनेन्द्रकुमार : 'सुखदा', पृ० १७१।

२. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ६०१।

३. जैनेन्द्रकुमार : 'समय और हम' पृ० ५६८।

४. जैनेन्द्रकुमार : 'समय और हम' पृ०५६८।

५. क्रियामाण कर्म से तात्पर्य वर्तमान जीवन के कर्मों से है।

शरीर मे जन्म लेता है तो उसके पूर्व कर्मो के द्वारा किस प्रकार भाग्य का निर्माण होता है ? जैनेन्द्र के विचारो को लेकर जो समस्या उत्पन्न होती है, ठीक वही समस्या बौद्ध दार्शनिक नागसेन के दार्शनिक-विचारो मे भी दृष्टिगत होती है। भिनान्दर और मन्त की वार्ता के द्वारा पुनर्जन्म सबधी विचारो पर प्रकाश डाला गया है। उनकी दृष्टि मे नाम और रूप जन्म ग्रहण करते है। जिस नाम और रूप से व्यक्ति पाप या पुण्य करता है, उन कर्मो से दूसरा नाम और रूप जन्म ग्रहण करता है। भिनान्दर मन्त से पूछते है कि जब एक नाम और रूप से कर्म किए जाते है, तो वे कहा ठहरते है ? उपरोक्त समस्या के समाधान मे मन्त उत्तर देता है कि कर्म छाया की भाति नाम रूपात्मक व्यक्ति का पीछा करते रहते है। दिए की लौ का दृष्टान्त देते हुए समझाया गया है कि जिस प्रकार रात के पहिले पहर मे जो टेम होती है, वही दूसरे या तीसरे पहर मे वही रहती है, उसके घटने-बढने से लौ मे अन्तर नही आता है। ठीक उसी प्रकार किसी वस्तु के अस्तित्व के सिलसिले मे एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाही की दो अवस्थाओ मे एक क्षण का भी अन्तर नही होता, क्योकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव और न दूसरा ही हो जाता है। 'एक जन्म के अतिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खडा होता है।'[1] इस प्रकार एक जन्म के बाद तुरन्त ही दूसरे जन्म की अवस्था का प्रारम्भ हो जाती है और उसके पूर्व कर्म साथ-साथ चलते है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' मे तथा वादरायण आदि के द्वारा भी पुनर्जन्म और 'कर्म परम्परा' के सिद्धात को स्वीकार किया गया है।

जैनेन्द्र की दृष्टि और सामान्य अभिमत

उपरोक्त परम्परागत दार्शनिक विचारो के सन्दर्भ मे जब हम जैनेन्द्र के विचारो का विश्लेषण करते है तो उनमे कर्म परम्परा के सम्बन्ध मे कोई संगति नही दृष्टिगत होती। जैनेन्द्र ने व्यक्ति के पुनर्जन्म को कई बार अपने साहित्य मे स्वीकार किया है तथा वे यह भी मानते है कि व्यक्ति मृत्यु के द्वार से सीधे नया जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उनके पूर्व कर्म सम्बन्धी विचारो की समस्या का समाधान फिर भी नही मिल पाता। जैनेन्द्र ने 'कल्याणी', 'रुकिया बुढिया' तथा 'मौत की कहानी' आदि उपन्यास तथा कहानियो मे यत्र-तत्र

---

१. राहुल साकृत्यायन 'दर्शन दिग्दर्शन', हजारीबाग सेण्ट्रल जेल, १९४२, पृ० ५५४-५५।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है। 'पुनर्जन्म' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति का ही फिर से जन्म होता है। पुनर्जन्म शब्द व्यक्ति सापेक्ष प्रतीत होता है, किन्तु जैनेन्द्र ने सम्भवतः उसे कर्म की सापेक्षता से ग्रहण किया है। उन्होने व्यक्ति से इतर जन्म की परम्परा को स्वीकार किया है। उनके अनुसार जन्म के बाद मृत्यु और फिर जन्म का क्रम सतत् चलता है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह परम्परा विशिष्ट व्यक्तियो के सन्दर्भ मे चल रही है। तथा वलय रूप सस्कारो का महत्व के लिए कोई महत्व नही रह जाता है। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त मे जैनेन्द्र ने व्यक्ति को स्वार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होने का सन्देश दिया है, किन्तु व्यक्ति की दृष्टि मे उसका महत्व नि शेष हो जाता है। ससार कर्म और भाग्य की आस्था पर चल रहा है। जन्म-जन्मान्तर मे एक-दूसरे से बध कर ही समग्रता का परिचय दे सकते है। अन्यथा विकास और प्रगति की समस्या फिर एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है।

सामान्यत. प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा विश्वास है कि जन्म-जन्मातर द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे परिमार्जन उत्पन्न कर सकता है। वह अपनी अपूर्ण अभीप्साओ की पूर्ति के हेतु जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करता रहता है। कामना ही जन्म का मूल आधार है। यदि व्यक्ति के कर्म पूर्व अथवा पुनर्जन्म से सम्बन्धित नही है तो कामना की पूर्ति का प्रश्न ही नही उठता। सामान्यत जीवन मे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न पूर्वजन्म के सचित कर्मों अर्थात् भाग्य के अनुसार ही सम्भव होता है।

प्रतिभा : अध्यवसायमूलक

जैनेन्द्र ने प्रतिभा के सम्बन्ध मे अपनी मौलिक दृष्टि प्रदान की है। उनके अनुसार 'प्रतिभा' व्यक्तिगत अध्यवसाय और अभ्यास का परिणाम है। पूर्व जन्म के सचित गुणो के आधार पर प्रतिभा को स्वीकार करना व्यक्ति को निष्क्रिय बनाना है। पूर्वजन्म का पुनर्जन्म पर कोई प्रभाव नही पडता।[1] 'प्रतिभा को मे द्वन्द्वज मानता हू अर्थात गहरे मे उसका आधार अहभाव है। प्रतिभाशाली अकेला हो जाता है और अन्य के साथ उसका सम्बन्ध समता और समवेदना का कम बन सकता है।'[2] विश्व मे सृष्टि का क्रम तो अनन्तकाल से चला आ रहा है। इस क्रम का खण्डन सम्भव नही है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि यह

---

१. जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम', पृ० ६७।
२. जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और समाधान', पृ० २३३।

क्रम टूट जाय तो जीव-विज्ञान, प्राण विज्ञान निरर्थक सिद्ध होगे। आनुवशिकता की शृखला सतत् चलती रहती है। उनकी दृष्टि मे आनुवशिकता के कारण ही बच्चा अपने माता-पिता की सूरत तथा उनके गुणो को लेकर जन्म लेता है। इस प्रकार उसका जीवन स्वय मे एक विशृखलित कडी नही है, वरन् उसका व्यक्तित्व माता-पिता के रज-वीर्य के गुणो का सक्रमित रूप है। वस्तुतः व्यक्ति का जन्म नवीनतम रूप से होता है, किन्तु उसकी चिद्गुणता का नही।[1] वस्तुत् जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति की चेतना का आरम्भ किसी जन्म-विशेष से नही होता। चेतना अनन्तवादी है, केवल व्यक्तिमत्ता या निजता काल मे सीमित है, किन्तु वह भी मृत्यु के अनन्तर आत्मरूप मे अपरिमित, असीम ब्रह्माण्ड मे लीन हो जाती है।

जीव-वैज्ञानिक दृष्टि

जैनेन्द्र के उपरोक्त अनुवशिकता के विचारो पर जीव-वैज्ञानिक और विकासवादियो का प्रभाव दृष्टिगत होता है। वैज्ञानिको ने वश-परम्परा (ला आफ हेरिडिटी) सिद्धात के द्वारा पुनर्जन्म की सत्यता को प्रमाणित किया है, किन्तु वैज्ञानिको की दृष्टि वर्तमान को लेकर विश्लेषण की ओर उन्मुख होती है। अतएव वैज्ञानिक विचार-धारा पूर्णत सगत ही है।

वश-परम्परागत गुणो की समानता स्वीकार करने पर उसमे भी कुछ अपवाद दृष्टिगत होते है। प्राय प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्ताने अधिक कुशाग्र तथा प्रतिभा-सम्पन्न नही भी होती। किन्तु जैनेन्द्र किसी स्थिति मे प्रतिभा को अलौकिक शक्ति की देन न जानकर साधना और अध्यवसाय का परिणाम ही मानते है।

क्षतिपूर्ति

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त भी व्यक्ति को विशिष्ट क्षेत्र मे विशिष्ट प्रतिभा प्रदान करने मे सहायक होता है। उन की धारणा है कि किसी अग की अक्षमता शरीर के दूसरे अग की शक्ति को अधिक सशक्त और सम्पन्न बना देती है। शरीर से हीन व्यक्ति प्राय बुद्धि से विलक्षण देखे जाते है।[2] ईश्वर अपनी ओर से किसी को मूर्ख अथवा प्रतिभासम्पन्न

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० सं० ६६।

२, जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ६८।

नही उत्पन्न करता। वस्तुत जैनेन्द्र ब्रह्म को ही एकमात्र निरपेक्ष शक्ति अथवा सत्ता के रूप मे स्वीकार करते है, आध्यात्मिक या व्यावहारिक दृष्टि से पुनर्जन्म नित्य सत्य नही है। वैज्ञानिक सिद्धातो के आधार पर अवश्य वह सिद्ध किया जा सकता है। अह के प्रकट और विलय होने का चक्र चलता रहता है, किन्तु अह के साथ व्यक्ति के सूक्ष्म मन, बुद्धि आदि का मृत्यु के बाद कोई सम्बन्ध नही रहता। उसकी चेतना ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होकर अकाल की हो जाती है।

भारतीय दर्शन और पुनर्जन्म

जैनेन्द्र हिन्दु धर्म और विश्वासो के समर्थक है। उनका दर्शन आस्तिकता का पोषक है। भारतीय दर्शन मे आस्तिकता का मूल स्रोत वेदान्त है। वेदान्त मे आत्मा की अमरता के आधार पर पुनर्जन्म की स्थिति को स्वीकार किया है।[१] 'वायु गध के स्थान से गध को जिस प्रकार ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादियो का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहिले शरीर को त्यागता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियो को ग्रहण करके, फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमे जाता है।'[२]

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक 'मरणोपरान्त' मे शोपनहायर के विचारो द्वारा पुनर्जन्म के विषय पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार ··· 'मृत्यु रूपी नीद मे से नया प्राणी बनकर दूसरी बुद्धीन्द्रिय को साथ लेकर पुन प्रकट होता है, नया दिवस उसे नये प्रदेशो की ओर ललचाता है··· (यह क्रम) तब तक चलता है, जब तक कि बारम्बार के नये शरीरो मे अधिकाधिक भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान के द्वारा शिक्षित और उन्नत होकर वह अपना ही अभाव करके अपने को विलुप्त न कर दे।' उनके अनुसार 'यथार्थ मे तो नए प्रकट होने वाले प्राणियो के जन्म से जीर्ण होने वालो की मृत्यु से उसका सम्बन्ध रहता ही है।'[३] 'रामचरितमानस' मे गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी पूर्वजन्म व पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। इसका प्रमाण कागभुषुण्डि की कथा

---

१ 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।'
—श्री मद्भगवद्गीता अध्याय २।२०

२ शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर ।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।। अध्याय १५

३ विवेकानन्द . 'मरणोपरान्त' पृ० १२ ।

से प्राप्त होता है ।[१] उपरोक्त विचारो के सन्दर्भ मे जैनेन्द्र के विचार पूर्णत असम्बद्ध प्रतीत होते है । उपरोक्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि पुनर्जन्म सम्बन्धी जैनेन्द्र के विचार सर्वथा मौलिक है । 'अतृप्त-वासना' और अभीप्साओ की समस्या का समाधान करते हुए वे कहते है कि अतृप्तिया पूर्णता के लिए प्रयत्नशील न होकर साहित्य, कला आदि के रूप मे अमर हो जाती है । इस प्रकार जो मरता है वही मरता है, उसके द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है, वह नही मरता, वह अमर बना रहता है ।[२]

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति को पूर्वजन्म की स्मृति नही रहती, (यद्यपि उनके विचारो के अनुसार पूर्वजन्म की स्मृति के लिए कुछ भी शेष नही रहता) किन्तु वे यह अवश्य स्वीकार करते है कि पूर्वजन्म की स्मृति सम्भव होने पर व्यक्ति का वर्तमान जीवन और भी कष्टमय हो जायगा । 'रुकिया बुढिया' शीर्षक कहानी मे उन्होने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है । जैनेन्द्र के अनुसार पुनर्जन्म सत्य है किन्तु उस सब घटित अतीत से अपने को सर्वथा तोडकर नए जन्म मे हम जीते है नही तो अपने अनन्त इतिहास का बोझ अपने माथे पर लेकर हम जी सकते है ? हमारा ज्ञान सकुचित है, यही हमारा वरदान है । हम परिमित है, यही हमारा धन्य भाग्य है ।

जैनेन्द्र के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारो को अशत विकासवादी विचारो के सन्दर्भ मे स्वीकृत किया जा सकता है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पुनर्जन्म-वादी यह मानते है कि 'सभी अनुभव प्रवृत्तियो के रूप मे अनुभव करने वाले जीवात्मा मे सग्रहीत रहते है और उस अविनाशी जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा किए जाते है और भौतिकवादी मस्तिष्क को सभी कर्मों के आधार होने के और बीजाणुओ 'सेल्स' के द्वारा उनके सक्रमण का सिद्धात मानते है ।···उसे (प्रवृत्तियो को) माता-पिता से पुत्र मे आने वाली आनुवशिक सक्रमण द्वारा समझते है ।'[३] इस दृष्टिकोण से जैनेन्द्र के प्रेरक गुणो के सक्रमण का विचार विकासवादी ही प्रतीत होता है । जैनेन्द्र अपने विचारो की पुष्टि करते हुए

---

१ 'मरने के पहले जो होता है उसे जीना कहते है ।···हम तुम नही जीते, जीता खुद जीवन है, वह इतिहास मे जीता है, विकास मे जीता है । वह मेरा तुम्हारा नही है, मुझसे तुमसे नही है, बल्कि हम उसमे है । वह है, हम नही है ।'

—जैनेन्द्रकुमार · 'सुखदा' पृ० १७१ ।

२ जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ७, तृ० स०, दिल्ली, १९६३, पृ० १०३ ।

३ विवेकानन्द —'मरणोपरान्त', पृ० ३२ ।

कहते है कि, 'क्या प्रमाण है कि पेड का यह पत्ता वही है जो पिछली पतझड मे वृक्ष की उसी शाखा की किसी टहनी से टूटा था।'[१]...जैनेन्द्र पूर्वजन्म को इसी रूप मे समझ पाते है। इसके अतिरिक्त उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मे अह के विगलन की भावना ही दृष्टिगत होती है, अत वे व्यक्तिमत्ता को विशेष महत्व न देकर उसे समष्टि के जीवन का साधन ही मानते है। जैनेन्द्र का पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे अपना अभिमत है। इस सम्बन्ध मे वे अपने विश्वास पर ही अपनी मान्यताओ का निर्धारण करते है। भारतीय दर्शन मे पुनर्जन्म की परम्परा मे पूर्वजन्म की सम्बद्धता स्वीकार की गई है। पुराणो मे अनेको ऐसी कथाए मिलती है, जिनके द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है तथा आधुनिक युग मे भी यदा-कदा ऐसी घटनाए सुनायी पडती है, जिनसे पुनर्जन्म की सत्यता का प्रमाण मिलता है किन्तु जैनेन्द्र दो-एक घटनाओ को सत्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त नही समझते।[२] उनकी दृष्टि मे जो कुछ है सब सत्य है, अथवा सत्य मे ही समाहित है। अतएव कुछ विशिष्ट घटनाए सत्य को प्रमाणित करने के लिए घटित नही होती।

सामान्यत· हमारी यह मान्यता है कि पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही हम सुख अथवा दु ख भोगते है और पुनर्जन्म भी इस (वर्तमान) जन्म के कार्यो के अनुसार ही होता है, किन्तु जैनेन्द्र की ऐसी मान्यता है कि फल और कर्म विच्छिन्न नही हो सकते कि इस जन्म के कर्म अगले जन्म मे फल दे। 'कर्म और फल की कडी एकसूत्रता मे ही देखी जा सकती है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार सरोवर मे छोटी-सी ककरी भी डालिए तो लहर पैदा होती है। वह दूसरी को फिर तीसरी को...लहराती हुई तब तक नही रुकती जब तक किनारा नही पा लेती। इसी तरह माना यह भी जा सकता है कि कर्ता के रूप मे...जिस कर्म को अपनाया है, उसका प्रभाव ब्रह्माण्ड तक फैले बिना नही रहता होगा।'[३]

इस प्रकार जैनेन्द्र का दृढ विश्वास है कि मृत्यु के अनन्तर व्यक्ति का कर्म अकाल का हो जाता है अर्थात् शून्य मे व्याप्त हो जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे हमारी यह मान्यता तर्कसगत नही है कि हम कर्म इस जन्म मे करते है और

---

१. 'समय और हम' (प्राक्कथन—वीरेन्द्रकुमार), पृ० ३६।

२ 'सत्य को सिद्ध करने के लिए क्या एक ही घटना आवश्यक है। सब कुछ क्या सत्य को ही नही सिद्ध कर रहा है।'

—जैनेन्द्र के साक्षात्कार के अवसर पर उपलब्ध विचार।

३ 'समय, समस्या और सिद्धात',

उसका फल अगले जन्म मे मिलता है। उनकी दृष्टि मे कर्म और फल मे ऐसी असम्बद्धता देखना उचित नही है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के बाद क्या होता है, कोई देखने नही जाता।

अपने विचारो को वे घडे के उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते है कि 'घडा टूट जाता है तो प्रश्न मन मे नही उठता कि फिर वह क्या पर्याय ग्रहण करता है। उनकी दृष्टि मे जिस प्रकार घट का घटत्व हमारे लिए सामयिक प्रयोजन से अधिक महत्व नही रखता है, इसलिए उसकी समाप्ति मान लेने पर कोई कठिनाई नही होती। व्यक्ति के व्यक्तित्व मे भी इसी तरह सामयिक सघटना माना जा सके तो पुनर्जन्म आदि की कल्पना के लिए कही अवकाश नही रह जाता है।'[1]

वस्तुत जैनेन्द्र का उपरोक्त अभिमत तर्कसगत प्रतीत होते हुए भी सापेक्षिक महत्व ही रखता है, क्योकि वे स्वय ही स्वीकार करते है कि इस जीवन के पार क्या होता है, कोई नही जानता। इस सम्बन्ध मे हम केवल अनुमान का ही सहारा ले सकते है, उसे निरपेक्ष सत्य नही मान सकते, क्योकि हमारी अपनी सस्कारगत मान्यता पुनर्जन्म की पूर्वजन्म से सम्बद्धता को स्वीकार करती है। वर्तमान मे हम इस विश्वास को लेकर ही जीते है कि जो जैसा करेगा उसका फल उसे कभी-न-कभी (किसी भी जन्म मे) मिलेगा।

परलोक

जैनेन्द्र के पात्रो के मन मे सदैव यह जानने की जिज्ञासा रहती है कि मृत्यु के बाद क्या होता है। 'कल्याणी' मे कल्याणी के समक्ष ऐसी ही विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब वह जानने के लिए उत्सुक होती है, कि मरने के बाद क्या होता है ?[2] कल्याणी के मन मे आत्मघात के कारण प्रेतयोनि के अस्तित्व के सम्बन्ध मे विविध जिज्ञासाए उत्पन्न होती है। मृत्यु के बाद आत्मा तुरन्त दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है या कुछ काल प्रेतयोनि मे भी उसे रहना पडता है।[3]

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त'

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', दिल्ली, १९५६,
'मरता तो आदमी जरूर है, हर कोई मरता है, लेकिन मरने के बाद क्या होता है। मरकर आदमी की क्या गति होती है—क्या इस बारे मे किसी को कुछ भी पता नही है ? पुनर्जन्म क्या वह होता है ?'

३. 'मरकर उसका जन्म तुरन्त हो जाता है या कुछ काल प्रेत योनि मे रहना पडता है ? आत्मा तो नही मरती न ? और मौत भी दो तरह की होती है—स्वाभाविक और अकाल मौत। कोई अपघात कर ले या कोई मार डाला जाये तो आप क्या समझते है कि उसकी वैसी ही गति होगी, जैसी प्राकृतिक मौत वाले की ?' —'कल्याणी', पृ० ८०।

प्रेतयोनि और परलोक मे अन्तर है। पुनर्जन्म की परिकल्पना को सत्य मानने पर हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस लोक के अतिरिक्त क्या परलोक है ? परलोक से तात्पर्य स्वर्ग और नरक से है जहा मृत्यु के बाद कुछ दिन रहकर व्यक्ति अपने पुण्य अथवा पाप कर्मों का फल भोग कर पुन धरती पर जन्म लेता है। परलोक मे जाने वाले व्यक्ति की आत्मा भटकती नही है, वरन् कर्मफल भोगने पर उसे पुन जन्म लेना पडता है, किन्तु प्रेतयोनि मे जाने वाले व्यक्ति की आत्मा भटकती रहती है वह न जीवन मे रहता है न मृत्यु मे। प्रेतयोनि मे जाने वाले व्यक्ति की मृत्यु सहज रूप मे नही होती। वे आत्मघात द्वारा जीवन की विषमताओ से मुक्ति पाना चाहते है। इस प्रकार की अकाल मौत मे आत्मा शरीर से छूट जाने पर भी पूर्णत पूर्वजन्म की आपत्तियो से मुक्त नही होती।

जैनेन्द्र के साहित्य मे इस तथ्य पर कोई प्रकाश नही डाला गया है कि परलोक क्या है ? तथापि उन्होने परलोक के अस्तित्व को स्वीकार अवश्य किया है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे परलोक की कल्पना के मूल मे व्यक्ति के हित की झलक देखने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र परलोक की परिकल्पना अवश्य करते है, किन्तु इस सम्बन्ध मे वे कोई तर्क-वितर्क करना उपयुक्त नही समझते। उनकी दृष्टि मे परलोक की कल्पना ही व्यक्ति हितार्थ पर्याप्त है, वह क्या है, वह क्या नही है इसका कोई महत्व नही होता। उनके अनुसार अनुमान निर्भर जो मान्यताए है उनके बारे मे किसी आग्रह-विग्रह की आवश्यकता नही है। उनके विचार मे परलोक की परिकल्पना से व्यक्ति की कर्मशीलता को बल मिलता है। परलोक की परिकल्पना इस प्रेरणा के रूप मे सार्थक हो सकती है अन्यथा परलोक इस धरती से परे कोई विशिष्ट लोक नही है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे स्वर्ग और नरक का भी उल्लेख किया है। स्वर्ग और नरक क्या है, यह स्पष्ट नही हो पाता, किन्तु यह अवश्य सत्य है कि स्वर्ग और नरक के कारण व्यक्ति अपने कर्मों की श्रेष्ठता के हेतु सदैव सजग रहता है। परलोक की पूजी धर्म है। 'धर्मवेत्ता ही स्वर्ग का अधिकारी होता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे स्वर्ग और नरक का उल्लेख होते हुए भी उसे उस जगह से परे की स्थिति के रूप मे स्वीकार नही किया गया है। उनके अनुसार स्वर्ग और नरक यहा इस धरती पर ही है।"[1]

मृत्यु

जैनेन्द्र के साहित्य मे जन्म, पुनर्जन्म और कर्म-परम्परा का विवेचन करते

---

१ जैनेन्द्र से विचार-विमर्श के अवसर पर उपलब्ध।

हुए उनके मृत्यु सम्बन्धी विचारो का विवेचन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। जन्म और पुनर्जन्म के मध्य मृत्यु द्वार है, विश्रान्ति है, ठहराव है, किन्तु मौत के बाद फिर जन्म का क्रम अनवरत चलता रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे मौत एक गूढ सत्य है। मौत के द्वार से जीवन के गुह्यतम रहस्यो का उद्घाटन होता है। मृत्यु की चेतना व्यक्ति के जीवन मे इस प्रकार व्याप्त है कि प्रतिपल उसके (मृत्यु) अस्तित्व का बोध प्राप्त करता हुआ भी व्यक्ति कर्म-रत रहता है। मृत्यु के बाद सब व्यर्थ है, मिथ्या है, किन्तु व्यक्ति की मौत से जगत की अनन्तता मे कोई व्यवधान नही पडता है। जैनेन्द्र की मृत्यु सम्बन्धी मान्यताओ मे उनके गहन चिन्तन की झलक मिलती है। जीव और मृत्यु के अन्तर्गत रहस्य का उद्घाटन करते हुए जैनेन्द्र ने व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति की मृत्यु-सम्बन्धी धारणाओ को अपनी रचनाओ द्वारा व्यक्त किया है।

जीवन के उन्माद मे उसकी चहल-पहल मे व्यक्ति मौत की सत्यता की ओर ध्यान नही देता, उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन ही है उसके बाद मौत नही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अनेको बार मौत की सत्यता (महत्ता) पर प्रकाश डाला गया है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे ऐसी अनेको घटनाओ की ओर इगित किया है जब कि परिवार के कई सदस्य एक-के-बाद-एक मौत के ग्रास बन जाते है। मृत्यु का ऐसा दुर्दान्त रूप देखकर ही उन्हे स्वीकार करना पडता है कि मौत अकाट्य सत्य है। ससार मिथ्या है। जैनेन्द्र ने 'अनन्तर' कहानी मे सत्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि मौत एक द्वारमात्र है, अन्यथा सब मिथ्या है केवल ब्रह्म सत्य है। 'रामनाम सत्य है, रामनाम सत्य है।' मानो राम नाम सत्य के आगे मौत झूठ हो जाती है, मानो नियति के आधार पर हमारा एक उत्तर है। एक राम नाम से मिलकर ही सब मिथ्या हो जाता है।[1] एक को श्मशान घाट पहुचाया जाता है और दूसरा जाने को तैयार हो जाता है, किन्तु व्यक्ति का कर्म (जीवित रहने के कारण) शेष है और और लोगो को भी मरना है। वस्तुत एकमात्र वही सत्य है और वह सत्य है ईश्वर।

मृत्यु : एक अनिवार्य सत्य

जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है। उसकी कल्पना जीवन के लिए बहुत ही सहयोगी तथा शान्तिदायक सिद्ध होती है। 'जगत के जीवन के लिए मृत्यु वरदान है।' जन्म की एकपक्षीय धारा जीवन को गदला

---

१ जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग २, 'अनन्तर,' चौथा सस्करण, १९६९, पृ० स० १।

कर देगी। जिस प्रकार तालाब की स्वच्छता के लिए निरन्तर स्वच्छ जल का आगमन और अस्वच्छ जल का निगमन अनिवार्य है उसी प्रकार जैनेन्द्र ने जगत की स्वच्छता और स्वास्थ्य के हेतु मृत्यु को अनिवार्य माना है।[१] उन्होने 'मौत की कहानी' मे अपने विचारो को व्यक्त करते हुए बताया है कि—'मौत का सिलसिला बन्द हो जायगा तो जन्म का सिलसिला भी रोक देना पडेगा। नही तो धरती पर ऐसी किचमिच मचेगी कि सास लेने को भी जगह न रहेगी।'[२]

मृत्यु की गोद मे केवल 'आत्मता' का ही अस्तित्व रहता है, व्यक्तिमत्ता (निजता) समाप्त हो जाती है। गरीबी और अमीरी का भेदभाव मौत मे समाप्त हो जाता है। 'भेद' जगत की सापेक्षता मे सम्भव होता है, किन्तु ससार की परिमिति से परे सब एक है, अभिन्न है।

जैनेन्द्र ने जीवन मे और जीवन के अनन्तर भी एकमात्र स्नेह और पारस्परिक प्रेम को ही अनिवार्य माना है, क्योकि मौत के बाद कुछ भी शेष नही रहता, केवल व्यक्ति के स्नेह की स्मृति स्थायी रहती है। स्मृति के सहारे ही व्यक्ति मर कर भी अमर है और अविस्मरणीय हो जाता है। मौत के बाद व्यक्ति के समस्त सम्बन्ध छूट जाते है और वह किसी का न होकर शून्य सा हो जाता है। 'विवर्त' मे इस सत्य पर प्रकाश डाला गया है।[३]

जैनेन्द्र के विचारो के मूल मे उनकी धार्मिक आस्था और नीति के दर्शन होते है। धर्मपूर्वक आचरण ही उनकी सबसे बडी नैतिक मान्यता है। उनकी दृष्टि मे 'मौत सिर पर है, यह यदि हम याद रखे तो धर्म आचरण सहज होता है।' मृत्यु की सत्यता का बोध यदि व्यक्ति के मन मे बना रहे तो व्यक्ति धर्म के विमुख होकर क्षुद्रता मे नही गिर सकता।[४]

---

१ 'मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हू। वह परमेश्वर का वरदान है। मै मृत्यु को समाप्त नही चाहता हूं। उसके बिना जीवन असह्य हो जायगा।'

—जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० ११३।

२ जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया', तृ० स०, १९६३, पृ० ६८।

३ 'यो हम कब एक दूसरे के है, कोई केवल अपना नही है, लेकिन क्षण आते है कि हम आपस के रह ही नही पाते, कही किसी अपर के हो जाते है। तब मालूम होता है कि आपसीपन खिसककर ओढे कपडे के मानिन्द हमसे नीचे उतर गया है। हम किसी के भी नही रहे, अपने भी नही रहे, माने सिर्फ नही के हो गए है। क्या यही कृत-कृत्यता है ? या कि यह मृत्यु है।'

—जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० २१७।

४. 'जैनेन्द्र की कहानिया' (अनन्तर), भाग २, पृ० ७।

मृत्यु की सार्थकता

जैनेन्द्र मृत्यु को सार्थक बनाना चाहते है। मौत की सत्यता अथवा उसकी चेतना व्यक्ति को भयभीत रखने के लिए नही है। मौत से भयभीत हुए व्यक्ति के हृदय से कर्म के प्रति भावना की शुद्धता समाप्त हो जाती है। यदि व्यक्ति मृत्यु की चेतना द्वारा स्वकेन्द्रित होकर अधिकाधिक सुख-भोग का प्रयत्न करता है, ऐसी स्थिति मे जब व्यक्ति जीवन मे लिप्त होने लगता है तब मृत्यु का आगमन उसके लिए बहुत कष्टमय प्रतीत होता है। अपने स्वार्थ के लिए जीने वाला व्यक्ति अपनी कामनाओ और उनसे चिपटा रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार जो व्यक्ति निर्भीक होकर कर्म करते है, मृत्यु का भय उनकी सद्वृत्ति मे बाधक नही बनता। वे न तो मृत्यु की ओर आकर्षित होते है और मौत के आने पर उसका सहर्ष आलिगन करते है। उन्हे यम का स्पर्श वरदान के सदृश्य प्रतीत होता है। अपनी जीर्णता को मृत्यु के द्वारा पुन नवीनता मे परिवर्तित करने मे खिन्न नही होते, क्योकि वे वह मानते है कि मृत्यु के अनन्तर भी जीवन का क्रम चलेगा। अतएव जीवन सार्थकता और सापेक्षिक पूर्णता के हेतु मृत्यु मे विराम अनिवार्य है।[१] मौत न हो तो जीवन स्वय मे रुकावट प्रतीत होने लगेगा। जैनेन्द्र के अनुसार मौत के द्वारा व्यक्ति के जीवन को रास्ता मिलता है।

'दर्शन की राह'[२] शीर्षक कहानी मे जैनेन्द्र ने जीवन और मृत्यु के गहन सत्य को उद्घाटित किया है। जीवन और मृत्यु के ऐसे कठोर सत्य को देखकर व्यक्ति सहसा स्तम्भित हो जाता है। जीवन मे शरीर को अत्यधिक महत्व देने तथा भोग-विलास का साधन समझने वाला व्यक्ति मौत के द्वारा 'पदार्थ' बन जाता है, किन्तु आश्चर्य यह है कि उसकी पदार्थता को देखकर भी शेष व्यक्ति सत्यता की ओर उन्मुख होने से बचाव करते है। गाडी से कुचला हुआ अधमरा व्यक्ति मृतक मे पदार्थवत् 'उठाकर डाल दिया जाता है और शेष दर्शक गाडी के लेट होने की चिन्ता मे ही व्यस्त रहते है। इस घटना को लेकर लेखक ने एक ऐसे व्यक्ति के जीवन की घटना का उल्लेख किया है, जो ऐसे हृदय-विदारक दृश्य को देखकर भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ भोग-विलास मे डूब जाना चाहता है, किन्तु आदर्शवादिनी पत्नी अपनी आत्महत्या के द्वारा

---

१ 'जीवन का कुछ अर्थ ही नही अगर मौत उसके आगे फुलस्टाप की तरह बैठ जाए। इसलिए मृत्यु स्थाई वस्तु नही है।'

—जैनेन्द्र की कहानियां, पृ० ६८ (भय-मौत की कहानी)

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', पृ० १०४।

पति की आख खोलने मे समर्थ होती है और उसका पति अन्त मे यह स्वीकार करता है—कि 'मृत्यु के द्वार मे से ही सत्य को प्राप्त करना होगा।'[१] 'जीना-मरना' शीर्षक कहानी मे भी इसी तथ्य की सत्यता पर प्रकाश डाला गया है कि मृत्यु के बाद शव की क्या स्थिति होती है। लेखक ने ऐसी स्थिति का चित्रण किया है जो मर्म को झकझोर देने मे सहायक होती है। अस्पताल मे गर्मी मे लाशे अधिक हो जाने के कारण बाक्स मे भर दिए जाते है, आलमारी भी इसी कार्य के हेतु प्रयुक्त होती है। 'भर दिये जाते है' सुनकर सहसा शरीर काप उठता है, किन्तु सत्य यही है। यह जैनेन्द्र के अन्तस् की गहनता का ही परिचायक है कि उन्होने जीवन के ऐसे यथार्थ सत्यो को स्पष्टत अभिव्यक्ति प्रदान की है। एक ओर जीवन की रगरेलिया दूसरी ओर मौत का क्रूर सत्य"[२],···दोनो के मध्य व्यक्ति मन स्थितियो को व्यक्त करते हुए जैनेन्द्र ने बताया है कि व्यक्ति मौत की सत्यता की चाहे कितनी ही उपेक्षा करे, किन्तु वह सदैव जीवन के समक्ष एक व्यग्य-चिन्ह-सी दृष्टिगत होती है।[३]

'तोलए' शीर्षक कहानी मे भी जैनेन्द्र ने जीवन और मृत्यु के गम्भीर सत्य का विवेचन किया है। मृत्यु की ओर पहुचता हुआ व्यक्ति जीवित व्यक्तियो के के लिए अर्थशून्य हो जाता है। जीवन मे उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। मानव जीवन मे वही वस्तु यह व्यक्ति ग्राह्य है, जो कि उपयोगी है—अन्यथा प्राणयुक्त व्यक्ति भी तुच्छ पदार्थ की भाति इस लीला का अन्त करने के लिए विवश होता है, क्योकि मरने वाले को मरना तो है ही, परन्तु उसके कारण गन्दगी भी फैलती है और उसकी दिन-रात की खो-खो भी परेशान करती है।[४] इस कहानी मे भी लेखक ने क्लब के भोग-विलासमय जीवन के समानान्तर मौत की सत्यता का चित्रण किया है। उनके अनुसार 'मरना जीवन को राह देता है। हम कही बन गये होते है। काम आ चुके होते है।'[५] ससार मे कुछ

---

१. जैनेन्द्र की कहानिया (दर्शन की राह), भाग ७, तृ० स० ११८, १९६३।
२. जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया' भाग १०, 'जीना-मरना' प्र० १३६।
३ 'वह गुस्सा सिर्फ इस पर था कि मौत है। मानो वह जिन्दगी के आगे व्यग चिन्ह है। उसको सामने रखकर जिया कैसे जाए ? पर हमेशा पीठ पीछे भी उसे कैसे जिया जाय'।

—जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानिया', पृ० १३२।
४. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ७, १९६३, दिल्ली, पृ० ११९।
५ 'जैसे एक दिन होकर और कुछ दिन रहकर हम बिसर जाते है कि यह होना रहना काल का ही खेल था उस खेल के लिए अब हमारा न होना सगत हो गया है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत·', पृ० १०९।

दिन रहकर व्यक्ति की मृत्यु अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार जैनेन्द्र ने उपरोक्त कहानी द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि मृत्यु अनिवार्य है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे उनकी मृत्यु सम्बन्धी विवेचना दो रूपो मे अभिव्यक्त हुई है। एक स्वीकारात्मक तथा दूसरा निषेधात्मक। जैनेन्द्र का विश्वास है कि व्यक्ति का आकर्षण जिस ओर होता है, उसकी विपरीत दिशा मे ही वह भागता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसकी सत्यता व्यावहारिक जीवन मे स्पष्टत दृष्टिगत होती है।

मृत्यु के द्वार से अमरत्व

जैनेन्द्र के अनुसार शहीद तथा परमार्थ की ओर उन्मुख रहने वाले व्यक्ति को मौत की कोई चिन्ता नही होती। वह अपने कर्तव्य मे इतना लीन रहता है कि उसके समकक्ष निरर्थक सिद्ध होता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे जीवन की आहुति देने वाले पात्र सहर्ष मृत्यु का आलिगन करते है, किन्तु मौत के लिए उत्सुक नही होते। उनकी दृष्टि मे 'मौत' ऐसी तुच्छ वस्तु है, कि उसका चाहना लज्जास्पद है। चाहने को मेरे पास बडी वस्तु है। "फासी" मे शमशेर मौत के आचल मे मुह छिपाकर जीवन-सघर्ष से बचना नही चाहता, किन्तु जब मौत के द्वारा ही परमार्थ सम्भव हो रहा है तो वह उसकी उपेक्षा भी नही करता।[1] यही जैनेन्द्र के साहित्य का अभीष्ट है। उनके अनुसार जीवन की सार्थकता मौत के सम्बन्ध मे विचार करने से अधिक उसे सामने लेने मे है।[2]

जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति मर कर अमरत्व प्राप्त करने मे आस्था रखता है। मृत्यु पर कोई विजय नही प्राप्त कर सकता, किन्तु मरकर व्यक्ति सहज ही अमर हो जाता है। जीवन और मृत्यु के बीच जैसे रेखा उनके लिए हुई ही नही।[3] 'कहानी की कहानी' मे लेखक ने गाधी जी की मौत द्वारा उनकी

---

१ मेरी मौत मे दुनिया की अर्थ सिद्धि है, मेरी भी परमार्थ सिद्धि है। विश्व का अर्थ सिद्ध करने व्यक्ति की मौत आती है। परमात्मा उसे भेजता है। व्यक्ति क्यो न उसे साथ ले और आगे बढे।'

जैनेन्द्र . 'प्रतिनिधि कहानिया', सम्पादक-शिवनन्दनप्रसाद, प्र० स०, पृ० २४।

२ 'मौत को सामने लो'—'जैनेन्द्र की कहानिया', (दर्शन की राह), पृ०१३४।

३ जैनेन्द्रकुमार 'अनतर', पृ० ४७।

अमरता की ओर इंगित किया है।[1] जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की पूर्णता मौत मे भी जीवन की झलक देखने पर ही सम्भव होती है।[2]

मृत्यु का भय

जैनेन्द्र के साहित्य मे जब हम मौत के निषेधात्मक पक्ष का अवलोकन करते है तो हमे उनकी कई कहानियो मे उनके पात्रो के मन मे अवस्थित मौत के भय का सकेत मिलता है। 'मौत की कहानी' इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस कहानी मे लेखक ने मौत के पूर्व उत्पन्न होने वाले भय का बडा ही स्वाभाविक और जिज्ञासापूर्ण चित्रण किया है। तम्बाकू न खाने वाला व्यक्ति अनजाने मे तमाखू खा लेता है, उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उससे वह स्वय को शत-प्रतिशत मृत्यु के निकट आया हुआ ही अनुभव करता है। वह यह नही जानता कि उसकी समस्त विकृत चेष्टाओ का कारण तम्बाकू का नशा है। ऐसी स्थिति मे उसके द्वारा जो भावाभिव्यक्ति होती है, उससे उसके हृदय मे स्थित मृत्यु के भय से सम्बद्ध विचारो का पूर्ण परिचय मिलता है। जैनेन्द्र के अनुसार 'मौत कैसी होती है कोई नही जानता।'[3]

'मौत की कहानी' मे यम के भयावह रूप पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि 'यम नाम का देव है, सचमुच बडा डरावना है। वास्तव मे वह किसी अस्त्र-शस्त्र से आदमी को नही मारता, दर असल वह मारता ही नही है, आदमी उसे देखकर डर के मारे स्वय ही मर जाता है।[4] 'पत्नी' शीर्षक कहानी मे भी लेखक ने मृत्यु के भय पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य से अवगत होता है कि उसे एक-न-एक दिन मरना अवश्य है, किन्तु मृत्यु की कल्पना ही उसे भयभीत कर देती है।[5] व्यक्ति के अन्तर्निहित मार ने ही यम के

---

१. 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, पृ० स० ५२।

२ 'जो पूरा जीता है वह मौत मे भी जीवन देख सकता है। वही जिसके पास जीने के लिए कुछ है और वही मरने के लिए है।'

—जैनेन्द्र की कहानिया, भाग २, पृ० ४५।

३ जैनेन्द्र की कहानिया (मौत की कहानी), पृ० ६८।

४. जैनेन्द्र की कहानिया (मौत की कहानी), पृ० ६८।

५. 'यद्यपि वह जानती है कि मरना सब को है—उसको मरना है—उसके पति को मरना है पर उस तरफ भूल से छत पर देखती है तो भय से मर जाती है।'

—जैनेन्द्र की कहानिया।

रूप की कल्पना को भयकर और विकराल बना दिया है ।[१] अन्यथा यमराज तो व्यक्ति की विपदाओ से मुक्ति दिलाने मे ही सहायक है । मौत के सम्बन्ध मे अत्यधिक सतर्कता रखने तथा उस सम्बन्ध मे अधिक उपदेशादि देने से मौत की उत्तीर्णता नही व्यक्त होती वरन् मौत का मन ही प्रतीत होता है ।[२] जैनेन्द्र के अनुसार 'उसका (मौत का) आकर्षण है तो समझो उसका भय है ।'

जब व्यक्ति वैराग्य का बहुत अधिक उपदेश देता है और मन की सच्चाई को व्यक्त करना चाहता है, तब उसके मन मे निश्चय ही कोई अवश्य छिपा होता है । और वह भोग से भोग की ओर ही उन्मुख होना चाहता है । यान 'मौत पर…' कहानी मे मौत के अस्तित्व और उसकी सत्यता पर लम्बा प्रवचन दिया गया है, किन्तु अन्त मे वही प्रवक्ता अपनी भावनाओ को नियत्रित नही कर पाता और अतत भोगोन्मुख ही होता है ।[३]

मौत से बचने और डरने वाला व्यक्ति सदैव जीवन से चिपटा रहता है। 'जयवर्धन' मे जैनेन्द्र ने बताया है कि 'मौत को सतत् भीतर लेकर जीना असल जीना है । यह जीना मर कर होता है ।'[४] 'जैनेन्द्र-साहित्य का प्रमुख आदर्श त्याग और परमार्थ मे ही फलित होता है । यही कारण है कि उन्होने 'जयवर्धन' मे द्विजो से सहृदय व्यक्ति के बलिदान की भस्म से फूटने वाले जीवन को ही सच्चा जीवन माना है । उनकी दृष्टि मे जीवन पकड़ने मे नही छोडने मे है, भोग मे नही यज्ञ मे है ।'[५] जब व्यक्ति की वासना सासारिक भोगो मे लगी होती है, तभी वह मौत से चिंतित प्रतीत होता है ।

जैनेन्द्र के उपरोक्त विचारो मे उनकी दार्शनिकता की स्पष्टतः झलक मिलती है । दर्शन कोई विशिष्ट प्रक्रिया नही है । दर्शन जीवन के विविध शाश्वत सत्यो को गहराई से देखने की अन्तर्दृष्टि है। जैनेन्द्र ने जन्म-मृत्यु के आध्यात्मिक

---

१. 'यम का रूप विकराल है…क्योकि वह हमारे ही भय का रूप है । कल्पना की विकृति है वस्तुत विधाता की ओर के ये जो यमराज है वही तो धर्मराज है ।'

—जैनेन्द्र कुमार 'इतस्तत', पृ० १०६ ।

२. 'मौत से घबडाना मौत बुलाना है'

—जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० २३८ ।

३. जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ८, पृ० १७६ ।

४. जैनेन्द्रकुमार . 'जयवर्धन' पृ० ११ ।

५. जैनेन्द्रकुमार . 'जयवर्धन' पृ० ११ ।

तथा व्यावहारिक पहलू को बहुत ही व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि से विवेचित किया है। समस्त विचारो के मूल मे उनकी ईश्वरीय आस्था की स्पष्टत झलक मिलती है। उनके साहित्य मे अभिव्यक्त त्याग, भोग आदि भावो के मूल मे उनका पारमार्थिक दृष्टिकोण ही लक्षित होता है। जैनेन्द्र इस सत्य से पूर्णत अवगत है कि मृत्यु के आने पर व्यक्ति का सर्वस्व यही रखा रह जायगा[1] और वह भी अपनी मजिल पर पहुच जायगा। जीवन के सारे रिश्ते नाते तथा समस्त सम्पदा मौत के आने पर व्यर्थ हो जायगी।

जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की प्राप्ति जीवन से पार जाने मे ही सम्भव हो सकती है। जीवन के पार जाने का एकमात्र यान मृत्यु ही है। मृत्यु मे व्यक्ति का अह नि शेष हो जाता है। 'उपलब्धि' मे लेखक ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि व्यक्ति के अह का स्वरूप नमक की डली के सदृश्य है। नमक की डली यदि समुद्र मे डाल दी जाय तो वह उसी मे समाकर अस्तित्व शून्य (अहशून्य) हो जाती है, इसी प्रकार व्यक्ति का अह मौत के द्वारा विराट मे लीन हो जाता है। व्यक्ति शून्य मे समा जाता है। इस प्रकार निश्चय ही मौत यम का क्रूर आघात न होकर ईश्वर की कृपा ही है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी निजता को छोडकर समष्टि का बन जाता है। अन्यत्र उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि जीवन की उलझन मे मौत समाप्ति की भाति आकर अच्छा ही करती है।[2] जैनेन्द्र के पात्रो को मौत के अधेरे मे परमेश्वर के दर्शन होते है। मनुष्य के पास सबसे बडा सत्य यही है कि ईश्वर है और वह (व्यक्ति) नही है। इस सत्यता की पुष्टि मौत मे ही होती है, इसीलिए मौत सत्य है।

---

१. क) 'एक दिन मौत आएगी और सब रह जाएगा।'

—जैनेन्द्र की कहानिया, पृ० १६७।

ख) 'मनुष्य का निश्चय मौत नाम की वस्तु के आने पर रखा ही रह जाता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० ३२।

२. अ) जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ३ (उपलब्धि), पृ० १५७।

ब) जैनेन्द्र की कहानिया 'मौत जिसे कहते है जान गया हू वह तेरा ही हाथ है। ओ छलिया तू अधेरा बनकर इसी से आता है ताकि आखे तुझे न पहचाने।' पृ० १५८।

स) जैनेन्द्र की कहानिया, पृ० १२६।

'मैं नही हूं क्योंकि शून्य है और मैं शून्य हू। मैं कुछ नही हू यह अनुभूति ही मेरा सब कुछ है।'

परिच्छेद—५

●

जैनेन्द्र के अहं सम्बन्धी विचार

●●●

जैनेन्द्र के साहित्य मे अहं की स्थिति

जैनेन्द्र-साहित्य की आत्मा अथवा उसका मूल स्वर उनके अह सम्बन्धी विचारो मे ही मुखरित हुआ है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे अहभाव विभिन्न सन्दर्भो मे व्याप्त है। अह ही वह बिन्दु है, जिससे उनकी समस्त साहित्य-रचना प्रस्फुटित होती है। जैनेन्द्र का साहित्य वस्तु-जगत के आवेग और प्रदर्शन से अभिप्रेत न होकर अतस् की व्यथा से ही अनुप्राणित है। अन्तर्वेदना ही वह मूल स्त्रोत है, जहा से उनकी सम्पूर्ण साहित्य-सरिता प्रवाहित होती है। व्यथा अन्तर्मुखी है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का आधार व्यक्ति की अहता ही है। अह अर्थात् मैं के अस्तित्व द्वारा ही अत धारा बहिर्गत हो सकती है। वस्तुत अह आत्मजगत और वस्तुजगत के मध्य द्वार के सदृश्य है। जैनेन्द्र ने अह को द्वार मात्र ही माना है।[1] द्वार का कार्य आतरिक और बाह्य जगत मे सामजस्य स्थापित करना ही है। द्वार स्वय मे किसी जगत का प्रतिनिधि नही बन सकता, यही धारणा जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचारो का आधार है। उनके साहित्य का प्रेरक तत्व अचेतन मन (अनकान्शस माइण्ड) नही है, वरन् अतस् व्यथा है। यही जैनेन्द्र की अह सम्बन्धी विचार का महत्वपूर्ण अग है, जो उनके साहित्य मे विभिन्न परिप्रेक्षो मे अभिव्यक्त हुआ है। मानव-शरीर और आत्मा का अन्तर

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', प्र० स०, १९६२, दिल्ली, पृ० ६।
'अह निजता और विश्वता के बीच द्वार'

और बाह्य जगत की समष्टि है। पीडा अह अर्थात् व्यक्ति की सापेक्षता मे ही सम्भव हो सकती है।

जैनेन्द्र की अह सम्बन्धी विचारधारा उनके गहन चिन्तन और मनन का परिणाम है। उनका चिन्तन और मनन शास्त्रीय ज्ञान पर अवलम्बित न होकर स्वानुभव पर ही आधारित है। आत्मनिष्ठ होने के कारण जैनेन्द्र स्वानुभव को ही अपने विचारो की अभिव्यक्ति का आधार मानते है। उन्होने अपने विचारो के विश्लेषण के लिए भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान का मन्थन नही किया है। व्यक्तिगत जीवन के आस-पास के वातावरण के सूक्ष्म अध्ययन और अन्तश्चेतना के आधार पर ही उन्होने अपने विचारो की प्रतिष्ठापना की है। यद्यपि यह सत्य है कि विचारो की पुष्टि अथवा प्रामाणिकता के हेतु उन्होने किसी विशिष्ट दार्शनिक परम्परा को नही अपनाया तथापि सस्कारवश स्वाभाविक रूप से ही उन पर विभिन्न पाश्चात्य तथा पूर्वात्य दार्शनिक विचारो की झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है। व्यक्ति स्वय को परम्परा और परिवेश से पूर्णत मुक्त नही कर सकता, तथापि वह उस परम्परा मे अपनी मौलिक सूझ-बूझ की स्थापना के हेतु पूर्णत स्वतन्त्र है। वस्तुत जैनेन्द्र के विचारो पर अनायास ही भारतीय अद्वैत वेदात और साख्य-दर्शन तथा कतिपय पाश्चात्य दार्शनिको की छाया परिलक्षित होती है। जैनेन्द्र ने आत्मगत जीवन से परे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रो मे अह की विवेचना की है।

जैनेन्द्र के विचारात्मक निबन्ध तथा प्रश्नोत्तर रूप मे सग्रहीत विचार उनके आध्यात्मिक चिन्तन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते है। 'समय और हम' पुस्तक मे उन्होने अह का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यास और कहानिया भी अह सम्बन्धी विचारो की व्यावहारिकता को प्रस्तुत करने मे सहायक है। अह का स्वीकारात्मक अर्थात् अस्तित्वबोधक रूप और उसका निषेधात्मक अर्थात् अहकार सूचक रूप जैनेन्द्र के उपन्यास और विशेषत कहानियो मे परिलक्षित होता है। 'समय और हम' मे प्रश्नकर्ता ने उपोद्घात मे जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन को चार भागो मे विभाजित करके उनकी विवेचना की है। चारो विभागो मे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से उनके अह सम्बन्धी विचार व्याप्त है। अह ही वह सूत्र है जो जीवन की विविधता मे व्याप्त होकर भी एकता की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील है। जीव ब्रह्म से तादात्म्य, अहता और आत्मता तथा परस्परता और अहिसा सम्बन्धी दृष्टिकोण मे जैनेन्द्र की अह दृष्टि ही अनुप्राणित है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अह की विशद् विवेचना को दृष्टि मे रखते हुए उसके स्वरूप को जानना अनिवार्य है। सर्वप्रथम प्रश्न उठता

है कि जैनेन्द्र की दृष्टि मे अह क्या है तथा उन्होने अह को किन अर्थों मे स्वीकार किया है और उनकी विचारधारा परम्परागत दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारधारा से कहा तक स्वतन्त्र अथवा प्रभावित है ?

जैनेन्द्र के साहित्य मे सामान्यत 'अह' शब्द सन्दर्भ सापेक्षता मे विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। अह का मूल भाव व्यक्ति के 'मैं' भाव से सम्बन्धित है। 'मै' अस्तित्व बोधक है। समस्त सृष्टि एकमात्र 'मैं' के अस्तित्व पर ही निर्भर है। 'मै' चेतना युक्त है। चेतन शक्ति के कारण ही व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध होता है। चेतना के अभाव मे 'मैं' का अस्तित्व अर्थहीन सिद्ध होगा। जड वस्तुओ का अस्तित्व भी चेतन जीव के अह-बोध द्वारा ही ग्राह्य हो सकता है। जैनेन्द्र ने अह को दो विशिष्ट अर्थो मे स्वीकार किया है—पहला अस्तित्वबोधक, दूसरा अहकार सूचक। प्रथम अर्थ मे सृष्टि-विस्तार का बोध होता है तथा द्वितीय अर्थ मे विनाश सूचक है। जैनेन्द्र साहित्य मे अह के इन दो रूपो को बहुत ही व्यापक रूप से मौलिकता का पुट देकर विवेचित किया गया है।

अह का अर्थ : भारतीय और पाश्चात्य दर्शन

भारतीय दर्शन तथा मनोविज्ञान मे अह से समानार्थी विभिन्न शब्दो का प्रयोग प्राप्त होता है। दर्शन शास्त्र मे 'स्व' तथा आत्मतत्व और मनोविज्ञान मे इगो के रूप मे अह शब्द का प्रयोग किया गया है। फ्रायड मनोविज्ञान को छोडकर सामान्यत स्व और इगो दोनो ही अहबोधक है। स्व मै का पर्याय है तथापि मै अस्तित्वबोधक है और स्व आत्मता का सूचक है। इसी प्रकार सीमित मै अथवा अह भाव अहकार सूचक है। इगो द्वारा व्यक्ति की आत्मता से मेरी अधिक उसकी मानसिक सरचना का बोध होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति का मस्तिष्क चेतन, अवचेतन तथा अचेतन स्तरो मे विभाजित है। 'ईगो' व्यक्ति के अचेतन मन की अभिव्यक्ति का साधन है। वह चेतन मन से सम्बन्धित है।

उपरोक्त दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणो मे भिन्नता लक्षित होती है। दर्शन व्यक्ति के 'स्व' को लेकर चलता है। उसके विवेचन का आधार व्यक्ति का आत्मतत्व है। मनोविज्ञान मे व्यक्ति की आत्मता से इतर मानसिकता को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ है। एक का विवेचन अध्यात्मपरक (मेटाफिजिकल) है, दूसरे का वस्तुपरक (मेटीरियलिस्टिक), जैनेन्द्र का साहित्य अध्यात्म और भौतिकता की समष्टि है। इसलिए उनके साहित्य मे दर्शन और मनोविज्ञान का सामजस्य होना स्वाभाविक है।

'अह' शब्द की सामान्य विवेचना करने पर प्रश्न उठता है कि 'अह' मात्र शरीर बोधक है अथवा मन से सम्बद्ध है या व्यक्ति की सम्पूर्णता से सम्बन्धित है। सामान्यत 'अह' भावबोधक है, किन्तु अहभाव शरीर की सापेक्षता मे ही सम्भव हो सकता है। शरीर के अभाव मे अह-चेतना का प्रश्न ही नही उठता। अतएव अह भाव के लिए शरीर के साथ चेतना अनिवार्य है। किन्तु शरीर और चेतना (कान्शेसनैस) स्वय मे प्राण तत्व (आत्मा) के अभाव मे पर्याप्त नही है। आत्महीन शरीर मे चेतना अविद्यमान रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार शव के नेत्रो मे भी बिम्ब बनते है, किन्तु उसे उसका बोध नही होता है।[1] अतएव 'अह' का पूर्ण और वास्तविक ज्ञान समग्रता मे ही सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध मे विचारको ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है।

पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य दार्शनिको ने अह अथवा सेल्फ के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए है। श्रीमती राय ने अपने शोध-प्रबन्ध मे पाश्चात्य दार्शनिको के विचारो की पूर्ण विवेचना की है। अरस्तू ने अह को पारमार्थिक तत्व के रूप मे स्वीकार किया है। यह तत्व शरीर मे रहते हुए भी उससे असम्बद्ध रहता है।[2] डेकार्ट ने सर्वप्रथम इस तर्क की ही पुष्टि की है कि 'स्व' अथवा 'मैं' का अस्तित्व है या नही, क्योकि पाश्चात्य दार्शनिको मे प्राय. अह के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह उत्पन्न होता रहा है। डेकार्ट महोदय ने स्व को विचारक के रूप मे स्वीकार किया है। उसके अनुसार 'मैं विचार करता हूँ इसलिए मै हूँ।' इस प्रकार उन्होने अह को चिन्तनशील तत्व के रूप मे स्वीकार किया है। लाक ने 'स्व' को प्रत्यय के आधार पर स्वीकार किया है। डेकार्ट का चिन्तनशील 'स्व' बुद्धिपरक है, उसमे तर्क के द्वारा 'मै' की सिद्धि की गयी है, किन्तु जैनेन्द्र का अह अथवा मै अध्यात्मपरक है तथा लाक का प्रत्ययवादी दृष्टिकोण 'अह की आत्मता को सिद्ध करने मे असमर्थ होता है। जैनेन्द्र के विचारो पर प्रसिद्ध दार्शनिक वर्कले के विचारो की झलक देखी जा सकती है। जैनेन्द्र ने 'अहं' को अश के रूप मे स्वीकार किया है अतएव वह आत्मता से निरपेक्ष पूर्णत. वस्तु-सत्य नही बन सकता। इस प्रकार वह अनुभववादी विचार-धारा के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। वर्कले के अनुसार भी प्रत्यय के रूप मे अह की

---

१ जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम',

२ कमलाराय 'कान्सेप्ट आफ सेल्फ', प्र० स०, कलकत्ता, १९६६, पृ० स० ८।

कल्पना नही की जा सकती। प्रत्ययो का कोई कारण अवश्य है और वह है 'अह' (माइसेल्फ) जीव (सोल) या 'आत्मा' (स्पिरिट) आत्मा का ज्ञान प्रत्ययो के रूप मे नही हो सकता, क्योकि प्रथम जडवत है और आत्मा चेतन तथा सक्रिय है। अन्तत वर्कले ने आत्मा अथवा अह के अस्तित्व को अन्तर्बोध (नोशन) के आधार पर सिद्ध किया है।[१] इस प्रकार वर्कले के अध्यात्मवादी विचारो से जैनेन्द्र मे साम्य प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के विचारो पर भी आध्यात्मिकता की पूर्ण छाप दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र और वर्कले के विचारो के मूल मे साम्य है, वह वर्कले के विचारो की आध्यात्मिकता के कारण ही सम्भव है। वस्तुत जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचारो पर वर्कले का ही आशिक प्रभाव लक्षित होता है। साराशत जैनेन्द्र के साहित्य का विवेचन करते हुए हम उनके विचारो को पूर्णरूप से किसी भी पाश्चात्य दार्शनिक के निकटस्थ नही रख सकते।

भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन की परम्परा मे जैनेन्द्र के विचारो को मुख्यत अद्वैत वेदान्त, साख्य दर्शन और जैन दर्शन के सबध मे विवेचित किया जा सकता है। शकर के आत्म सबधी विचारो की छाप जैनेन्द्र के विचारो पर स्पष्टत परिलक्षित होती है।[२] शकर के अनुसार 'आत्मतत्व', 'परमतत्व' अभिन्न है।[३] आत्मा का स्वरूप है, आत्मा-परमात्मा मे जो भेद दृष्टिगत होता है, वह अज्ञान तथा भ्रम के कारण ही प्रतीत होता है। अन्यथा दोनो एक है। शकर ने पारमार्थिक सत्य से परे व्यावहारिक दृष्टि के आधार पर 'जीवात्मा' को बाह्य जगत का भोक्ता स्वीकार किया है। शकर की पारमार्थिक दृष्टि अद्वैतवादी होने के कारण आत्मा को अनेकता का हेतु नही मानती। जगत मे व्याप्त अनेकता का कारण माया है जो जीव मे आत्मा और ब्रह्म की एकता को स्थापित करने मे असमर्थ है। शकर के अनुसार अज्ञान का अधकार दूर हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता का बोध हो जाता है। जगत मिथ्या है, अतएव अनेकता भी असत्य है। एकता की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र-साहित्य पर अद्वैत वेदान्त का बहुत अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र साहित्य मे जीवन के

---

१ कमलाराय 'कान्सेप्ट आफ सेल्फ', पृ० १५।

२ 'एक सत् और विप्रा . बहुधा वदति।'—'एक अनेक वह और मैं।'
—जैनेन्द्र · 'अनन्तर', पृ० स० ८५।

३ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० स० ४८३।

प्रत्येक क्षेत्र मे अनेकता से ऊपर उठकर एकता की ओर उन्मुख होने की चेष्टा परिलक्षित होती है। शकर के अनुसार 'द्वैत' तथा अनेकता अविद्या का हेतु है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे जगत मिथ्या नही है। ससार इन्द्रिय गम्य है अतएव शरीर-गत अहता भी भ्रम नही है। जैनेन्द्र आत्मगत एकता को स्वीकार करते हुए भी वस्तुगत अनेकता को अनिवार्य मानते है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवात्मा व्यक्ति के होने की द्योतक है। अहता के माध्यम से ही अद्वैत सत्य का बोध हो सकता है। अन्तत जैनेन्द्र के साहित्य मे अद्वैतवादी आत्मगत एकता ही मूलत स्वीकार्य है। भिन्नता वस्तुगत है, किन्तु एकता आत्मगत है। सब प्राणियो के अन्तस् मे एक ही आत्मा का निवास है। इस प्रकार मूलत सब एक है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे एकता की प्राप्ति की ओर विशेषत निर्दिष्ट किया है। जैनेन्द्र की धारणा व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त तथा महत्वपूर्ण है। सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से अनभिज्ञ होता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता का दर्शन उसे तात्विक-विषय प्रतीत होता है। जैनेन्द्र ने तत्व मे भाव का समावेश करके अपने विचारो को व्यावहारिक बना दिया है। शकर ने आत्मा को अह से इतर माना है। उनकी दृष्टि मे सामान्य रूप से हम जिस अह (मै) की परिकल्पना अस्तित्व-बोध के रूप मे करते है, उसे जीवात्मा के रूप मे ही समझा जा सकता है।[1] वस्तुत जैनेन्द्र का अहता और शकर की जीवात्मा समानार्थी है। जीवात्मा शरीरगत चेतना से तद्गत है। अहता अथवा मै और जीवात्मा को शकर ने शून्य (निगेटिव) रूप मे स्वीकार किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे अहता (मै) ससार के त्याग द्वारा नही, वरन् प्रेम और समर्पण भाव द्वारा ही सत्य का बोध प्राप्त कर सकती है। यही जैनेन्द्र और शकर की दृष्टि मे मूल भेद है।[2] जैनेन्द्र के साहित्य मे अह के पार्थक्य को सासारिक क्रिया-कलाप के हेतु अनिवार्य माना गया है, किन्तु मूल तत्व समर्पण की भावना मे ही समाहित है। 'मैं' 'पर' परस्पर प्रेम के द्वारा इस प्रकार एकत्व को प्राप्त कर लेते है कि उनके मध्य द्वैत भाव मिट जाता है। 'स्व' और 'पर' शून्यवत् होकर परमात्मोन्मुख हो जाते है। ब्रह्म की प्राप्ति आत्मोन्मुख होकर ही सम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य

---

१ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', वैल्यूम २, आठवा सस्करण, लन्दन, १९५८, पृ० स० ४८०।

२. 'अस्मि और अस्त के इस खिचाव के बीच यह हमारी सब सभवता है। उसी मे से आता है पुरुष का पुरुषार्थ। या तो अस्मि अस्ति मे डूब जाए या अस्ति अस्मि मे भरपूर हो जाए।'

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ८५।

मे शून्यता भाव रूप मे स्वीकृत की गई है, अस्तित्व के निषेधात्मक रूप मे नही।

शकर ने अह को आत्मगत सत्य (सब्जेक्टिव) के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होने वस्तुगत (आब्जेक्टिव) सत्ता का निषेध किया है। साख्य दर्शन मे अहगत अनेकता को सत्य रूप मे स्वीकार किया है। डा० राधाकृष्णन ने 'इडियन फिलासफी' मे साख्य दर्शन की अनेकता की ओर निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार साख्य दर्शन मे जीवात्माओ के अनेकत्व के लिए कोई विवाद नही है।[१] साख्य दर्शन मे प्रकृति और पुरुष दो पृथक् तत्व है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोज्य है। पुरुष को ही आत्म (सेल्फ) रूप मे स्वीकार किया गया है।[२] पुरुष की स्थिति प्रकृति से पूर्णत स्वतन्त्र है। पुरुष अर्थात् आत्मा शरीर से तद्गत नही है।[३] पुरुष स्वय प्रकाश्य है। पुरुष आन्तरिक विषय है और प्रकृति वस्तु है।[४] पुरुष के आत्मत्व तथा जीव के अह भाव मे अन्तर है। अहकार से युक्त पुरुष ही जीव (अह, मै) है। वास्तविक आत्मा जीव से परे और आन्तरिक है।[५] वस्तुत जैनेन्द्र की आत्मगत एकता साख्य के पुरुष की समानार्थी ही है।

विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अनुसार 'अह बुद्धि[६]' के जाग्रत होने पर ही अहता (स्व) का बोध होता है। साख्य दर्शन की अनेकता जैनेन्द्र के अहभाव की पुष्टि करती है तथा पुरुष का निरपेक्ष रूप भी जैनेन्द्र की आत्मता के समकक्ष है, किन्तु साख्य दर्शन की अनीश्वरवादी विचारधारा जैनेन्द्र की आस्तिकता से सगत प्रतीत नही होती। जैनेन्द्र ने प्रकृति को अहयुक्त माना है इस दृष्टि से ही केवल उन्हे साख्य दर्शन के सम्पर्क मे समझा जा सकता है। साख्य दर्शन मे अनेकता पर प्रश्रय दिया गया है। जैनेन्द्र ने अनेकता को स्वीकार

---

१ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० २८१-२८२।

२ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० २८५।

३ कमलाराय 'कान्सेप्ट आफ सेल्फ', पृ० १८१।

४ कमलाराय 'द पुरुष इज दि एटरनल सब्जेक्ट ऐण्ड प्रकृति इज दि एटरनल आब्जेक्ट', पृ० स०१८१।

५ 'Vijnanabhiksu says that Purusa with ahamkara is the Jiva and not Purusa itself The Ego (Jiva is an item in the natural world while the Purusa is eternally one with itself The Empirical Ego is the mixture of free spirit and mechanism of Purusa and Prakrti' 'Concept of Self' (p 184).

६ 'Ahambudhi consciousness is the characteristic essence of the individual ''Concept of Self' (P. 188)

करते हुए भी उसे अन्तिम सत्य नही माना है। वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार 'अह भौतिक जगत का एक अनिवार्य सत्य है। शाश्वत सत्य आत्मा तथा परमात्मा है। ससार की स्थिरता तथा सक्रियता के हेतु अह का अस्तित्व अनिवार्य है। जैनेन्द्र की अहता अश रूप होते हुए भी ब्रह्म से पृथक् नही है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में अहं

जैनेन्द्र की दृष्टि मे अह अशता अथवा खण्डता का बोधक है। पूर्ण अथवा समग्र और अखण्ड एकमात्र 'भगवत्-भाव' है।[1] अह मे उस समग्रता का अश कम है। वह ससार की सापेक्षता मे ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे अपना निजत्व होता है, वही उसका अहभाव है। इस प्रकार अह सख्यातीत है। वही जगत मे अनेकता का हेतु है। मैं तुम का भेद अनेकता के कारण ही विकसित होता है। अशरूप अह अखण्डता की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अनेकता के मध्य एकता को स्थापित करने के हेतु अह की भगवतोन्मुखता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है।[2]

अह का स्वरूप

जैनेन्द्र ने शकर के सदृश्य जगत को मिथ्या नही माना और न ही साख्य का निरीश्वरवादी दृष्टिकोण ही अपनाया है। जैनेन्द्र ने मानव जीवन की समग्र विवेचना की है। 'अह' का अस्तित्व जगत के अस्तित्व मे ही सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे अह की पार्थक्य और अस्तित्वमूलक अर्थ-वत्ता स्वीकार करते हुए यह प्रश्न उठता है कि अह का स्वरूप वस्तुमय (जड) है अथवा चेतन ? पाश्चात्य दर्शन मे अधिकाशत अह को वस्तु (आब्जेक्ट) रूप मे स्वीकार किया गया है। लाइबनीज आदि विचारको के अनुसार अह प्रत्ययगत तथा जड है। भारतीय दर्शन मे शकर ने ही विशिष्ट रूप से अह को आत्मरूप (सब्जेक्ट) मे स्वीकार किया है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अह को कर्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है। अह मे भाव है जो 'पर' से पार्थक्य को इगित करता है। सब्जेक्ट और आब्जेक्ट का पूर्ण भेद स्पष्ट नही हो सकता,

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', प्र० स०, दिल्ली, १९५६, प्र० स० २२४।

२ 'अस्तित्व स्वय मे प्रश्न नही होना चाहिए। प्रश्न होता है जब अस्तित्व अलग होते है। हम सब अलग ही हैं। अस्तित्व की जगह हम अस्तित्व है। इस अस्मि के भाव मे अस्ति से अपना अन्तर डालते हैं।'
—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ८५।

क्योकि एक ही वस्तु सन्दर्भ भेद के कारण कर्ता है और कृत्य भी है। पाश्चात्य दर्शन का विवेचन करते हुए श्री अलबरी कास्टल महोदय ने अह के सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव रूप की पूर्ण विवेचना की है। जैनेन्द्र के साहित्य का विवेचन करते हुए ज्ञात होता है कि अह चेतनजीव अथवा मानव प्राणी मे ही नही होता, वरन् जड पदार्थो मे भी अहता विद्यमान होती है। पेड, पौधे, ईट, पत्थर आदि जड पदार्थो मे भी अहभाव होता है, क्योकि वे स्वय मे विशिष्ट है। किन्तु जड वस्तु की अहता तथा चेतन व्यक्ति की अहता मे अन्तर है। व्यक्ति चेतन प्राणी है, उसमे आत्मोन्मुख होने की क्षमता है। वह प्रेम, घृणा आदि भावो से युक्त तथा सवेदनशील है, किन्तु जड पदार्थ चेतना हीन है। पदार्थ की वस्तुता व्यक्ति की अहता द्वारा ही ज्ञात होती है। 'मै' हू के साथ ही मेरी सपत्ति भी मैं से सबद्ध है।[१] जैनेन्द्र के साहित्य मे प्रकृति को प्रतीक रूप मे वर्णित करते हुए उसे अहभावना से युक्त किया है। 'तत्सत्'[२] कहानी मे 'मैं' 'तुम' का भेद वन के वृक्षो मे अह बोध को जाग्रत कर देता है। वे समष्टि रूप मे स्वय को नही समझ पाते। बास का वृक्ष केवल 'बास' ही है वह जगल नही है। इस प्रकार उनकी अह भावना ही उन्हे समग्र बोध से परे रखती है। उनके साहित्य मे प्रकृति अहता का विसर्जन करते हुए ही दृष्टिगत होती है। सूर्य पृथ्वी के आकर्षण तथा विराट् प्रकृति के विनत समर्पण मे अहता के विसर्जन का ही भाव प्रदर्शित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार जड चेतन प्रत्येक मे एक ही आत्मा का निवास है। समस्त सृष्टि मे एक परब्रह्म की ही सत्ता व्याप्त है। अरस्तू के अनुसार जड, चेतन, पशु आदि मे भिन्न आत्माए निवास करती है।[३]

उपरोक्त विचारो से इतर जैनेन्द्र ने अह के सम्बन्ध मे अपनी मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की है। उन्होने अह को 'क्रास प्वाइण्ट'[४] के रूप मे स्वीकार किया है। क्रास प्वाइण्ट से उनका तात्पर्य उस बिन्दु से है जिस बिन्दु पर काल और आकाश एक-दूसरे को काटते है। काल और आकाश अनन्त हैं, वे

---

१ 'मेरी सम्पत्ति, मेरी चीज आदि वह भी अपने आप मे अहशून्य है। उसमे भी सब्जेक्टिविटी है।'—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र के विचार', दिल्ली, पृ० स० ६०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानिया,' पृ० १६४।

3 'Aristotle no doubt draws a line of distinction between the Plant soul, the animal soul and the human soul'—
Roy —'Concept of self'—(p 8)

४ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० स० ५२८।

प्रत्येक बिन्दु पर एक-दूसरे को काटते है। अतएव अह बिन्दु भी अनन्त है। जैनेन्द्र के अनुसार अह बिन्दु का ब्रह्माण्ड से आकर्षण और अपकर्षण का सबध ही सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र की उपरोक्त मान्यता तथ्य को इतना सूक्ष्म बना देती है कि उसकी पकड सरलता से सम्भव नही हो सकती।[1] जैनेन्द्र के अनुसार कुल अस्तित्व अखण्ड है। कुछ मे जो खडितता की प्रतीति आई है उसे हम दो आयामो मे विभक्त देखते है…काल और आकाश। काल और आकाश के मध्य चेतन्य बिन्दु अह का स्वरूप लेता है। वह उन दो यथार्थो के मेल अथवा काट का ही बिन्दु हो सकता है। अह पार्थक्य पोषक है। काल और आकाश के मिलन-बिन्दु मे चेतना का प्रवाह होने से पृथक्ता अथवा 'मै' का बोध होता है। जैनेन्द्र के अनुसार समग्र सत्य मे किसी क्रिया की भी धारणा नही रखी जा सकती, किन्तु हर गति के लिए 'कही से' और 'कही को' बिन्दुओ की परिकल्पना आवश्यक है अर्थात् 'क्रिया' और 'चेतना'। वस्तुत जैनेन्द्र की उपरोक्त विचारधारा पूर्णत स्पष्ट तो नही हो पाती तथापि उसमे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अह अशता का बोधक है। अखण्ड ब्रह्म जो कि क्रिया-शून्य है, किन्तु 'अह' चेतना और क्रिया से युक्त होकर ही अपने पार्थक्य का बोध कर पाता है। मै 'हू' का बोधक है। मैं के साथ ही साथ 'पर' की स्थिति भी अनिवार्य है। ऐसा नही हो सकता कि ससार मे केवल मेरा स्वत्व ही अस्तित्व रखता है। मेरे जैसे अनन्त अह की स्थिति ससार मे दृष्टिगत होती है। 'हूं' और 'है' के बीच ही जगत की सारी प्रक्रिया घटित होती है। 'हू' जगत की प्रक्रिया के सदर्भ मे ही सत्य है और सार्थक है किन्तु शाश्वत सत्य जो है वही है, इतर सब मिथ्या है। 'है' ईश्वर का बोधक है, क्योकि वही एक-मात्र सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार 'मैं' का आरम्भ जन्म से और अत मृत्यु मे है। आयु 'मैं' की होती है।

'मैं' का बिन्दु ही है जहा से चैतन्य का केन्द्र और क्रिया आरम्भ हुई। इस दृष्टि से जो 'स्व' निज अथवा अह का बिन्दु है वह अचिन्तय सार्थक हो जाता है। अह की अमिष्टता और अवभीष्टता वहा से शुरू होती है जहा चेतन उस केन्द्र के चहु ओर बढने के बजाय वही केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार अह का केन्द्र विराट् की ओर बढने की बजाय अपने मे सिमट कर और इतर से

---

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार करने के पूर्व 'अह क्रास प्वाइण्ट' की धारणा मे अह-गत जडता का ही बोध होता था। उसके मूल मे निहित चैतन्य प्रक्रिया का ज्ञान नही हो सका था, किन्तु उनसे विचार-विमर्श करने पर 'अह' के स्वरूप को समझने मे सहायता मिली। (२०-५-७१)।

विच्छिन्न होकर अह के लिए खतरा है और जिसके कारण अह से बचने की आवश्यकता है। स्नेह से अह को मुक्त विस्तार मिलता है।[1]

अहं और आत्मा

जैनेन्द्र के साहित्य की अह सबधी विवेचना करते हुए जैनेन्द्र की दृष्टि मे अह और आत्मा के अतर को समझना अनिवार्य है। प्राय दार्शनिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र मे भ्रमवश अहता और आत्मता (आत्मा) को एक ही समझ लिया जाता है। ऐसी स्थिति मे शाश्वत सत्य और लौकिक सत्य के बीच अतर करना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र ने अहता और आत्मता मे स्पष्टत अन्तर व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि मे अह शरीर इन्द्रिय और चेतना का समुच्चय है। वीरेन्द्रकुमार गुप्त ने जैनेन्द्र के अह और आत्म सम्बन्धी भेद को बहुत ही स्पष्ट-रूप से व्यक्त किया है। उनके अनुसार जैनेन्द्र के अहता और आत्मता को प्रचचित लौकिक अथवा नैतिक अर्थ मे न लेकर वैज्ञानिक अर्थ मे ही लेना होगा। अहता अर्थात् अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अश का समग्र व्यक्तित्व।[2] जैनेन्द्र व्यक्तिगत अस्तित्व के अह को सृष्टि और जीवन का केन्द्र मानते है क्योकि अह की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ होता है और उसके साथ ही उसके क्षय के साथ उसका विलय।[3]

आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। अह आत्मा की चेतन शक्ति का सक्रिय रूप है। अह अथवा जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव मे अह बोध होने के कारण 'स्व' 'पर' के पार्थक्य की चेतना होती है। शरीर अथवा जीव को आत्मा की सज्ञा नही दी जा सकती और न ही आत्मा को अह युक्त माना जा सकता है। मानव प्राणी मे स्व-पर भेद की पूर्ण चेतना होती है। जो मैं हू वह वह नही है। वस्तुत अह सीमित भाव है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अह बोध से जाग्रत होते ही पर से पृथक् हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार अह शरीरगत होते हुए भी शरीर मे स्थिति किसी अवयव या अग से तद्गत नही है। अह वह है जो सुख-दु ख को अपना करके उसे मानता है।[4] 'वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार अह भाव जो व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध कराने मे समर्थ हैं। अह भाव अथवा मैं की चेतना का स्रोत अथवा अवलम्ब आत्मा है।

अह अनेकता, वैभिन्य और द्वन्द्व मूलक है। आत्मा ऐक्य और अद्वैत तथा

---

१. जैनेन्द्र से विचार-विमर्श के अवसर पर उपलब्ध।
२. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० २०।
३. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० २०।
४ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ६३।

प्रेम और अभेद मूलक है। जैनेन्द्र के अनुसार अहगत अनेकता अतिम सत्य नही है। आत्ममूलक अभेदत्व की प्राप्ति ही जीव (अहता) का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे एक 'परम ब्रह्म' का ही प्रकाश समानरूप से दीप्त होता है। अत बाह्य रूप मे जो भेद-भाव दृष्टिगत होता है, वह अतस् आत्मा के ऐक्य मे विलीन हो जाता है। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का आदर्श अभेदत्व की प्राप्ति है। भेद अथवा द्वैत भाव जागतिक सत्य है। जैनेन्द्र ने अह के आत्मोन्मुख होने को ही परम आदर्श माना है। जैनेन्द्र के अनुसार समाज व देश मे व्याप्त समस्त मतवाद आत्मोन्मुख होकर अस्तित्वहीन हो जाते है। जैनेन्द्र-साहित्य मे अह को केवल द्वार रूप मे ही स्वीकार किया गया है अतएव यदि अह रूपी द्वार पर ही स्थिर रहने वाला व्यक्ति आत्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग से विमुख हो जाता है और उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

जैनेन्द्र की आत्म सम्बन्धी धारणा पर शकर और साख्य दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होने सप्रयास किसी भी दर्शन के सिद्धान्तो को ग्रहण नही किया है तथापि भारतीय दर्शन की आत्मा की सत्यता से भी तटस्थ नही है। शकर के अनुसार आत्मा कर्म से स्वतन्त्र है, शरीर तथा मन के बन्धन से भी स्वतन्त्र है। आत्मा और शरीर एक नही है। अह भाव शरीर मे है। शकर उस आत्मा मे जो समस्त अनुभव मे उपलक्षित होती है और उस आत्मा मे जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एक आध्यात्मिक विषयी 'मैं' और मनोवैज्ञानिक विषयी 'मुझको' मे भेद करते है।[१] डा० राधाकृष्णन् के अनुसार शकर की दृष्टि मे अह प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नही है, जो साक्षी है वरन् वह है जो क्रियाशील है, कर्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है, जिसमे विषयनिष्ठ गुणो का समावेश है, ऐसी आत्मा विषय है।[२] साख्य दर्शन मे पुरुष को नित्य तथा आत्मरूप माना गया है। देहस्थ क्रियाओ का कर्ता पुरुष नही है। पुरुष निष्क्रिय है। साख्य के अनुसार जीव प्राकृतिक जगत का अश है। जीवन और आत्मा के सम्बन्ध मे शकर और वेदान्त मे बहुत साम्य दृष्टिगत होता है। उनमे मूल भेद आध्यात्मिक दृष्टि के कारण ही उत्पन्न होता है। जीव और आत्मा का स्वरूप तो जैनेन्द्र के साहित्य मे उपरोक्त रूप मे दृष्टिगत होता है, किन्तु साख्य दर्शन मे पुरुष परब्रह्म का अश रूप नही है, जब कि जैनेन्द्र ने वेदान्त के अशरूप आत्मतत्व को ही स्वीकार किया है। साख्य मे प्रकृति और पुरुष के मिलन से विक्षोभ

---

१. डा० राधाकृष्णन् · 'इण्डियन फिलासफी', पृ० स० ४७६।
२ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० सं० ४७९।

उत्पन्न होने पर सृष्टि की रचना होती है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार अहता और आत्मता के मिलन से सृष्टि ही नही होती, वरन् दोनो (स्व-पर) परस्पर मिलकर स्वत्वहीन तथा शून्यवत् होकर ब्रह्मोन्मुख हो जाते है। यही जैनेन्द्र की अहता का परम लक्ष्य है। परस्पर समर्पण मे ही अहता का तिरोभाव सभव होता है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे अह और आत्मा का विवेचन अधिकाशतः उनके निबन्धो द्वारा ही हुआ है। उपन्यास तथा कहानियो मे उन्होने अपने आदर्शों को व्यावहारिक जीवन के धरातल पर प्रस्तुत किया है किन्तु उनमे मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कुछ अन्तर अवश्य आ गया है। जैनेन्द्र के साहित्य का सैद्धान्तिक पक्ष दर्शनशास्त्र से प्रभावित हो उसमे शाश्वत सत्यो की विशद् विवेचना की गई है तथा आत्मा के सन्दर्भ मे शकर की पारमार्थिक दृष्टि का सहारा लिया गया है। शकर ने अपने दर्शन को पारमार्थिक तथा व्यावहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। पारलौकिक जीवन के हेतु उन्होने पारमार्थिक दृष्टि को अपनाया है, किन्तु लोकिक जीवन के क्षेत्र मे उन्होने व्यावहारिक दृष्टि स्वीकार की है। कोरी पारमार्थिकता जीवन को व्यवहार तथा नीति-शून्य बना देती है। उसमे भले-बुरे, सत-असत् का प्रश्न ही नही उठता। अतएव व्यावहारिकता की स्वीकृति अनिवार्य थी। इन आदर्शों के समकक्ष जब हम जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचारो को व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि मे देखते है तो हमे उनके विचारो की व्यावहारिकता तथा मनोवैज्ञानिकता स्पष्टत दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के विचारो की विशिष्टता मनोवैज्ञानिक अथवा यथार्थ जीवन की घटनाओ मे पारमार्थिक सत्य का समावेश करने मे ही परिलक्षित होती है।

जैनेन्द्र की अहं दृष्टि और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे दर्शन के साथ ही साथ मनोविज्ञान का बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। अह के अश रूप तथा 'मैं' 'तुम' के भेद का सैद्धातिक रूप मनोविज्ञान के सहारे ही पूर्णाभिव्यक्ति मे समर्थ हुआ है। मनोविज्ञान व्यक्ति जीवन के रहस्योद्घाटन का एक मात्र साधन है। व्यक्ति क्या है ? उसके विचारो और आदर्शों का मूल उद्गम क्या है —? आदि बातो का ज्ञान व्यक्ति का मानसिक विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होता है। साहित्य निरा सिद्धातमय नही है। उसमे दर्शन और मनोविज्ञान का शास्त्रीय से इतर व्यावहारिक रूप ही ग्राह्य हो सकता है। जैनेन्द्र के पात्रों की आत्मा मे अध्यात्मिक सत्य अन्तर्निष्ठ है तो व्यावहारिक जीवन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष मे प्रस्तुत हुआ है।

फ्रायड मनोविज्ञान

मनोविज्ञान मे 'मै' अथवा अह के हेतु 'इगो' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१] सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मनोविश्लेषण के द्वारा मानव जीवन के गुह्य रहस्य का उद्घाटन किया है। साहित्य पर फ्रायड के सिद्धातो का बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि जैनेन्द्र स्वय को फ्रायड के सिद्धात से परिबद्ध नही मानते, फिर भी उनके साहित्य मे फ्रायडीय मनोविश्लेषण की झलक पूर्णत दृष्टिगत होती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इगो[२] शरीर तथा 'मानसिक सघटन'[३] का सूचक है। मानव मस्तिष्क के चेतन, अर्धचेतन तथा अचेतन तीन पहलू है, जिनपर समस्त मानसिक सघटन आधारित है। चेतन-पक्ष वर्णनात्मक होता है। व्यक्ति का अभिव्यक्त रूप चेतन है। चेतना के द्वारा ही वह बाह्य जगत (रियल्टी) से सम्बन्ध स्थापित करता है। चेतना प्रत्यक्ष-बोध (परसेप्शन) पर आधारित होती है, इसलिए उसका स्थायित्व होता है। चेतन के भीतर व्यक्ति का अचेतन मन विद्यमान है। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति का चेतनपक्ष अर्थात कान्शस ही इगो है और अचेतन पक्ष 'इड' है। फ्रायड के अनुसार अवचेतन मन ही व्यक्ति की समस्त क्रियायो का प्रेरक स्रोत है। इगो अथवा अह अचेतन (इड) का वह अश है जो बाह्य जगत के प्रभाव के कारण सशोधित हो जाता है। इगो के सशोधन मे प्रत्यक्ष-बोध का बहुत अधिक सहयोग रहता है। वस्तुत फ्रायड की दृष्टि मे इगो (अह) अत. जगत की अभिव्यक्ति तथा बाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित करने की कडी है। फ्रायड की दृष्टि मे इगो का आत्मा अथवा परमात्मा से कोई सम्बन्ध ही नही है। इगो मानसिक सघटन का ही एक अश है। उसका स्वय मे कोई महत्व नही है। इगो का कार्य अचेतन मन इड की उधार ली हुई शक्ति के द्वारा अभिप्रेरित होता है।[४] फ्रायड ने इगो को अवचेतन मन का सेवक माना है। अचेतन मन व्यक्ति की इच्छाओ का केन्द्र है। अचेतन के मूल मे लिविडो अर्थात् काम प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। फ्रायड के अनुसार अह अर्थात् व्यक्ति की समस्त इच्छाओ की प्रेरक काम-प्रवृति ही है। सामाजिक मर्यादा के कारण व्यक्ति अपनी दमित वासना की स्वच्छन्दाभिव्यक्ति मे असमर्थ होता है। अतएव

---

१. सिगमड फ्रायड . 'दि इगो एण्ड दि इड', चोथा सस्करण, १९४७, पृ० १५।

२ 'दि इगो इज फर्स्ट एण्ड ए बाडी...इगो'...फ्रायड · 'इगो एण्ड दि इड', पृ० ३१।

३ · फ्रायड . 'इगो एण्ड दि इड'।

४ फ्रायड : 'इगो एण्ड दि इड', पृ० २६।

अचेतन मन व्यक्ति की काम वासना को सशोधित करके ही चेतन स्तर पर आने की अनुमति देता है। फ्रायड के अनुसार इगो का प्रतिनिधित्व प्रत्यक्ष-बोध (परसेप्शन) द्वारा होता है यथा अचेतन मन (इड) का प्रतिनिधित्व मूल प्रवृतिया करती है। अचेतन के सतही अर्थात् ऊपरी भाग मे स्थित इच्छाए सदैव चेतन स्तर पर आने के हेतु प्रयत्नशील रहती है और अवसर मिलने पर अभिव्यक्त हो जाती है, किन्तु पूर्णत दमित इच्छाए अपने वास्तविक रूप मे अभिव्यक्ति प्राप्त करने मे असमंथ होती है। चेतन और अचेतन मन के सघर्ष के परिणाम स्वरूप सुपर इगो की उत्पति होती है।

फ्रायड ने व्यक्ति के अचेतन मन पर ही विशेष रूप से कार्य किया है। अचेतन मन मे दो प्रकार की मूल प्रवृतिया (इनस्टिन्क्ट) सदैव सघर्ष रत रहती है कामेच्छा अथवा स्वरक्षा की प्रवृति और दूसरी विनाश की(डिस्ट्रक्टिव)प्रवृति। चेतन जगत मे यही प्रवृतिया प्रेम (लव) और घृणा के सशोधित रूप मे व्यक्त होती है। ये दो प्रवृतिया ही फ्रायड की दृष्टि मे व्यक्तित्व के निर्माण की आधार-शिला है। कामेच्छा व्यक्ति की प्रबलतम प्रवृति है, उसके पूर्ण न होने पर व्यक्ति अपने 'आब्जेक्ट' को विनष्ट करने लगता है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से फ्रायड ने कामेच्छा के उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) को आवश्यक बताया है जिससे व्यक्ति कला, सगीत आदि मे अपनी प्रवृतियो को स्थानान्तरित करके स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

फ्रायड और जैनेन्द्र

फ्रायड के विचारो का स्पष्ट विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि जैनेन्द्र के साहित्य मे फ्रायडीय मनोविश्लेषण का पूर्णत निषेध नही किया जा सकता, यद्यपि यह सत्य है कि दोनो के विचारो के मूल मे गहरा अन्तर है। फ्रायड वस्तुवादी विचारक है और जैनेन्द्र अध्यात्मवादी। फ्रायड और जैनेन्द्र मे यदि साम्य है तो वह काम-प्रवृत्ति की स्वीकृति मे ही दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विवेचन की अतिशयता को दृष्टि मे रखते हुए नि.सन्देह ही जैनेन्द्र के साहित्य पर फ्रायड के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है। तात्विक दृष्टि से जैनेन्द्र और फ्रायड के विचारो मे अन्तर है। जैनेन्द्र ने अह् को बाह्य जगत और अन्त जगत के मध्य द्वार रूप मे स्वीकार किया है। उनके अनुसार आत्मजगत का वस्तु जगत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तु जगत मे कर्मशील व्यक्ति ही आत्मोन्मुख होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अन्तश्चेतना से प्रेरित होकर कर्म करता हुआ व्यक्ति पुन आत्मोन्मुख होकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है। व्यक्ति अथवा

अहता स्वय मे अपूर्ण है, इसलिए उसकी उपरोक्त प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। जब अहता 'पर' मे समर्पण करके शून्यवत अर्थात् अहशून्य हो जाता है तभी उसे परम सत्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जैनेन्द्र की मौलिकता

फ्रायड ने अचेतन मन को अपराध की भावना अर्थात् पाप का मूल माना है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अन्तस् प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु उनकी दृष्टि मे व्यक्ति के अन्तस् मे पाप अथवा अपराध का भाव नही है। जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख विशेषता यही है कि वे अहता के मर्मातिमर्म मे भगवत्ता का निवास मानते है। बाह्य और अत जगत् मे सदैव द्वन्द्व चलता रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि अन्त और बाह्य जगत के द्वन्द्व के कारण जो भावनाए अभिव्यक्ति प्राप्त करना चाहती है, वे अनैतिक अथवा अपराधमूलक नही है। अचेतन मन मे व्यक्ति की सुषुप्त चेतना निवास करती है। उसका निषेध नही किया जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार अन्त करण मे स्थिति भाव और प्रवृत्तिया हमारे व्यक्तित्व का ही अग है। उनके अनुसार अन्तस् भावो की अभिव्यक्ति का निषेध करना, व्यक्तित्व के समुचित विकास मे अवरोध उत्पन्न करना है। जैनेन्द्र के साहित्य मे चेतन और अचेतन मन का द्वन्द्व सतत् चलता रहता है। उनकी कहानियो उपन्यासो के पात्रो मे अधिकाशत अचेतन मन मे गहरा द्वन्द्व विद्यमान रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य की समस्त कथावस्तु चेतन और अचेतन के द्वन्द्व स्वरूप ही विकासित होती है। जैनेन्द्र अह और काशस की उत्पति लाभ मानते है।[1] उनके साहित्य मे बाह्य और अचेतन अतरजगत मे जो द्वन्द्व दृष्टिगत होता है, वह चेतन और अचेतन के स्तर से ऊपर अहता और भगवत्ता का द्वन्द्व है। जैनेन्द्र के अनुसार अचेतन मे पाप नही है, वरन् भगवत् सत्ता का निवास है। चेतन अचेतन के द्वन्द्व मे पाप की अभिव्यक्ति न होकर अन्तर्भूत भगवत् भावना ही अभिव्यक्त होने के लिए बेचैन रहती है। जैनेन्द्र के विचारो मे उनकी आस्तिका पूर्णत छायी हुई है। यही कारण है कि वे फ्रायडीय अचेतन मन की परिकल्पना को स्वीकार करने मे असमर्थ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन-अचेतन के द्वन्द्व मे सदैव चेतन मन अचेतन को दमित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और अचेतन मन चेतन स्तर पर आने के हेतु विकल रहता है। जैनेन्द्र साहित्य मे अहंता और भगवत्ता का द्वन्द्व एक-दूसरे को अवदमित करने के हेतु

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५४३।

प्रयत्नशील नही होता। भगवत्ता की ग्रभिव्यक्ति व्यक्तित्व की वास्तविकता को ग्रभिव्यक्त करने मे समर्थ होती है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ग्रचेतन मन को पाप का पुज नही मानते ग्रौर व्यक्ति की सुषुप्त चेतना को ग्रभिव्यक्ति का ग्रवसर देकर उसे सहज ग्रौर स्वस्थ बनाने का प्रयास करते है। ग्रहचेतना भगवत चेतना का ही प्रतिनिधित्व करती है। जैनेन्द्र ने ग्रह को बहुत ही व्यापक ग्रौर गूढ तथा मौलिक रूप मे स्वीकार किया है। उनकी ग्रह सबधी मौलिक दृष्टि उनके साहित्य मे एक ग्रद्भुत शक्ति का प्रसार करती है, जिससे जैनेन्द्र-साहित्य समस्त हिन्दी साहित्य मे ग्रपना ग्रभूतपूर्व स्थान रखने मे समर्थ हो सका है। जैनेन्द्र की प्रक्रिया एकागी नही है। उनके साहित्य मे ग्रचेतन ग्रथवा भगवत्-भाव की ग्रभिव्यक्ति करने वाले ग्रहतत्व को सर्वस्व मानकर ग्रह सम्बन्धी विवेचन को सीमित नही किया गया है। ग्रन्तस् भाव बहिर्मुखी होने के ग्रनन्तर पुन ग्रन्तर्मुखी होने के हेतु भी प्रयत्नशील रहता है। यह ग्रात्मोन्मुखता ही जैनेन्द्र के साहित्य का परम ग्रादर्श है। जैनेन्द्र ग्रह की ग्रात्मोन्मुखता मे ही भगवत प्राप्ति का मार्ग दर्शाते है। ग्रात्मा परमात्मा का ग्रश है। ग्रात्मोन्मुख होकर ही जीव समस्त भेद-भाव से ऊपर उठकर स्वत्व विसर्जन मे समर्थ हो सकता है। मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के मन मे झाकने का प्रयास किया गया है, ग्रात्मा मे नही। जैनेन्द्र की ग्रास्था मन से भी परे ग्रात्मा मे भगवत्ता के दर्शन करती है। फ्रायड ने चेतन ग्रह को ग्रचेतन मन का ग्रश माना है। जैनेन्द्र ग्रचेतन को सर्वेश्वर नही मानते। उनकी दृष्टि मे परम सत्य ईश्वर ही है ग्रौर समग्र ग्रात्मा ब्रह्म का ग्रश है ग्रौर ग्रात्मा मे सक्रियता ग्रहता के कारण ही प्राप्त होती है।[1]

जैनेन्द्र की रचनाग्रो में ग्रहं की स्थिति

उपरोक्त विवेचन के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि ग्रहता ग्रौर भगवत्ता का मिलन ही वह लक्ष्य है, जिस ग्रोर उनकी ग्रह सबधी समस्त प्रक्रिया उन्मुख होती है। जैनेन्द्र के जीवन ग्रौर साहित्य का प्राण तत्व ग्रह विसर्जन ही है। उनके साहित्य के रोम-रोम मे समर्पण-भाव ही ध्वनित होता हुग्रा दृष्टिगत होता है। उपन्यास, कहानी ग्रादि उनकी समस्त रचनाग्रो मे द्वैत-ग्रद्वैत की प्राप्ति की ग्रोर उन्मुख है। इस प्रकार हमारे लिए यह जानना ग्रनिवार्य हो जाता है कि वे कौन से मार्ग है, जिनके द्वारा जैनेन्द्र ने ग्रहंता का

---

१ 'भगवत्ता मे स्थिति ही है गति नही है। गति के लिए ग्रहता का उदय हुग्रा है।' —जैनेन्द्रकुमार 'समय ग्रौर हम', पृ० स० ५६७।

विगलन किया है तथा पात्रो के मन मे किन तथ्यो को लेकर द्वन्द्व जाग्रत होता है ? इस दृष्टि से जैनेन्द्र के सम्पूर्ण कथात्मक साहित्य का मन्थन आवश्यक है।

जैनेन्द्र साहित्य के अवगाहन तथा उसकी स्पष्ट ग्राह्यता के लिए जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचारो को जानना अनिवार्य है। उनकी साहित्य-रचना का मूल भाव अहभाव (मै) का विसर्जन है। सामान्यत एकाकी मन अपनी अहता को सामाजिक जीवन मे विगलित होते हुए न देखकर साहित्य के माध्यम से ही अपनी आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मपरिष्कार करता है। जैनेन्द्र ने भी साहित्य-सृजन मे अपने अह भाव के परिष्कार का मार्ग ही खोजा है। जैनेन्द्र के साहित्य मे शून्यता, अभाव, समर्पण आदि विविध रूपो मे अहभाव की अभिव्यक्ति हुई है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे अहभाव को बहुत ही व्यापक परिप्रेक्ष्य मे स्वीकार किया गया है। राजनीति, समाज, धर्म आदि विविध क्षेत्रो मे निहित अह सम्बन्धी विचारो को समझे बिना उनके सम्बन्ध मे कोई भी विवेचन पूर्ण नही हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति मे अहभाव होता है, उसी प्रकार समूह की भी अहता होती है। देश राष्ट्र आदि सभी 'स्व-पर' के भेद के कारण अह-भाव से युक्त है। जीवन के व्यापक क्षेत्र मे जैनेन्द्र ने अपनी अहिसात्मक धारणा द्वारा स्व-पर के भेद को मिटाने का प्रयास किया है।[1] जिस प्रकार व्यक्ति 'मै' भाव के कारण 'पर' का निषेध करता है उसी प्रकार पूरे समूह का अह भाव भी 'पर' का निषेध करता है। जैनेन्द्र ने अपनी अहिसक नीति के आधार पर विभिन्न मतवादो, दल तथा राष्ट्रगत अहता का निषेध करते हुए समष्टि मानव प्रेम तथा आत्मीयता का भाव उत्पन्न करने की ओर बल दिया है। विचारो मे मतभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु यदि कोई विशिष्ट सम्प्रदाय अपने ही मत अथवा सिद्धान्तो को सत्य मान कर दूसरे सम्प्रदाय के विचारो का खण्डन करता है तो इस प्रकार समाज मे द्वन्द्व ही बढता है। जैनेन्द्र के अनुसार भौतिकता के वर्तमान युग मे नित्य-प्रति होने वाले सघर्ष के मूल मे सामूहिक अहता ही विद्यमान है। व्यक्ति की स्वार्थ-भावना ही समूह की अहता को पुष्ट करने मे सहायक होती है। जैनेन्द्र के पात्र सदैव त्याग और पर-हित की कामना के द्वारा अपनी अहता को 'पर' के हित मे समर्पित करने के लिए तत्पर रहे है। उनमे पद का लोभ नही है। 'मुक्तिबोध', 'जयवर्धन' मे उनके इन्ही विचारो की झलक स्पष्टत दृष्टिगत होती है। प्रजातात्रिक नीति पर बल देते हुए उन्होने स्व-पर के भेद को वृहद्तर होने से बचाने का प्रयास किया है। सबको अपना हक मिले यही उनका मूलादर्श है। उनकी दृष्टि मे पर को

---

१ जैनेन्द्र कुमार . 'समय और हम', पृ० ६१६–२०।

उसी प्रकार होने का हक है, जैसे स्व को। अहिसा का मूलादर्श इसी तथ्य मे निहित है। जैनेन्द्र किसी क्षेत्र मे हठवादिता को प्रश्रय नही देते। उनकी यह दृष्टि जैन दर्शन के अनेकान्त अथवा स्याद्वाद से प्रभावित है। जैन दर्शन मे प्रत्येक मत सीमित अथवा सापेक्ष दृष्टि से सत्य है, उसी प्रकार जैनेन्द्र के अनुसार विभिन्न दल सम्प्रदाय स्व तक ही सीमित रहने के लिए नही है। उन्हे पर की स्वीकृति भी करनी चाहिए। मतवाद के क्षेत्र मे वे किसी को खण्डित न करते हुए सब को अपनी निजता के स्थायित्व का अवसर प्रदान करते है। यही जैनेन्द्र का सामूहिक अह है और अहिसा सामूहिक अह की सक्रियता प्रदान करने का मूलाधार है। श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त ने भी इसी सत्य की ओर इगित किया है।[1]

जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति की अहता का विगलन सर्वाधिक काम-प्रवृति के द्वारा हुआ है। यद्यपि आत्म-समर्पण के विभिन्न मार्ग है, किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे काम (सेक्स) के क्षेत्र मे व्यक्ति का स्व जितना शून्यवत् हो जाता है, उतना ही अन्य भाव के द्वारा नही। यही कारण है कि उनके साहित्य मे काम-भावना की अतिशयता दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे काम-भावना की अतिशयता को देखकर सामान्यत वह आलोचना की जाती है कि उनके साहित्य मे कामुकता अधिक है, किन्तु कामुकता और काम-भावना में बहुत अन्तर है। जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते हुए यह बात पूर्णत स्पष्ट हो जाती है।

समर्पण भाव :

जैनेन्द्र ने मानव-मानव की परस्परता पर बहुत अधिक बल दिया है। वीरेन्द्रकुमार गुप्त के अनुसार परस्परता का महत्वपूर्ण अग नर-नारी सयोग अर्थात् सैक्स है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को ही केन्द्र मे रखकर जैनेन्द्र ने अपने सम्पूर्ण साहित्य की रचना की है। जैनेन्द्र के अनुसार नर और नारी सृष्टि के दो अग है। दोनो स्वय मे अपूर्ण हैं। दोनो अपनी अशता अथवा अपूर्णता मे पूर्णता की ओर उन्मुख होते है। उनके साहित्य मे स्त्री-पुरुष के मध्य जो आकर्षण दृष्टिगत होता है, वह उनकी अपूर्णता के कारण ही होता है। 'जयवर्द्धन' मे उन्होंने स्पष्टत व्यक्त किया है कि स्त्री-पुरुष का आकर्षण ... 'एक प्रकार के खण्ड का अखण्डता के अश का पूर्णता के प्रति आकर्षण है। जीवात्मा परमात्मा का आकर्षण है।'[2] उनका विचार है कि स्त्री और पुरुष जब परस्पर इतने लीन

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ०स० २६ (उपोद्घात से)।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन' (१९५६), दिल्ली, पृ० ३२४।

हो जाते है कि उनमे स्वत्व और परत्व का भेद मिट जाता है तथा वे स्वत्वहीन हो जाते है, तभी उन्हे अभेदत्व अर्थात् परमत्व का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार उनकी अहता आत्मोन्मुखता मे विलीन हो जाती है।[१]

जैनेन्द्र के साहित्य मे 'अस्मि' और अस्ति का द्वन्द्व स्त्री और पुरुष को लेकर ही घटित होता है। अनन्तर मे एक स्थल पर उन्होने स्पष्टत स्वीकार किया है कि मूल द्वैत वही है—'स्त्री-पुरुष'।[२] द्वैत यथार्थ जगत का सत्य है, पारमार्थिक जगत का सत्य नही है। अन्तिम सत्य अद्वैत है। ससार पुरुषमय है। यदि द्वैत को सत्य मान लिया जाय तो ससार द्वैत के स्थान पर द्वन्द्वमय ही रह जायगा, किन्तु मानव प्राणी शान्तिप्रिय है। ऊपर से कितना ही द्वन्द्व क्यो न चलता रहे, किन्तु उसकी अन्त्स आत्मा अभेदत्व तथा प्रेम और शान्ति के लिए तडपती रहती है। जैनेन्द्र के साहित्य का द्वन्द्व स्त्री-पुरुष अथवा स्व-पर अथवा अत और बाह्य जगत को लेकर ही फलित होता है, किन्तु सब के मूल मे प्रेम का अभाव, समर्पण की उपेक्षा ही विद्यमान है। जैनेन्द्र प्रेम के द्वारा ही पारस्परिक अलगाव अथवा द्वैत को दूर करने के पक्ष में है। 'अनन्तर' मे उनकी इसी अद्वैतप्रियता के दर्शन होते है। उनके अनुसार ससार मे व्याप्त द्वैत भाव फटकर दो नही हो सकता, क्योकि उनके बीच स्नेह की विवशता है। स्त्री और पुरुष को स्नेह की चुम्बकीय शक्ति ही परस्पर विलग होने से वचित रखती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'दोनो उसी मे सफल होने को विवश है। (उसका हमे क्या अभिनन्दन करना चाहिए ?)'[३] स्त्री और पुरुष अस्ति के भाव से युक्त है, किन्तु यह 'मैं' 'पर' भाव स्थाई नही है। अहता सदैव समर्पित होने के हेतु विवश है। 'स्व' 'पर' मे जहा होड है, वही परस्पर समर्पित होने की भी उत्कट लालसा है।[४] 'स्व' 'पर' मे खोकर ही परम सत्य का बोध प्राप्त करने मे सक्षम है।

---

१ 'स्व' 'पर' के विभिन्न से बने उन सब द्वन्दो की समाप्ति वहा ही प्राप्य हो सकती है जहा स्व-पर भेद पहुचता ही नही है। उसी को भगवत-चेतना का स्तर कहा जाता है...अह उसमे विगलित होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५३७।

२ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ३६।

३ जैनेन्द्र 'अनन्तर' पृ० ३६।

४ 'एक मे दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे के हाथो पराजय की भी चाहना है ही।... दोनो मे परस्पर होड है, उतनी ही तीव्र जितनी दोनो मे परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की अभिलाषा।'

—जैनेन्द्रकुमार . 'सुनीता', १९६४, दिल्ली, पृ० स० १३६-१३७।

जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे अहता और परता का द्वन्द्व विद्यमान है, किन्तु इस द्वन्द्व मे परस्पर वैमनस्य नही बढता, वरन् अन्तर्मन को व्यथा की टीस सालती रहती है। उनके अधिकाश पात्र अहता से पीडित तथा व्यथित है। उनका दुखी मन निरन्तर सहज होने का मार्ग ढूढता रहता है। अभावग्रस्त मन सदैव पूर्णता की खोज मे विक्षिप्त रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य का जो विषय सामान्यत उनकी आलोचना का विषय है तथा सत्य की उपेक्षा करके आदर्श और मर्यादा का डका पीटा जाता है, वह निरा दम्भ है। जैनेन्द्र ने जीवन के ऐसे सत्य को उघार कर रख दिया है जो प्रत्येक आदर्शवादी तथा सन्यासी और पडित के मन को भी कुरेदता रहता है। अन्तर यह है कि लोग उस कुरेद को पाप समझ कर पचा लेते है और अभिव्यक्त करने का साहस नही कर पाते, किन्तु जैनेन्द्र ने बडे साहस के साथ जीवन के महत्वपूर्ण सत्य को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह सत्य है कि उनके साहित्य मे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के वर्णन की अतिशयता है, किन्तु यह अतिशयता कामुकता (ऐन्द्रियकता) की परिचायक नही है। यह तो लेखक की विशिष्टता की ही परिचायक है। लेखक ने एक क्षेत्र मे आत्मसात् होकर मानव जीवन की सत्यता को स्वानुभव की पीठिका पर चित्रित किया है। शास्त्रीय ज्ञान मे खटकने वाली बात हो सकती है, किन्तु स्वानुभव तो सत्यता को ही अभिव्यक्त करने मे समर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति मे अपने अस्तित्व का बोध होते ही रिक्तता की अनुभूति होने लगती है। 'मैं क्यो' का प्रश्न प्रतिक्षण उसे सालता रहता है। इस प्रश्न के साथ ही उसमे यह भावना जाग्रत होती है कि 'मैं उसमे होऊँ' 'वह मुझमे हो'। इस प्रकार दोनो एक-दूसरे मे खोकर अपने अस्तित्व को सार्थक करना चाहते है। एकाकी अह अथवा द्वैत सभव ही नही हो सकता। जैनेन्द्र की समस्त कहानियो मे समर्पण-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। 'एकरात', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड','प्रियव्रत','मित्र विद्याधर','गवार','रत्नप्रभा','टकराहट', 'रानी महा-माया', 'दिन-रात-सवेरा' एव 'अविज्ञान' आदि कहानियो मे 'स्व'-'पर' द्वन्द्व तथा समर्पण की भावना स्पष्टत दृष्टिगत होती है। 'एक रात'[1] शीर्षक कहानी मे जैनेन्द्र ने जयराज और सुदर्शना के समर्पण का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए मन आर्द्र हो उठता है। वासना कोसो दूर चली जाती है। जयराज प्रतिभाशाली व्यक्ति है। उसे चारो ओर से मान-सम्मान की प्राप्ति होती है,

---

१ स० शिवनन्दनप्रसाद 'जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानिया', प्र० स०, दिल्ली, १९६६, पृ० स० १०६।

किन्तु फिर भी उसके मन मे एक काटा चुभता रहता है। वह नही जानता कि ऐसा क्यो है ? उसके अचेतन मन मे जो काटा है वही उसे असन्तुलित किए रहता है। वह राष्ट्र-सेवा मे व्यस्त रहकर अपने मन के अभाव और सत्यता की उपेक्षा करता रहता है। सुदर्शना के उन्मुक्त समर्पण को भी वह सहसा स्वीकार नही कर पाता। उसकी उग्र अहता हठीली बनी रहती है[1] किन्तु जिस क्षण सुदर्शना अपना स्वत्व जयराज की गोद मे समर्पित कर देती है, उस क्षण जयराज मे एक अद्भुत स्निग्धता का प्रसार होता है। वस्तुत अहता समर्पण के अभाव मे शुष्क और कठोर बनती है। सयम व्यक्ति का दम्भ है। 'एक रात' मे सुदर्शना का समर्पण इतना अतीन्द्रिय है कि उसमे वासना का लेश भी नही मिल पाता। आत्म-विसर्जन द्वारा वह इतनी पूर्ण हो जाती है कि विराट् प्रकृति मे उसके लिए कुछ भी अशेष नही रह जाता है। वह सर्वस्व स्व मे समाकर ब्रह्माण्ड की विराट्ता मे खो जाना चाहती है। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' आदि कहानियो मे भी पात्रो की समर्पण-भावना उत्कृष्ट रूप मे लक्षित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे स्त्री-पुरुष की अहता अथवा 'मै' 'पर' का भेद समर्पण मे तिरोहित होकर उन्हे शून्य बना देता है। उस शून्यता मे परब्रह्म की सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त करने मे समर्थ होते है। अहता की परमात्मोन्मुखता ही जैनेन्द्र का परम आदर्श है। 'अहता' और 'परता' का द्वैत ही द्वन्द्व का मूल है। जब द्वैत मिट जाता है और व्यक्ति स्वत्वहीन हो जाता है तभी उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अशता पूर्णता मे विलीन हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'स्त्री' पर है तब तक उसे पराभूत करने की आवश्यकता हममे रहने ही वाली है। वही स्त्री मे पुरुष के प्रति। वह 'परता' प्रेम की सघनता मे मिट सकती है। तब परस्पर स्खलन की वासना रह नही जाती। काम वही तक है जहा तक भान है। प्रलय द्वन्द्व मे मात्र द्वैत की ही क्रीडा है। स्त्री जिस गुण की प्रतीक है, वह हममे आत्मसात् हो रहे तो परत्व भाव मिट जाय।[2] वस्तुत जैनेन्द्र-साहित्य मे अहता का समर्पण सर्वाधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध द्वारा ही विशुद्ध रूप मे सम्भव हो सकता है।

---

१ 'मैने अपने स्नेह को स्वीकार करना न चाहा। मैने इसे इकार कर शून्य कर देना चाहा। आज तुमने मुझे सीख दी कि यह सब वृथा था, मेरा अहकार था। इस अहकार मे मुझसे यज्ञ क्या बनता ? राष्ट्र-सेवा क्या बनती ? आज मैंने जाना, स्नेह अगीकरण के लिए है, अस्वीकरण के लिए नही।...' —जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० ११६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० स० ३२४।

जैनेन्द्र ने राधा-कृष्ण के आदर्श को अपने साहित्य मे स्थापित किया है। उनके साहित्य मे राधा-कृष्ण तथा गोपी प्रेम का आदर्श स्पष्टत परिलक्षित होता है। पुराणो मे यह कथा प्रचलित है कि गोपियो मे राधा के प्रति ईर्ष्या होती है तथा उसमे स्वय और कृष्ण के मध्य द्वैत भाव विद्यमान होता है। कृष्ण की अलौकिक माया के कारण रास-लीला करती हुई गोपिया इतनी कृष्णमय हो जाती है कि उन्हे अपने स्वत्व का बोध भी नही रह जाता और वे कृष्णमय हो जाती है। यही है जैनेन्द्र का आदर्श, जिसके कारण 'मैं' भाव 'पर' मे समर्पित होकर इतना लीन हो जाता है कि द्वन्द्व का प्रश्न ही नही उठता।

'सुनीता' मे हरिप्रसन्न स्वय को अविजित समझता है, किन्तु यह उसका विभ्रम है। जब तक वह अपने अन्तर्मन के रहस्य को नही खोलता, तब तक वह अतृप्त और बेचैन रहता है। सुनीता का पूर्ण समर्पण हरिप्रसन्न के अतृप्त मन के द्वन्द्व को शान्त कर देता है।[1]

'कल्याणी' अह विसर्जन के अभाव मे कभी भी सहज नही हो पाती। उसे अपना अस्तित्व सदैव पीडित करता है। उसका जीवन बोझ बन जाता है। वह डा० असारी की विवाहिता अवश्य थी किन्तु पति के समक्ष वह पूर्ण समर्पण मे असमर्थ होती है, क्योकि पूर्ण समर्पण तो प्रेम मे ही सभव हो सकता है। वह परिस्थितिवश अपने प्रेमी से दूर हो जाती है। अतएव उसकी 'मैं' भावना उसे विक्षिप्त किए रहती है। उनके मन मे अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है, जिसके कारण वह किसी भी कार्य मे सहज नही हो पाती तथा परिष्कार करने का प्रयत्न करती है। उसकी पूजा-अर्चना मे भक्ति भाव से अधिक मानसिक द्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति होती है। सामान्यत व्यक्ति अपने मन की सत्यता को व्यक्त करने मे असमर्थ होने के कारण उसे विभिन्न कार्यों मे प्रक्षेपित करता है। कल्याणी के समस्त क्रिया-कलाप उसके अहता की अभावग्रस्तता के ही परिणाम है। यदि वह प्रीमियर के समक्ष समर्पित हो सकती तो सम्भवत उसका मन इतना पीडित न होता और वह अपने गृहस्थ जीवन को भी व्यवस्थित बना लेती। 'त्यागपत्र' मे मृणाल का सामाजिक दृष्टि से जो अध पतन होता है, वह उसके आत्मविगलन का ही परिणाम है। वह स्वय को अधिक से अधिक कष्ट देकर

---

१. 'सकुचन मे से ही अहकार का उदय है, भय की भीति है। मानो कुछ उसके भीतर से व्यग्य करता हुआ उठता है—क्यो तू अविजित है? तू जयी है? अरे तू तो अधम है, अधर्म है।'

—जेनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० १२६।

अपने मन के प्रेम को पुष्ट करती है ।[1]

वस्तुत जैनेन्द्र-साहित्य मे बाह्यरूप मे जिसे हम पाप समझते है, अथवा भौतिक समझते है, उचित नही है । जैनेन्द्र के अनुसार जो पापी दिखाई देता है वह मूल मे दुखी ही है ।[2] 'पानवाला' कहानी मे पानवाला देखने मे दुश्चरित्र लगता है । महिलाओ की ओर उसकी ताक-झाँक मे अशिष्टता ही प्रदर्शित होती है । उसकी पूरी कहानी से परिचित होने से पूर्व कौन कह सकता है कि उसके मन के कोने मे कितना गहरा दर्द भरा है जो उसे ऐसा कृत्य करने के लिए विवश किए हुए है ।[3] प्रेम के कारण वह स्वय को त्रास देकर अपनी आत्मा का परिष्कार तथा प्रायश्चित करता है ।

इरोस और सैडिज्म

फ्रायड के अनुसार मानव के अचेतन मन मे दो प्रकार की मूल प्रवृत्तिया होती है—पहली इरोस या काम-भावना, जिसे आत्मरक्षा की प्रकृति भी कह सकते है और दूसरी सेडिज्म अर्थात् पर-पीडा रति । जैनेन्द्र-साहित्य मे उपरोक्त दोनो प्रवृत्तिया दृष्टिगत होती है । काम-प्रवृत्ति (लिबिडो) का स्व-रक्षा (सेल्फ डिजविग) रूप जैनेन्द्र के साहित्य मे अस्तित्व और सृष्टि-विस्तार के रूप मे प्राप्त है । काम-भावना के द्वारा ही सृष्टि का विकास होता है । सेडिज्म अर्थात् पर पीडा रति द्वारा व्यक्ति की अहता परता को त्रास देने मे ही सन्तुष्ट होती है । काम अर्थात् स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे परपीडा रति ही विशेष रूप से सहायक होती है । त्रास देने और लेने मे ही आनन्द की उपलब्धि होती है । केवल काम-प्रवृत्ति के क्षेत्र मे त्रास देने मे अहता का विगलन होता है, किन्तु इससे परे व्यक्ति स्वय कष्ट झेलकर ही आत्म-परिष्कार कर सकता है । जैनेन्द्र के साहित्य मे 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'एक रात' एव 'अविज्ञान' आदि कहानियो मे स्व को मिटा देने की उत्कट लालसा दृष्टिगत होती है । 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' मे पर-पीडन के अभाव मे मानसिक विक्षोभ मन को व्याकुल कर देता है और अन्तस् मे 'मै' को कुचल देने की अभीप्सा जाग्रत होती है । प्राय देखा जाता है कि काम-भावना से ग्रस्त व्यक्ति पर

---

१ 'पशु पाप नही कर सकता, मनुष्य कर सकता है तो इसलिए कि वह उस पद्धति से आत्माविष्कार कर सके ।'

—जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ५४४ ।

२ 'पापी को दुखी ही मानिए'—जैनेन्द्र कुमार. 'समय और हम', पृ० ५४४ ।

३ जैनेन्द्र की कहानिया [भाग-छ], पृ० ५२ ।

(आब्जेक्ट) को मारने मे अपनी अहता की तुष्टि करता है तथा 'पर' (स्त्रीत्व) पीटे जाने मे ही सतुष्ट होता है। 'मृत्युदण्ड'[1] शीर्षक कहानी मे पति द्वारा पत्नी के पीटे जाने मे एक प्रकार से काम भावना और अहता का ही पोषण होता है। कल्याणी को जब पीटा जाता है तो वह स्वय को अपमानित नही समझती वरन् इस प्रकार वह अपनी आत्मा का परिष्कार ही करती है। मानो ताडना ही उसका भोग्य है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे पर-पीडन-रति से अधिक 'आत्म-पीडन' की भावना ही प्राप्त होती है, क्योकि उनके पात्र दूसरे को त्रसित करने से अधिक 'स्व' को विगलित और दलित करने मे अधिक सन्तुष्ट होते है। जैनेन्द्र का आदर्श आत्म पीडन मे विशेषत फलित होता है। मृणाल स्वय को कष्ट देने के लिए ही अपने भतीजे के पास नही जाती। वह नही चाहती कि उसके कारण कोई अपमानित हो। अतएव वह स्वय सारे कष्ट झेलते हुए भी आत्मतुष्टि की प्राप्ति करती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे आत्मपीडन की भावना सामाजिक स्तर पर भी दृष्टिगत होती है। 'साधु की हठ'[2] शीर्षक कहानी मे आत्म-पीडन का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। साधु एक गृहस्थ के घर भीख मागने जाता है, किन्तु प्रतिफल मे उसे शरीरिक ताडना मिलती है तथा गृहस्वामिनी को भी अत्यधिक पीटा जाता है। बेचारा साधु बहुत दुखी होता है। उसके मन मे यही भावना जाग्रत होती है कि सम्भवत उसमे कही अहता छुपी है अथवा उसके आचरण मे ही दोष है, उसकी भक्ति मे दोष है जिसके कारण बेचारी गृहस्वामिनी को पति द्वारा बुरी तरह पीटा जाता है। साधु ईश्वर के समक्ष अपने को स्वत्वहीन तथा अहकारशून्य बनाने के हेतु प्रार्थना करता है।[3] पति (दरोगा) के क्रोध मे उसे अपना ही दोष प्रज्जवलित होता हुआ दृष्टिगत होता है। इस प्रकार वह अन्तत. स्वय पीटा

---

१ जैनेन्द्र की कहानिया, नवा भाग, प्र० स०, १६६४, दिल्ली, पृ० स० ७८।
२. जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, तृ० स०, १६६३, पृ० ५।
३ '....ओह प्रभु क्या मैंने नही चाहा कि वह सब कुछ मुझमे से मिट जाय जो तेरा नही है? क्या अपने को तुझे सौप कर तुझसे नही प्रार्थना की कि मुझमे, मेरे रोम-रोम मे, मेरे अणु-अणु मे तू ऐसा रम बैठे कि किसी और भाव को कही स्थान ही न रहे?...'मैं क्या करू, जिससे वह व्यक्ति उस क्रोध के परिणाम से धुल जाय, जो मेरे कारण उसमे पैदा हुआ है? उस बेचारे का अपराध नही। ...उसकी आत्मा को आत्म-पीडन और आत्म-त्रास के भार से हलका कर देना होगा। अगर मैं गुस्सा पैदा कर सकता हू तो गुस्से की मार भी जरूर मुझ पर पडनी चाहिए, लेकिन उस माता को क्यो तू पिटने दे सका?...'।
—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया,' भाग ६, तृ० स०, १६६३, पृ० १४।

जाकर उस व्यक्ति के अन्तस् से क्रोध (अहकार) को नष्ट करना चाहता है। अन्त मे वह सफल भी हो जाता है। साधु के द्वारा जैनेन्द्र ने आत्म-पीडन का बहुत उच्चादर्श व्यक्त किया है। कोई भी व्यक्ति किसी को कष्ट देकर स्वय सन्तुष्ट नही हो सकता। पति भी जब तक विनम्र नही हो जाता तब तक उसकी (पति की) अहता उसे पागल बनाए रहती है। प्रेम और समर्पण मे ही अहता के परिष्कार की सम्भावना देखी जाती है। समर्पण अन्तत ईश्वरोन्मुख ही होता है।

उपरोक्त सैडिज्म (पर-पीडा) और काम-प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व प्रेम और घृणा की प्रवृत्तियो द्वारा होता है। प्रेम मे आत्मरक्षा की भावना होती है, किन्तु घृणा मे विध्वसात्मक प्रवृति जाग्रत हो जाती है, जिसे फ्रायड ने 'डेथ इन्स्टिक्ट' कहा है।[1] जैनेन्द्र के साहित्य मे घृणा का प्रतिरूप ध्वसात्मक प्रवृति के रूप मे फलित होता है। जितेन अपने प्रेम-पात्र की अप्राप्ति तथा समर्पण के अभाव मे प्रतिक्रियावादी हो जाती है। उसकी अहता तोड-फोड मे ही तुष्टि प्राप्त करती है। जितेन द्वारा गाडी के पलटने भुवन मोहनी को जगल मे ले जाकर भयभीत करने मे उसकी उग्र अहता का ही प्रदर्शन होता है। किन्तु इस ध्वसात्मक चेष्टा से अहता विगलित नही होता, वरन् और भी कठोर बनता जाता है।[2] 'रत्नप्रभा'[3] शीर्षक कहानी मे रत्नप्रभा का एकाकी जीवन उसे विक्षिप्त तथा कठोर बना देता है। किसी के स्वेच्छद हास-परिहास से उसके मन मे कचोट होती है। उसके अचेतन मन मे वासना का जो रूप सुषुप्त है, वह चेतन पर सतोष प्राप्ति का विकृत मार्ग ढूढता है। छोटे-से भोले बालक को वह कामोत्तेजक पुस्तके बेचने के लिए डाटती है। उसके मन मे कही से आवाज आती है कि वह ऐसी पुस्तके स्वच्छन्द रूप से क्यो बेचता है। उसका मन खुल नही पाता। उसमे कुठा होती है, इसीलिए वह बालक को पीटती है। वह उसे पीट कर अपनी अहता को पुष्ट करना चाहती है, इस प्रकार उसका अहभाव और भी उग्रतर होता जाता है। उसे आत्म-त्राण नही मिल पाता। उसके हृदय के प्रेम ने निषेधात्मक आचरण अपना लिया है। यही कारण है कि भोला बालक उसके वैभव की ओर भी आकृष्ट नही होता। रत्नप्रभा अपने वैभव के मद मे चूर होती है। बालक को लेकर वह एकान्त मे रहने के लिए नैनीताल भी जाती है, किन्तु वहा भी उसे सन्तोष नही

---

१ Fraud— 'Ego and the Id'.

२ जैनेन्द्रकुमार 'विर्वत', १९५३, प्र० स०, दिल्ली, पृ० २५९।

३. जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया' (स० शिवनन्दनप्रसाद), दिल्ली, १९६६, पृ० २७९।

मिलता । और अन्त मे वह विषाद-रोग (मेलन कोलिया) से ग्रस्त हो जाती है, क्योकि कोई उसकी अन्तस्-पीडा को नही समझ पाता और न ही वह उसे खुल-कर व्यक्त करने मे समर्थ होती है । वह नही जानती की वह क्या चाहती है, फिर भी अन्दर से सब शून्य है । बीमारी की अवस्था मे जब अचानक वह बालक उसके सम्पर्क मे आता है तो वह फूट पडती है । उसका अन्तस् विगलित हो उठता है और वह बालक के नेत्रो मे छलकते स्नेह-रस मे सब कुछ पाकर तुष्ट हो जाती है ।[1] अन्तत बालक की विनत कर्मशीलता ही रत्नप्रभा के अह को परिष्कृत करके ईश्वरोन्मुख करने मे समर्थ होती है ।[2] रत्नप्रभा का धन-मद चूर हो जाता है । अहकार के कारण ही वह अकिचन बालक का स्नेह प्राप्त करने मे असमर्थ थी । धन के वैभव से पूर्ण होते हुए भी वह स्नेह के अभाव मे शुष्क बनी रहती है । अन्त मे उसे ज्ञात होता है कि 'लक्ष्मी चचल है और अकिचन भक्ति ही व्यक्ति का सर्वस्व है। यह मै तुममे देख सकी । अहकार की जगह यह बात मुझ मे बसी रहे इसके लिए सदा तुम्हारा ध्यान धरूगी ।'[3]

जैनेन्द्र के साहित्य मे अहतप्त चेतना मानो सदा हारने को तडपती रहती है ।'[4] प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की प्राप्ति के अनन्तर भी मन मे एक रिक्तता बनी रहती है । व्यक्ति उसे कितना भी दबाना चाहे तथा स्वय पर विजय प्राप्त करना चाहे किन्तु वह समंथ नही हो पाता । एकान्त मे एकाकी अह विक्षिप्त हो उठता है, उसे अपनी अहता का बोध त्रास देने लगता है । समर्पण के अभाव मे सब कुछ व्यर्थ प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति मे जो चेष्टाए होती है, वे हिस्टीरिया की ही पर्याय होती है । हिस्टीरिया मे व्यक्ति की अह-चेतना इतनी

---

१ 'इस छद्मवेश मे क्यो जी, तुम क्यो आए ? यह तो परीक्षा का कायदा नही है । लेकिन जब मै तुम्हे पहचान गई हू, छलना मे आने वाली नही हू । मेरे ज्ञान की परीक्षा ही लेने आए हो न तुम, बैरागी ? मुझे मान पर चढाकर झुकते चले गये, झुकते चले गये । अब मैं यह खेल समझ गयी हू, मेरे म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु म्हाने... ।'

—जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानिया, पृ० २९५ ।

२ मूल द्वन्द्व 'मैं' और 'स्व' मे है उसी को कहिए अह का और अखिल का द्वन्द्व । भगवान समष्टि मे व्याप्त है—'वह सागर है मै बूद हू' । यही मूल द्वन्द्व है ।

—जैनेन्द्रकुमार : 'समय और हम', पृ० स० ५३६ ।

३ जैनेन्द्र . प्रतिनिधि कहानिया, पृ० २९६ ।

४. जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम', पृ० ५३६ ।

उग्र हो जाती है कि सामने ही समर्पण न मिलने पर वह अपने शरीर को ही नोचता खसोटता है । ऐसी स्थिति 'फोबिया'[1] मे भी पाई जाती है । 'दिन रात सबेरा'[2] मे माननीय कवियत्री अपने अहता के बोझ को सहन नही कर पाती 'वह जैसे चाहती है कि शरीर ही न रह जाए, सब बर्फ की सिल ही बन जाए। सब सवेदन जडीभूत होकर शून्यवत् हो जाय । मै होकर जो तू को खोजना और याद रखना पडता है सो मुसीबत के सिवा क्या है ? मैं ही मिटे तो कितना अच्छा कि सब 'उस' और 'तुम' को एक बार ही छुट्टी मिल जाए ।' उसके मन मे यही चीत्कार उठता है कि 'मै क्यो, मैं क्यो ? और वह स्वय को दलित होते हुए पाती है । हिपनोसिस की स्थिति मे वह स्वय नोचती-खसोटती है । उन्मादावस्था मे वह देखती है कि 'उसको दला और मसला जा रहा है··· उनका ही चेहरा पीडा से और आनन्द से विह्वल हुआ जा रहा है ।···अपनी ही काया दीखती है और हर घोरता, हर बर्बरता, हर अभ्यर्थना और हर पूजा मे उसे अपनी काया मे पुलक भरता भी दीखता है ।'[3] इस प्रकार कवियत्री अपने अहता को विगलित करती है । उसका वहशीपन कामुकता नही, वरन् सहजता की प्राप्ति का प्रयास है ।[4] प्रत्यक्षत वह पुरुषो मे माननीय समझी जाती है । उसे उन पर ही उठाया जाता है, किन्तु उनकी अहता किन्ही चरणो मे विसर्जित होने के हेतु उन्मत्त रहती है । अतएव वह परिकल्पना मे नही पर की उपस्थिति की अनुमति करती है । जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन के इस महत्वपूर्ण सत्य की उपेक्षा नही की जा सकती । समाज मे व्यक्ति मर्यादित हो सकता है, वहा उसकी विवशता होती है, किन्तु एकान्त मे वह अपने अन्तस् मे आलोकित सत्य की अभिव्यक्ति किए बिना सहज नही हो पाता । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की उपेक्षा करके कभी भी सहजता और स्वास्थ्य की कल्पना नही की जा सकती । उनके साहित्य मे कामजन्य जो भी चेष्टाए घटित होती है, उनमे कही भी अपनी ओर से होता हुआ प्रयत्न दृष्टिगत नही होता । प्रयत्न मे व्यक्ति की ऐन्द्रिकता का भान होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्व के प्रति बहुत सजग है, किन्तु 'नि स्व होकर घटित होने वाले भाव मे अन्तर्मन की जटिलता

---

१. जार्ज एलिन 'साइकोएनालिसिस–टुडे', प्र०स०, १९४८, ब्रिटेन, ।

२ जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानिया, नवा भाग, प्र०स०, दिल्ली, १९६४ ।

३ जैनेन्द्र की कहानिया, नवा भाग, प्र०स०, दिल्ली, १९६४, पृ० १७९ ।

४ 'सभ्य व्यापार मे जिन्हे बर्बर और अमानुषिक मानते है, ऐसे काटने-नोचने आदि के कृत्यो मानो परस्पर को आनन्द और तृप्ति देने वाले होते है । इस मिथुन योग मे मानो हमारा कब अहकृत लुप्त हो जाता है ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५२५ ।

ही सहजोन्मुख होती है ।[1] यही कारण कि जैनेन्द्र की दृष्टि मे पाप शरीर तक ही सीमित नही है । उनके अ्रनुसार पाप पर के निषेध मे है सत्य के दुराव मे है, सत्य की स्वीकृति मे नही । जैनेन्द्र के साहित्य मे अ्रहचेतना से तप्त व्यक्ति फूट-फूट कर रोते हुए पाए जाते है । रोकर वे अ्रपनी आ्रत्मा का परिष्कार तथा स्वत्व का विसर्जन करते है ।

काम और ब्रह्मचर्य

जैनेन्द्र के साहित्य मे सदैव अ्रहता पराजित होते हुए भी दृष्टिगत होती है । उनकी रचनाओ्रो मे अ्रह को विजित करने का दम्भ सदैव पराभूत हुआ्रा है । अ्रह को विजित करके ब्रह्मचर्य की प्राप्ति हो सकती है यह व्यक्ति का बल है ।[2] यदि कोई व्यक्ति काम की उपेक्षा करके स्वय को देवत्व के आ्रसन पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, तो उसे अ्रन्तत निराशा और अ्रशान्ति की प्राप्ति हो सकती है । सासारिक सम्बन्धो की उपेक्षा करके तथा इन्द्रियो को पूर्णत सयमित करके ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला व्यक्ति अ्रपनी अ्रतृप्त वासना के कारण कही का भी नही रहता । उनके मन मे भावना बस मथती रहती है कि वह विजित है उसने स्व को वश मे कर लिया है । जैनेन्द्र के अ्रनुसार ब्रह्मचर्य की प्राप्ति ब्रह्म की चर्या मे ही सभव हो सकती है ।[3] प्रत्येक जीव मे ब्रह्म का निवास है । पर के निषेध से अ्रह-रति बढती है ।[4] मानव-प्राणी व्यावहारिक

---

१ 'ऐसा नही प्रतीत होता कि हमने चेष्टा करके आ्रवरणो को एक-एक कर हटाया है, मालूम ऐसा होता है कि जो सच ही था उसे सहज स्वीकार कर लिया है, विशेष चेष्टा की आ्रवश्यकता नही हुई है ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५४८ ।

२ 'नर-नारी का द्वन्द्व द्वैवत आ्रदिम है, मौलिक है । इसी कुजी से मानव-व्यवहार खुलेगा तो खुलेगा । दुनिया मे शान्ति और युद्ध का प्रश्न है । घटना के पट पर रखकर देखे तो वह हिसा-अ्रहिसा का प्रश्न हो जाता है । पर दीखता है कि वह काम और ब्रह्म की चर्या से अ्रलग प्रश्न नही है ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'अ्रनन्तर', पृ० ६६ ।

३ 'हममे जितना जो है, वह अ्रपने-आ्रप मे पर है । अ्रब भगवान वह जो पर मे है, स्व मे भी है । अ्रह वह जो स्व मे ही है, पर मे एकदम नही है ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५३६ ।

४ 'जिसको दृढता समझा जाता है वह कही भीतर की रिक्तता तो नही है । मेरी स्वावलम्बिता कही मेरी स्व-रति तो नही है ।···अ्रपने को बाटा नही है पूरी तरह सयुक्त जो रखा है—सो यह निपट अ्रह का अ्रवलम्ब तो नही है ।' —जैनेद्रकुमार . 'व्यतीत', दिल्ली, प्र० स०, पृ० स० १० ।

जगत मे रहकर ही प्रतिभाशाली तथा महान बन सकता है, किन्तु ससार की उपेक्षा करके देवत्व को प्राप्त करने की अभिलाषा मात्र दम्भ नही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे हमे ब्रह्मचर्य की नितात व्यावहारिक दृष्टि के दर्शन होते है। 'बाहुबली', 'विचारशील', 'व्यर्थ प्रयत्न', 'टकराहट' तथा 'जयवर्धन' आदि कहानियो मे जैनेन्द्र ने अहता का निषेध करते हुए समष्टि मानव की स्वीकृति को ही परम आदर्श माना है। बाहुबली राज-पाट त्याग कर अपने शरीर को तप से कृषित करता है, फिर भी उसे मोक्ष नही मिल पाता और ससार का भोग करने वाले भरत को केवल्य की प्राप्ति हो जाती है, क्योकि उसमे 'स्व' को विजित करने की अहता नही होती, वह स्वय को मानव-सेवा मे समर्पित कर देता है किन्तु बाहुबली के मन मे वह अहकार उत्पन्न हो जाता है कि मै विजित हू।[1] यही काटा उसके केवल्य की प्राप्ति मे बाधक है। इसीलिए बाहुबली तपस्या छोडकर सब के प्रति प्राप्य बन जाता है।[2]

'विचार शक्ति' मे राकेश आचार्य के सान्निध्य मे बहुत ही सयमपूर्वक रहता है। भक्तगण तक उनकी पूजा करते है किन्तु राकेश का मन भीतर से अशान्त और उद्विग्न बना रहता है। उसके मन मे अपनी अहता तथा झूठे ढोग का बोध होता है और वह अपने त्राण पाने के हेतु विकल रहता है। वह सहज बनना चाहता है। वह सोचता है कि क्या इन्द्रियो को वश मे करने के कारण ही पूज्य है।[3] उसके मन मे अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। कभी वह ससार की ओर झुकता है और कभी झूठी मर्यादा उसे अपनी ओर खीचती है। अन्तत वह ससार की उपेक्षा नही कर पाता।[4] सासारिक स्त्री के समक्ष वह अपने मन के रहस्य को बार-बार छिपाता है, उसे 'माता' कहकर सम्बोधित

---

१ 'बाहुबली विजित है। यह वह बेचारा नही भूल सकता है।'
—जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० १७८।

२ 'मैं सब के प्रति सदा सुप्राप्त रहने की स्थिति मे ही अब रहूगा।'
—जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० १७६।

३. बाहर की ओर खुलने वाली सब इन्द्रियों को अपने मे आत्मस्थ करना पडता है। इस सबसे ही क्या वह मनुष्य न होकर देव हो गया है ? या सामने पसारी जन मनुष्य से पशु बन गये है।
—जैनेन्द्र की कहानिया, नवा स०, पृ० १६१।

४. 'ससार निन्दनीय और वन्दनीय नही है।'
—जैनेन्द्र की कहानिया, नवा स०, पृ० १३५।

करता है, किन्तु अन्त मे सासारिक प्राणियो द्वारा ही उनका मद चूर हो जाता है ।[1]

'जयवर्धन' मे इला नही चाहती कि जय देवता बना रहे । उसे अलौकिक पुरुष बनाकर अतृप्त नही रहना चाहती। अन्तत उसका स्नेह ही विजित होता है । वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार ससार की उपेक्षा करके देवत्व की प्राप्ति की चेष्टा मे व्यक्ति की अहता का ही प्रदर्शन होता है जो कि सहज और स्वाभाविक नही है ।

अहंकार

जैनेन्द्र ने मानव जीवन मे कोने से परे अह के निषेधात्मक अहकारमूलक रूप का भी विवेचन किया है । अह भाव आत्मरति से परे प्रतिष्ठा, परिग्रह, पदलोलुपता के रूप मे भी फलित होता है । जैनेन्द्र के अनुसार अहकार हिंसा-कारी पर्याय है । ससार मे वही व्यक्ति वास्तविक रूप मे पूज्य और माननीय बन सका है, जिसने स्वय को कुछ भी नही समझा । गाधी, ईसा आदि अपने लिए नही जिए और न ही अपने लिए मरे । उनका जीवन मानवता को समर्पित था । स्वार्थ भाव से युक्त व्यक्ति क्या देवता भी शान्ति नही प्राप्त कर सकता । जैनेन्द्र की 'भद्रबाहु' शीर्षक कहानी मे इन्द्र अभिमान के कारण ऊपर उठने की लालसा मे नीचे नही देखना चाहता । वह स्वय को ही सर्वेश्वर समझता है किन्तु उसे चैन नही मिलता वह अविजित होने की लालसा मे व्याकुल रहता है, किन्तु इन्सान कुछ नया होकर ही अजेय बन जाता है ।[2] अभिमानी द्वन्द्व मानव जीतना चाहता है किन्तु वह नही जानता कि अहशून्य होकर ही किसी को जीता जा सकता है, क्योकि वास्तविक जय तो हृदय को जीतने मे है और वह प्रेम और नम्रता के मार्ग मे ही सुलभ हो सकती है ।[3]

वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिमानी व्यक्ति का मद प्रेम के समक्ष सदैव ही पराभूत हुआ है ।[4] उसके समक्ष सत्य एक है अनेकता स्थिर नही रह सकती । द्वैत

---

१ जैनेन्द्र की कहानिया, नवा स०, पृ० १३५ ।

२. 'जब वह कुछ नही चाहता तभी वह अजेय है ।'

—जैनेन्द्र . प्रतिनिधि कहानिया, पृ० १८६ ।

३ 'अभिमान रखकर किसी का भाव तोडा नही जा सकता है । पर जिसके पास नही है, उसके पास आसू ले के जायगा तभी जीतेगा ।

—जैनेन्द्र : प्रतिनिधि कहानिया, पृ० १८७ ।

४. 'प्रेम मे अस्तित्व गलता है ।' जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० १४० ।

प्रेम के आकर्षण द्वारा ही अद्वैत की ओर उन्मुख होता है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो अथवा भूत प्रकृति का सब के मूल मे प्रेम तत्व ही प्रधान है। 'मै' 'तुम' का भेद द्वन्द्व का मूल है जब तक द्वैत है तब तक व्यक्ति स्वय से ही समाहित सत्यता का ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। जब तक व्यक्ति निस्पृह भाव से परस्पर मिलकर रहता है तब तक प्रगति उसके चरण चूमती है अन्यथा 'मै' 'तुम' अहिसा के प्रेम तक मार्ग की उपेक्षा करके आपस मे ही विनष्ट होता है। 'नारद का अर्घ्य' कहानी मे अहकारी मानव-प्राणी के मन मे चारो ओर लहराती खेती को देखकर लोभ उत्पन्न हो जाता है और प्रेम से मिलकर काम करने वाले दो साथी स्वार्थमय परिग्रही प्रवृत्ति के कारण दो पृथक-पृथक् अग बन जाते है। 'अपना', 'मेरा' का कीडा दोनो के भीतर बैठ जाता है और दोनो ने झोपडे मे आग लगाकर अपने सयुक्त प्रेम को स्वाहा कर दिया।[१] 'इस प्रकार द्वैत भाव के जाग्रत होते ही हिसात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव जीवन मे सत्य की प्राप्ति के लिए द्वन्द्व से प्रेम और शान्ति के मार्ग को अपनाना ही श्रेयष्कर है और वह मार्ग 'अद्वैत' अर्थात् अभेद दृष्टि की प्राप्ति पर ही सुलभ हो सकता है। 'तत्सत्' कहानी मे वन के विभिन्न पेड पोधे एक-दूसरे से प्रश्न करते है कि 'वन क्या है ?' किन्तु कोई भी नही समझ पाता। बास अपने को केवल बास का वृक्ष समझता है सब स्व तक ही सीमित है।[२] वे यह नही जानते कि उनकी समष्टि ही वन है। जहा उनकी अहता (मै तू का भेद) विलुप्त हो जाता है। उस एकत्व मे परम सत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह है। 'सब कही है। सब कही है' 'हम नही है, वह है।'[३]

जैनेन्द्र के उपरोक्त विचारो पर गेस्टालवाद की पूर्ण छाप दृष्टिगत होती है। गेस्टाल सिद्धान्त के अनुसार अनेकता अथवा रेखाए सत्य नही है। सत्य समष्टि मे समाहित है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे गेस्टालवाद के समग्रता के सिद्धात की छाप दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार अखण्ड ईश्वर की प्राप्ति स्वत्व के विसर्जन द्वारा ही हो सकती है। जब तक व्यक्ति अह चेतन से तृप्त रहता है तब तक वह सत्य

---

१ 'परमेश्वर आदमी की इसी अपनी-अपनी मस्यता मे पढकर खड-खड हो गया। और उन खण्डो को लेकर आदमियो मे अस्मिता की उतावली मचने लगी।'
—'अनन्तर', पृ० ८५।

२. जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० १९५।

३. 'दूर तक उसकी तू-तू, मैं-मैं सुनाई देती थी।'
—जैनेन्द्र . 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० १९३।

को जान ही नही सकता। 'मै' अविजित समझने वाला व्यक्ति सदैव अहता से पीडित रहता है। 'व्यर्थ प्रयत्न' मे चिन्तामणि सासारिक विषय-वासनाओ से ऊपर उठकर स्वय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। वह अपने मन की दुर्बलता को विजित करना चाहता है, किन्तु उसका दभ उसे ही पीडित करता रहता है, क्योकि सत्य मै के समर्पण द्वारा ही प्राप्य है। समर्पण प्रेम मे सम्भव होता है। ज्ञानी झुकता नही, टूट जाता है। इसीलिए जैनेन्द्र ज्ञान को दम्भ मानते है। 'विचार' मे यदि व्यक्ति का अहभाव बहुत अधिक सजग रहे तो व्यक्तित्व असन्तुलित हो जाता है। 'व्यर्थ प्रयत्न' मे चिन्तामणि के विचार-प्रवाह मे उसकी अहता बहुत उग्र रहती है। यही कारण है कि आह का व्यक्तितत्व बहुत असन्तुलित रहता है।[1]

निष्कर्षत जैनेन्द्र के साहित्य मे अह की सार्थकता अस्तित्व के अर्थ मे ही स्वीकार की गई है, अन्यथा अह (जीव) की अहकार मूलक भावना का सदैव निषेध किया गया है।

---

१. सोच-विचार मे मनुष्य का अहम् बहुत मिला रहे तो जड होती है उसी को कहते है 'सेल्फ काशस'। इस स्थिति मे मनुष्य के व्यवहार का सरल भाव नष्ट हो जाता है।

—जैनेन्द्रकुमार : 'सुनीता', पृ० स० १३५।

परिच्छेद—६

जैनेन्द्र और समाज

प्रेमचन्द युग

ईसा की उन्नीसवी शताब्दी साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द-युग मे मानवतावादी राष्ट्रीय भावनाओ को प्रोत्साहन मिला। प्रेमचन्द का साहित्य सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व रखता है। सामाजिक-हित की ओर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित रखने के कारण ही वे युग-पुरुष बन गए। उन्होने अपने उपन्यास और कहानियो द्वारा सामाजिक कुरीतियो और तत्कालीन व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करते हुए मानव-जीवन की निराशाजनक स्थितियो मे आशा का सचार किया। उनके साहित्य का व्यापक परिवेश समाज की समस्या और उनके सुधार की भावना से ही तद्गत है। जीवन की यथार्थता उनके साहित्य मे घटनाओ के कलेवर मे अभिव्यक्त हुई है। प्रेमचन्द की यथार्थ दृष्टि तत्कालीन स्थितियो का ही उद्घाटन करने मे सक्षम है। उसमे आत्मनिष्ठ सत्य से अधिक स्थितिगत तथ्य का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द के साहित्य मे घटनाओ का बाहुल्य है। उनके पात्र त्याग सेवा, सहानुभूति, सहनशीलता आदि मानवीय गुणो के प्रतीक है। यथार्थ का आधार लेकर उन्होने अपना आर्दशवादी दृष्टिकोण का परित्याग नही किया है। सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द साहित्य सामाजिक और नैतिक आदर्शो का ही प्रतिनिधित्व करता है। यथार्थ मे ये इतना नही डूबे है कि आदर्श उनसे छूट गया हो।

प्रेमचन्द की दृष्टि मे सामाजिक नीति और मर्यादा इतनी आवश्यक है

कि व्यक्ति उन सामाजिक मर्यादाओ से परे जीवन के सत्य को समझने मे असमर्थ है। सत्य तो अन्तर्भूत ही हो सकता है। अतएव जीवन के सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए बाह्य जीवन की घटनाओ और द्वन्द्वो से ऊपर उठना आवश्यक है। प्रेमचन्द का साहित्य तत्कालीन समाज का कोरा फोटोग्राफ तो नही है, तथापि उसमे सामाजिक जीवन की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। उनकी कलादृष्टि तत्कालीन स्थिति के अग-प्रत्यग का स्पष्ट चित्र अभिव्यक्त करने मे सक्षम है। उसमे समाज का एक-एक अग उभर कर स्पष्ट-रूप से प्रस्तुत हुआ है। घटनाओ के सदृश ही लेखक ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी ऐसे ऐंगिल से देखा है, जिससे उसकी बाह्यावृत्ति पूर्णत प्रतिबिम्बित हो सकी है, किन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक वस्तु और स्थिति को एक ही कोण से देखे। दृष्टि-भेद के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मे भी अन्तर आना स्वाभाविक है। जैनेन्द्र के साहित्य मे सामाजिक मर्यादा का उल्लघन नही किया गया है, तथापि उन्होने समाज को इस दृष्टि से देखा है, जिसमे बाह्य स्थूलता से अधिक आत्मगत सूक्ष्मता ही लक्षित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे भी जीवन की यथार्थता आदर्श से असम्पृक्त नही है, किन्तु उनकी दृष्टि मे यथार्थ घटनाबद्ध न होकर सत्य से युक्त है और आदर्श किन्ही निश्चित मानदण्डो तक ही परिमित न होकर यथार्थ से ऊपर उठने की चेष्टा मे ही लक्षित होता है। वस्तुत जैनेन्द्र ने समाज की स्थितियो से अधिक सामाजिक-परिवेश मे जीने वाले आधार रूप व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वो को अभिव्यक्ति दी है। उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति व्यक्ति और वस्तु के सर्वागो को उभारने से अधिक व्यक्ति की मन स्थितियो को चित्रित करने मे सक्षम है। इस प्रकार जैनेन्द्र के पात्र हमे स्थितिगत क्षोभ न देकर अपनी अन्तर्व्यथा का रस देते है। वे जीते तो समाज मे ही है, किन्तु वे समाज के घात-प्रतिघात को स्वय ही झेल लेते है। अपनी पीडा को लेकर वे समाज पर उत्बुद्ध नही होते, यही कारण है कि जैनेन्द्र के पात्रो द्वारा हमारे समक्ष सामाजिकता गौण हो जाती है और अन्त-र्द्वन्द्व प्रमुख हो उठता है। जैनेन्द्र ने सामाजिक समस्याओ से अधिक समस्याओ के उत्स को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। आदर्शो की घिसी-पिटी सीमाओ मे चलती हुई व्यक्ति-चेतना अर्थात् 'स्व' को जानने का प्रयास किया। प्रेमचन्द-युग में सामाजिक नीति और मर्यादा के कारण व्यक्ति के अन्तस् भावो की पूर्णाभिव्यक्ति सम्भव नही हो सकी थी। व्यक्ति समाज के सन्दर्भ मे ही अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। अतएव समाज की उपेक्षा तो सम्भव हो ही नही सकती, किन्तु समय के साथ सामाजिक नियमो मे परिवर्तन उपस्थित होना आवश्यक है।

जैनेन्द्र की सामाजिक दृष्टि

जैनेन्द्र यथार्थोन्मुखी आदर्शवादी लेखक है। आदर्श की धरती पर पैर टेक कर ही वे यथार्थ के उन्मुक्त परिवेश मे सचरण करते है। भारतीय सस्कृति के मूलभूत आदर्शो की रक्षा करते हुए ही उन्होने अपने कथा-साहित्य की रचना की है। जैनेन्द्र के अनुसार अपनी सस्कृति और सभ्यता का उन्मूलन करने वाला समाज कभी भी प्रगति नही कर सकता। आज पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक मर्यादाए समाप्त होती जा रही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे स्त्री-पुरुष स्वातन्त्र्य का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है, उससे यह अनुमान नही लगाया जा सकता कि जैनेन्द्र ने नितान्त स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को अपना-कर सामाजिक बन्धन को शिथिल किया है। जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे अपनी स्वतन्त्र-दृष्टि द्वारा जीवन के प्राकृतिक और मूलभूत सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। सत्य का समाज और मर्यादा से कोई सम्बन्ध नही है। जैनेन्द्र ने समाज के परिप्रेक्ष्य मे मानव-जीवन को जिस रूप मे देखा है, उसके मूल मे स्त्री-पुरुष का अर्धनारीश्वर भाव ही प्रधानत मुखरित हुआ है। स्त्री-पुरुष स्वय मे अपूर्ण है। अत उनका प्रस्पर आकर्षण स्वाभाविक ही नही, अनिवार्य भी है। सृष्टि के आरम्भ से ही अर्धनारीश्वर की भावना मानव जीवन मे व्याप्त रही है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थ इसके साक्ष्य है।[१]

प्रेमचन्द-युग के अन्तिम चरण मे साहित्य और समाज मे नवीन मान्यताओ को लेकर भावाभिव्यक्ति का प्रयास हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक दृष्टि सुधारवादी थी। समाज की आर्थिक विषमता से ऊच-नीच के भेद-भाव लेकर अनेको समस्याए उत्पन्न हो गई थी। उन्होने घरेलू जीवन से लेकर राजनैतिक परिवेश मे व्याप्त द्वन्द्वो का विस्तृत विवेचन किया है। जीवन मे उत्पन्न विविध समस्याओ की भाति नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न भी समाज-सापेक्ष्य ही है। समाज मे जो प्रश्न नैतिक और अनैतिक का रूप लेता है, साहित्य मे वही श्लील और अश्लील रूप मे विवेचित किया गया है। समाज मे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध निर्वैयक्तिक न होकर सम्बन्ध-सापेक्ष्य रूप मे स्वीकार किया जाता है। स्त्री-पुरुष परस्पर भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नी आदि सबध सूत्रो मे आबद्ध होते हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास और कहानियो का कथानक पारस्परिक रिश्ते-नातो से ही ढूढा है। जैनेन्द्र ने पति-पत्नी, व भाई-बहन आदि सम्बन्धो

---

१. 'सीता-राम', 'राधाकृष्ण', 'शिव-पार्वती' की अर्धनारीश्वर की मूर्ति इस का प्रमाण है।

से परे स्त्री-पुरुष को उनके प्रकृत रूप मे स्वीकार किया है, यही जैनेन्द्र की मौलिक देन है।

जैनेन्द्र ने सामाजिक व्यवस्था को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। व्यक्ति समाज मे रहकर ही अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास करता है तथा समाज ही उसे मान और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यदि समाज न हो तो व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वय मे अर्थहीन हो जाता है। 'त्यागपत्र' मे जैनेन्द्र ने सामाजिक मर्यादा का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह उनकी सामाजिक दृष्टि को व्यक्त करने मे पूर्णत सक्षम है। 'मृणाल' समाज की क्रूर छाया के भीतर जीवन-यापन करती हुई सामाजिक मर्यादा को अन्तिम सास तक बनाए रखती है। यद्यपि यह स्थिति कभी-कभी अतिरजनापूर्ण प्रतीत होने लगती है, किन्तु उसमे कही झूठ की दीवार नही खडी की गई है। समाज के क्रूर हाथो मे दया का कोई स्थान नही है। वस्तुत 'त्यागपत्र' मे जैनेन्द्र ने समाज के तिरस्कृत तथा नितान्त अवहेलनीय पक्षो को अपनी हार्दिकता के सस्पर्श से उभारने का प्रयास किया है, जिससे उनके द्वारा प्रस्तुत व्यक्ति के प्रति हममे गहरी सहानुभूति जागृत हो उठती है। मृणाल अपनी व्यथा को अन्तस् मे छिपाए हुए प्रतिष्ठित समाज की दृष्टि से दूर चली जाती है। वह स्वय टूट सकती है, किन्तु समाज मे स्वय को लेकर क्रान्ति उत्पन्न करना उसे स्वीकार नही है।[1]

'त्यागपत्र' मे मृणाल समाज की मर्यादा को ओढे हुए आत्मपीडन को ही प्रश्रय देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषम स्थिति मे ही उसके अन्तस् मे कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो उसे सदैव जीवन से विमुख होने से वचित किए रहती है, और वह शक्ति है, उसका अन्तर्निष्ठ प्रेम। अपने प्रेम को सार्थकता प्रदान करने के लिए ही वह अपने जीवन को नितान्त वस्तुता प्रदान कर देती है। मर कर वह प्रेम के प्रति कृतार्थ नही हो सकती थी। अतएव प्रेम की पीडा को लिए हुए ही वह अपने जीवन की इह लीला समाप्त करती है। वस्तुत जैनेन्द्र ने सामाजिक सत्य के मूल मे व्यक्ति सत्य को जीवन-शक्ति के रूप मे अन्तर्भूत किया है। वे कही भी व्यक्ति-निरपेक्ष होकर समाज का चित्रण नही करते। जैनेन्द्र के साहित्य का यह सनातन सिद्धान्त है।

परिवार और विवाह

ससार स्त्री-पुरुषमय है। सृष्टि के आरम्भ से ही ससार केवल स्त्री-पुरुष

---

१. 'मैं समाज को तोडना-फोडना नही चाहती हू, समाज टूटी कि फिर किसके भीतर बनेगे।' —जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र', पृ० स० ७२।

के नाना सबधो द्वारा चल रहा है। कर्ता एकमात्र ईश्वर है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत् मे केवल यही दो व्यक्तित्व सक्रिय रहे है। आदिम युग मे मानव जीवन की कोई व्यवस्था नही थी। मनुष्य अपनी मूल प्रवृतियो को स्वच्छन्द रूप से सन्तुष्ट करता था। सभ्यता के विकास के साथ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध अधिक व्यवस्थित होने लगे है। ज्यो-ज्यो उनमे विवेक-बुद्धि जाग्रत हुई वे जीवन की विविध समस्याओ की ओर उन्मुख हुए। परिवार व्यवस्था के क्रम मे ही एक महत्वपूर्ण सोपान है। परिवार वह केन्द्र है, जहा स्त्री-पुरुष के विवाह के धार्मिक सस्कार को सम्पन्न करते हुए सन्तानोत्पति तथा शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख होते है।

वैदिक काल से ही परिवार के व्यवस्थित रूप का प्रमाण मिलता है। रामायण महाभारतकालीन सभ्यता मे पारिवारिक-व्यवस्था को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। भारत मे बीसवी सदी से पूर्व अधिकाशत सयुक्त परिवार का ही प्रचलन था किन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ सयुक्त परिवार विघटित होते गए। समाजवादी युग मे सयुक्त परिवार का कोई महत्व नही रह गया है। प्रेमचन्द के उपन्यास मे अधिकाशत सयुक्त परिवार की घटनाए ही कथात्मक रूप मे ही अभिव्यक्त हुई हैं। घरेलू झगडे, कलह आदि का चित्रण उन्होने अपने उपन्यासो मे बहुत स्वाभाविक रूप से किया है। जैनेन्द्र के उपन्यासो मे सयुक्त परिवार का विशेषत उल्लेख नही हुआ है। उनके कथा-साहित्य का निखार व्यक्ति के सदर्भ मे ही दृष्टिगत होता है, परिवार के परिवेश मे नही। अर्थात् द्वन्द्व का कारण पारिवारिक समस्याए न होकर, आन्तरिक उत्पीडन से उद्भूत अन्तर्द्वन्द्व है। परिवार को उन्होने वैवाहिक जीवन के लिए अनिवार्य माना है। वे विवाह को किसी भी स्थिति मे उपेक्षणीय नही मानते। अतएव विवाह के साथ परिवार का होना स्वाभाविक ही है।[1]

जैनेन्द्र भारतीय सस्कृति के पूर्ण समर्थक है। उनकी दृष्टि मे व्यवस्थाहीन समाज आदिम सभ्यता का ही प्रतीक हो सकता है। कृषिप्रधान युग मे सयुक्त परिवार ही विशेषरूप से प्राप्त होते थे किन्तु इस उद्योगवादी युग मे परिवार केवल पति-पत्नी तक सिमट गया है।[2] इतना होते हुए भी जीवन नितात परीक्षण

---

१ 'विवाह ही है जो हमे ससार मे पहुचने का रास्ता देता है।' ...बीस की पूर्णता होते ही इक्कीसवा वर्ष अपने आप उस पर आ जायगा। विवाह की ऐसी ही सहज परिणति मै मानता हूं।'

—जैनेन्द्रकुमार · 'काम, प्रेम और परिवार', १९६१, प्र० स० दिल्ली, पृ० स० २०-२१।

२. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १३७।

अथवा मुक्त प्रयोग नही हो सकता। उसके लिए अवलम्ब ही आवश्यकता है। मानवता इसी रूढ सस्था (परिवार) पर कायम है जो कि स्वय विवाह पर टिकी है।

जैनेन्द्र ने विवाह को एक सामाजिक सस्कार माना है। स्त्री-पुरुष विवाह द्वारा ही परस्पर मिलते तथा सन्तानोत्पादन मे सहायक होते है। जैनेन्द्र के उपन्यास बौद्धिक युग का प्रतिनिधित्व करते है। उनमे व्यक्ति की आत्मिक समस्या और अन्तर्द्वन्द्व का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। जैनेन्द्र ने नाना सम्बन्धो से परे उन्हे मात्र स्त्री-पुरुष के रूप मे समझने की चेष्टा की है। उन्होने स्त्री-पुरुष के अन्तर्मन की गहराई मे प्रवेश करके दलित भावो की सहजाभिव्यक्ति का प्रयास किया है। प्राचीन रूढिगत, पर्दा आदि प्रथाओ पर उन्होने विचार नही किया है। युगानुरूप उनके पात्र प्रगतिशील तथा स्वच्छन्द विचारो के पोषक है। उनके अनुसार—'जीवन मूल्य तेजी से आर्थिक बनते जा रहे है। उस वेग मे जान पडता है कि परिवार और सम्मिलित परिवार का रूप छोटा हो जाने को बाध्य है। मालूम होता है कि यदि आर्थिक सभ्यता का दौरादौर रहा तो यह परिणाम घटित हुए बिना न रहेगा। लेकिन पारिवारिक इकाइया स्वय उस आर्थिक सभ्यता की बाढ को रोके हुए है।'[१]

वस्तुत जैनेन्द्र विवाह और परिवार को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते है। उनके उपन्यास और कहानियो का कथानक वैवाहिक और पारिवारिक-परिवेश मे ही फलित हुआ है। उनके दो नवीनतम उपन्यास 'मुक्ति-बोध' और 'अनन्तर' की कथा मे पारिवारिक सम्बन्धो के मध्य होने वाले मतभेद को भी विशेषत प्रश्रय मिला है। पिता-पुत्र, तथा बेटी-दामाद के मध्य घटित घटनाओ को पारिवारिक स्तर पर ही चित्रित किया गया है। अन्य प्रारम्भिक उपन्यासो मे परिवार तो है, किन्तु परिवार की घटनाओ अथवा समस्याओ की ओर कोई ध्यान नही दिया गया है। वहा बाह्य घटना से अधिक मानसिक तनाव दृष्टिगत होता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासो मे परिवार की स्थिति बहुत ही निर्बल है। उन्होने परिवार को वैवाहिक सस्कार सम्पन्न करने का हेतु-मात्र ही माना है। घर मे बाहर के प्रवेश द्वारा उन्होंने परिवार को स्वस्थ बनाने का प्रयास किया है। परिवार के दायित्व को विवाह मे ही सीमित नही किया जा सकता। विवाह के परे बच्चो की शिक्षा-दीक्षा आदि के हेतु भी परिवार का अस्तित्व अनिवार्य है। व्यक्तित्व का समुचित विकास परिवार के सौहार्द्रपूर्ण परिवेश मे ही सम्भव हो सकता हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासो मे परिवार का कोई उच्च आदर्श दृष्टिगत

---

१ जैनेन्द्र : 'प्रश्न और प्रश्न', १९६६, प्र० स०, पृ० स० १७४।

नही होता। 'सुखदा' मे पारस्परिक तनाव के कारण बच्चे की शिक्षा स्वय मे एक समस्या बन जाती है। पारिवारिक तनाव की स्थिति मे व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जैनेन्द्र के पात्र व्यक्तिगत जीवन की मानसिक उलझन के कारण समाज मे अपना विशिष्ट स्थान नही बना पाते। जैनेन्द्र की रचनाओ मे उतना वैषम्य दृष्टिगत होता है कि उनके सम्बन्ध मे कोई निश्चित दृष्टिकोण नही बनाया जा सकता। 'कल्याणी' मे जो व्यथा है, वह 'मुक्त-प्रयोग' की स्वच्छन्दतापूर्ण परिस्थिति में सम्भव नही हो सकी है। भारतीय सस्कृति के आदर्श उसमे लुप्तप्राय हो जाते है। 'त्यागपत्र' मे एक विवाह सफल न होने पर दूसरा सभव नही हुआ है किन्तु 'मुक्ति-प्रयोग' मे वैवाहिक अनुबन्ध भी प्रयोग मात्र रह गए है। एक के बाद दूसरे सम्बन्ध की ओर उन्मुखता ही प्रमुखरूप से दृष्टिगत होती है। उपरोक्त विरोधाभास को देखते हुए उनके विचारो के सम्बन्ध मे एक सुनिश्चित विचार निर्धारित करना कठिन हो जाता है। तथापि यह सत्य है कि जैनेन्द्र परिवार के अस्तित्व का खण्डन समाज के हित के लिए उपयोगी नही समझते। परिवार और विवाह समाज की बाह्य और अनिवार्य स्थितिया है। जैनेन्द्र के साहित्य मे उत्पन्न होने वाली विषमता समाज को लेकर नही है, वरन् व्यक्ति की सच्चाई को लेकर उद्भूत हुई है। उनके सम्बन्ध मे यह कहना कि उन्होने समाज का विरोध किया है, उचित नही है। समाज सत्य है, किन्तु समाज के साथ व्यक्ति की सत्यता का निषेध नही किया जा सकता। समाज व्यक्ति से ही है और व्यक्ति की सार्थकता भी समाज मे ही सम्भव है।[1]

विवाह और प्रेम

जैनेन्द्र के साहित्य की सबसे बडी समस्या विवाह मे प्रेम को स्वीकार करने के कारण ही उत्पन्न होती है। विवाह और प्रेम (दाम्पत्य और रोमास) को वे जीवन-सरिता के दो समानान्तर किनारो के रूप मे स्वीकार करते है। उनके अनुसार वैवाहिक जीवन में यदि बाहर से आने वाले प्रेम को निषिद्ध कर दिया जाय तो वैवाहिक जीवन में एक घुटन-सी उत्पन्न हो जायगी। वैवाहिक जीवन गवाक्ष है, कोठरी नही हैं। 'सुनीता' मे पारिवारिक जीवन की उदासीनता से मुक्ति पाने के हेतु ही सुनीता और श्रीकान्त के मध्य हरिप्रसन्न का प्रवेश होता है। 'सुखदा' मे सुखदा विवाह से पूर्व अपने भावी जीवन के सम्बन्ध मे जो

---

१ 'वैयक्तिक निरा कुछ भी नही होता, सब कुछ साथ ही सामाजिक होने को विवश है।'

—जैनेन्द्रकुमार. 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

स्वप्न देखती है, वे पूर्ण नही हो पाते। अभावग्रस्त स्थिति उसे बाहर से आए आकर्षणो की ओर उन्मुख करती है, क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि विषम मन स्थिति मे व्यक्ति का झुकाव त्वरा और बाह्य आकर्षण की ओर ही अधिक होता है। लाल का भव्य व्यक्तित्व उसे इसीलिए प्रभावित करने मे सक्षम हो सका है, ऐसी स्थिति मे घर का वातावरण असन्तोषजनक हो जाता है। पति-पत्नी का आत्मिक मिलन सम्भव नही हो पाता। 'कल्याणी' मे कल्याणी और उसके पति का सम्बन्ध इतना शकाग्रस्त होता है कि उनमे एक-दूसरे के प्रति समर्पण भाव जाग्रत होने का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासो मे पति की ओर से पत्नी को प्रेम सम्बन्ध की पूरी छूट रहती है। पति कभी भी पत्नी के प्रति उत्क्रुद्ध नही होते, किन्तु कल्याणी अपने पूर्व प्रेमी के प्रति अपने प्रेम-भाव को प्रकाशित करने मे असमर्थ होती है। उसका प्रेम भीतर ही भीतर सुलगता रहता है। उसकी समस्त वेदना के मूल मे प्रेम की अप्राप्ति भी है। 'मुक्तिबोध' तथा 'अनन्तर' मे पति के जीवन मे प्रेमिका का प्रवेश होता है।

यद्यपि यह सत्य है कि दाम्पत्य जीवन को घर की दीवारो मे ही सीमित कर देने से जीवन बोझ बन जाता है। सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति विश्वस्त हो, उनमे अप्रेम अथवा घृणा का भाव नही होना चाहिए। जीवन मे प्रत्येक स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के अतिरिक्त बाहर से मिलने वाले प्रेम के भी प्रार्थी है। स्नेह और वात्सल्य के अतिरिक्त उनमे रागात्मक भाव की ओर भी उन्मुखता होती है। यह जीवन का सत्य है, सत्य को छिपाकर छल से कोई आदर्श साधना नही हो सकती। जैनेन्द्र के अनुसार समाज के नियम समय-सापेक्ष होते है।[1] सत्य के मार्ग मे सदाचार बाधक नही बन सकता। सत्य को दृष्टि मे रखते हुए सदाचार का रूप भी परिवर्तित होना आवश्यक है।

जैनेन्द्र वैवाहिक जीवन मे प्रेम को अनैतिक कृत्य नही मानते। वे नि सकोच रूप से अपनी समस्त कहानियो और उपन्यासो मे ऐसी विचारधारा

---

१ 'सामाजिक मर्यादा सत्य की साधना की राह मे आप ही बनती है। आशय कि समाज की मर्यादा स्वय स्थिर नही है, विकासशील है। सदाचार मे आचार को पीछे मानिए, सत् पहले है। सत् के अनुसन्धान मे आचार को आगे बढते ही जाना है। इस तरह रूढ सदाचार और सजीव सदाचार मे हर कार्य मे कुछ अन्तर देखा जा सकता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ९७।

को आधार बनाकर चले है। उनकी दृष्टि मे वैवाहिक जीवन मे प्रेम सम्बन्ध की स्वीकृति से सामाजिक-मर्यादा भग नही होती।[१] वे आदर्श नारी की परिकल्पना को किसी स्पष्ट मर्यादा-रेखा पर आधारित नही करते। इस सम्बन्ध मे सामाजिक हस्तक्षेप को भी वे उचित नही समझते। वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार मर्यादा का प्रश्न केवल वैवाहिक जीवन की स्वीकृति तक ही सीमित होता है। प्रेम मर्यादा के बधन से मुक्त है।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'विवाह सामाजिक सस्था है, उससे परिवार बनता है। ··उसे केवल दो का निजी सम्बन्ध समझना और उस आधार पर विवाह को स्थापित करना गलत होगा। क्योकि तब उसकी पूर्णता सामाजिक न होकर कामुक होगी।'[२] पति-पत्नी का सामाजिक होना आवश्यक है। देश, समाज और राष्ट्र के प्रति भी उनका कुछ कर्त्तव्य है जिसे घर की दीवारो से बाहर आकर ही पूर्ण कर सकते है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'विवाह दायित्व लाता है और प्रेम मुक्त है।'[३] उस पर जिम्मेदारी नही आनी चाहिए। जैनेन्द्र की विवाह और प्रेम सम्बन्धी परिकल्पना 'विवर्त' मे ही सफल हो सकी है। वहा विवाह और प्रेम समानान्तर रूप से चलते है। दोनो सम्बन्धो मे प्रेम और आदर का भाव विद्यमान रहता है। प्रेमी और पति को लेकर मानसिक तनाव की स्थिति नही उत्पन्न होती। पति आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध तथा सुशिक्षित और नि शक प्रकृति के है। इसीलिए पति की ओर से कोई दबाव नही उत्पन्न होता है। भुवनमोहिनी और जितेन के प्रेम सम्बन्धो के कारण परिवार पर कोई आच नही आती। जितेन की प्रेम-भावना अतृप्ति के कारण क्रान्ति मे स्थानान्तरित हो जाती है। जितेन की समस्त विस्फोटक क्रियाए अप्राप्ति मे से ही उद्भूत होती है, किन्तु उन समस्त क्रियाओ का भुवनमोहिनी पर कोई प्रभाव नही पडता। वह जितेन की विवशता को जानते हुए उसके प्रति अगाध स्नेह रखती है। जैनेन्द्र का लक्ष्य विवाह मे प्रेम द्वारा स्वस्थ वातावरण को उद्भूत करना है। वे पति-पत्नी की निकटता के लिए बाहर से आने वाले प्रेम को आवश्यक समझते है। राधा-कृष्ण और मीरा के जीवनादर्श की ओर इगित करते हुए यह मानते है कि विवाह और प्रेम मे, पति-पत्नी के मध्य आदर का भाव कम नही होता। मीरा राणा से घृणा नही करती, वह उनके द्वारा दिए गए सभी पदार्थो का

---

१ 'विवाह के अतिरिक्त समाज की मर्यादा दूसरी और क्या है ?'
—जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ११०।

२ जैनेन्द्र कुमार 'काम प्रेम और परिवार', पृ० स० १९।

३ जैनेन्द्र कुमार 'इतस्तत', पृ० स० ३५।

हार्दिक श्रद्धा के साथ उपभोग करती है, किन्तु मीरा और राधा असामान्य आदर्श हैं। सामान्य जीवन में उनके आदर्शों की परिकल्पना सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि मीरा जीवनपर्यन्त कृष्ण की दीवानी रहती है। उसके जीवन में परिवार का कोई स्थान नहीं रह जाता। जैनेन्द्र के पात्र भी अपने प्रेम के कारण ही विवाह से प्राप्त होने वाली विषम स्थितियों को सहर्ष ही झेलते हैं। 'सुनीता' में वीरान जंगल में जब सुनीता हरिप्रसन्न के समक्ष पूर्ण-समर्पण करने के बाद लौटती है तो उनका मन शान्त रहता है। वह पुनः अपने परिवार में सुख-शान्ति का वातावरण उद्भूत करने में सक्षम होती है। सुनीता में जैनेन्द्र का आदर्श अपनी पूर्णता में परिलक्षित होता है। किन्तु राधा और मीरा के जीवन के साथ सुनीता के जीवन में समता नहीं दिखायी जा सकती। राधा और मीरा में अतृप्ति नहीं है। वे स्वेच्छा से कृष्ण के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण करती हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों का द्वन्द्व केवल प्रेम को लेकर ही नहीं उत्पन्न होता, उसमें 'घर-बाहर' के मध्य असन्तुलन की स्थिति ही विशेषतः खटकती है। उन्होंने विवाह में प्रेम को दो-चार स्थलों में ही घटित होते हुए नहीं दर्शाया है, वरन् उनका समस्त कथा-साहित्य इसी धुरी पर आधारित है। उनके अनुसार 'पति-पत्नी में प्रेमी-प्रेमिका समाप्त नहीं हो सकते। अलग से उन्हें होना ही है। दोनों का होना बन्द नहीं होने वाला।'[1]

जैनेन्द्र की विवाह और प्रेम सम्बन्धी विचारधारा समसामयिक अधिकांश लेखकों में दृष्टिगत होती है।[2] सुप्रसिद्ध विद्वान हैवलाक एलिस इस सम्बन्ध में यह स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि—'हर पुरुष और स्त्रियों में दूसरे व्यक्तियों के प्रति कमोबेश कामात्मक रूप में अतिरंजित स्नेह रहने की क्षमता होती है। चाहे वह व्यक्ति अपनी केन्द्रीय स्नेह के प्रति कितना ही एकगामी हो।'[3] एलिस के अनुसार दाम्पत्य जीवन में प्रारम्भ में सब कुछ अज्ञात रहता है। अतः धीरे-धीरे पति-पत्नी के मध्य स्नेहपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकता है और उनका बाहरी खिचाव कम हो जाता है।

वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार—'विवाह जीवन को विस्तार देता है, परिधीय केन्द्र नहीं देता। विवाह द्वारा हम अपने प्रेम का विस्तार करने का अवकाश

---

१. जैनेन्द्र कुमार : 'इतस्ततः', पृ० सं० ६८।
२. रामेश्वर शुक्ल : 'उल्का' हिन्दी प्रचारक, पृ० सं० १८५।
तथा अज्ञेय : 'नदी के द्वीप में'।
३. हैवलाक एलिस : 'यौन मनोविज्ञान', पृ० २७०।

पाते है। यदि विवाह प्रेम को घेरने वाली चीज हो जाय तो परिवार जेल है। स्वत्वमूलक परिवार जकडबन्द बन जाता है। उसमे जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु विवाह द्वारा प्रेम बन्द नही होता, वरन् फैलने के लिए केन्द्र प्राप्त कर लेता है, तभी उसकी सार्थकता है।"[१]

जैनेन्द्र का विश्वास है कि घर मे प्रेम आतिथ्य के रूप मे आता है। जिस प्रकार अतिथि का सत्कार गृहस्वामी और गृहस्वामिनी का धर्म है इसी प्रकार बाहर से आए हुए प्रेम की स्वीकृति भी उनका धर्म है। स्वीकृति मे तिरस्कार की भावना नही बढती, वरन् जीवन मे सहजता का समावेश होता है और पारस्परिक तनाव नही बढ पाता। प्राय देखा जाता है कि परिवार मे बाहर से आने वाले व्यक्ति पर बहुत कडी दृष्टि रखी जाती है, जिससे सहजता दबाव के कारण व्यभिचार मे परिणत हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार परस्पर विश्वास रहने के कारण आने-जाने वालो को बुरा नही लगता और परिवार का स्वास्थ्य बना रहता है। अविश्वास मे छल और कपट की भावना पैदा होती है। उस स्थिति मे व्यभिचार की ओर अभिमुखता बनी रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार विवाह मे बाहर अनुपस्थित रहे तो जीवन उदासीन हो जाता है। जहा प्रवेश निषिद्ध है, वहा उत्कर्ष नही। घर की सार्थकता बाहर बढने के लिए सुविधा देने मे है। जैनेन्द्र की उपरोक्त मान्यता उनके सम्पूर्ण साहित्य मे दृष्टिगत होती है। जहा कही परिवार टूटता है अथवा निर्बल प्रतीत होता है, उसके मूल मे शका जन्य अवरोध ही विद्यमान है। जैनेन्द्र का यह विश्वास है कि समाज की मर्यादा-रेखा किसी विशिष्ट स्थान या स्थिति पर खिची हुई नही मानी जा सकती। उनके अनुसार—'मर्यादा की रक्षा (सामाजिकता की) और सार्थकता (प्रेम की)—इससे सिद्ध होती है जहा इन दोनो का समन्वय बैठता हो वही मर्यादा की रेखा है। यदि सुरक्षा या सार्थकता अकेले चले तो असगति और असन्तुलन उत्पन्न हो जाएगा और उच्छृखलता आ जाएगी।'[२] जैनेन्द्र के अनुसार मर्यादा और प्रेम के बीच छल के प्रवेश से मर्यादा की सुरक्षा नही हो सकती। वस्तुत जैनेन्द्र प्रथम लेखक है, जिन्होने सामाजिक नियम, मान्यताओ का ध्यान रखते हुए भी जीवन मे प्रेम को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। उनका विचार सामाजिक मान्यताओ को खण्डित करना नही है। आधुनिक लेखको के सदृश प्रचलित मान्यताओ को उखाड फेकना वे उचित नही समझते। उन्होने नवीनता के पोषण हेतु कोई कदम नही उठाया। उनके जीवन और

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

साहित्य का एकमात्र लक्ष्य सत्य का उद्घाटन करना है। जैनेन्द्र का साहित्य समाज का ही दर्पण नही है, वरन् वह व्यक्ति जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को उभारने मे भी सहायक है।

परिवर्तनशील मान्यताएं

समाज मे रहकर उसकी मर्यादाओ की उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु उनकी दृष्टि मे सामाजिक नियम भी पत्थर की रेखा नही है। जीवन परिवर्तनशील है। अतएव सामाजिक नियमो का भी परिवर्तनीय होना आवश्यक है। अन्यथा 'प्रगति' शब्द निरर्थक ही प्रतीत होगा। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। अतएव उस पर समाज की मर्यादाओ का लागू होना सगत है किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत नही आता।[१] वे समाज की मर्यादाओ को अन्तिम वस्तु नही मानते। उनकी ऐसी धारणा है कि 'स्व' से मुक्त होकर ही व्यक्ति अथवा समाज की प्रगति सम्भव हो सकती है। प्रेम के मार्ग मे जो लोग समस्त बन्धनो की उपेक्षा करते हुए आगे बढते जाते है, वे ही कालान्तर मे पूज्य बन जाते है। इस दृष्टि से मीरा का आदर्श स्पष्ट प्रमाण है। मीरा यदि प्रारम्भिक बाधाओ से विचलित होकर प्रेम से विमुख हो जाती तो आज वह इतनी मान्य नही हो सकती थी। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का मूल स्वर प्रेम होने के कारण, किसी भी स्थिति मे अस्वीकार्य नही हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार समाज मे नैतिकता की जो दुहाई दी जाती है, वह केवल ऊपर से थोपी हुई मान्यता है। उनकी दृष्टि मे सच्ची नैतिकता तो परस्पर के विश्वास मे से फलित होती है। विवाह के वर्तमान रूप मे सारा ध्यान विवाहेत्तर सम्बन्धो पर इतना केन्द्रित रहता है कि व्यभिचार कहकर हम उसी की दुहाई देते रह जाते है और समाज के शरीर मे विवाह की रूढ़ प्रणाली से रोग के गहरे कीटाणुओ की ओर से विमुख बने रहते है। विवाह के नीचे कितना सड़ाध, कलुष और मालिन्य उपजता और जमा होकर रोग उत्पन्न करता है, इसका हम लेखा-जोखा ही नही लेते।[२] ऐसी स्थिति मे भी हम ऊपर से सामाजिक बने रहने का गर्व करते है। वस्तुत ऐसे मोटापे से क्या लाभ जो शरीर के रोग को छिपाए हुए हो। वास्तविकता यही है कि आज का समाज ऊपरी मर्यादा और आदर्श का चोला पहने हुए भीतर कालिमा से लिपटा है। अतएव यदि साहित्यकार उस कलुष के उक्त की ओर ध्यान केन्द्रित करता है

---

१. जैनेन्द्र कुमार · 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० १४३।

२. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

तो समस्या का निदान बाहर नही ढूढना पडेगा ।

जैनेन्द्र के अनुसार 'सस्कृति स्वीकार पूर्वक ही प्रकृति को सस्कार दे सकती है, उसका इकार नही कर सकती । कामाकर्षण सर्वत्र व्याप्त है। नर-नारी योग पर सृष्टि टिकी है। क्यो न कहा जाय कि ब्रह्माण्ड टिका है, कारण, वह आकर्षण चर मे ही नही, अचर मे भी व्याप्त है ।'[1]

जैनेन्द्र के अनुसार सम्बन्ध के विस्तार मे पत्नी का सतीत्व भग नही होता वरन् और भी पुष्ट होता है । यही कारण है कि वे सती को पत्नी से अधिक महानता प्रदान करते है । उनकी दृष्टि मे सती विसर्जिता है और पत्नी केवल विवाहिता । अगर विवाहित होकर पत्नी विसर्जिता न हो जो कि सम्भाव्य ही नही, बल्कि अह है, तो सतीत्व से वह पत्नीत्व उल्टा पडता है । जब कि जैनेन्द्र के अनुसार बिना विवाह के एक कुमारी भी प्रेम मे किसी के प्रति विसर्जिता होकर आदर्श सती हो जाती है । जिन सतियो का पुराणो मे माहात्म्य है वे पत्नी की परिभाषा पर खरी उतरने वाली है । राधा सती-शिरोमणि समझी जाती है, पर कृष्ण के कारण, जो उनके विवाहित पति नही थे । वस्तुत. जैनेन्द्र की दृष्टि मे पत्नी सामाजिक होती है और सती आध्यात्मिक ।[2]

प्रेम-विवाह

जैनेन्द्र प्रेम और विवाह को समानान्तर रूप से स्वीकार करते हुए भी प्रेम-विवाह के पक्ष मे नही है । उन्होने अपने कथा-साहित्य मे प्रेम-विवाह को किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही किया है । यद्यपि प्रेममूलक स्वतन्त्रता को देखते हुए उनका यह दृष्टिकोण असगत-सा प्रतीत होता है । जैनेन्द्र के अनुसार विवाह सामाजिक सस्कार है, अत उसमे समझौते के हेतु अवकाश रहता है । प्रेम विवाह व्यक्ति और समाज दोनों दृष्टियो से हानिप्रद है । उनके विचार मे विवाह जैसा पवित्र सस्कार माता-पिता के आदेशानुसार ही सम्पन्न होना चाहिए ।[3] प्रेम-विवाह आवेग और भावावेष की स्थिति मे ही होता है। उस समय विवेक बुद्धि कार्य नही करती । प्रेम मुक्त होता है । वह दायित्व नही ग्रहण करता किन्तु

---

१. जैनेन्द्र कुमार : 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित) ।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार ।

३ 'विवाह मे प्रेम का आग्रह इतना अनिवार्य नही, जितना माता-पिता, गुरुजन, बन्धु-बाधव का सयोग और आशीर्वाद ।

—जैनेन्द्रकुमार : 'काम, प्रेम और परिवार' पृ० स० ४० ।

जब प्रेम को विवाह में आबद्ध कर दिया जाता है तो उसमें पारस्परिक सोहार्द् से अधिक तनाव की सम्भावना रहती है। गृहस्थी यथार्थ जगत की घटना है। प्रेम अतीन्द्रिय तथा आत्मलोक की अभिव्यक्ति है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यवस्थित विवाह में पारस्परिक तनाव होने पर भी एक-दूसरे के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना नहीं उत्पन्न होती। 'प्यार का तर्क' कहानी में उन्होंने प्रेम-विवाह का पूर्ण निषेध किया है। इस कहानी में उन्होंने प्रेम विवाह सम्बन्धी विचारों को बहुत स्पष्टता के साथ वर्णित किया है। जैनेन्द्र के अनुसार प्राप्ति की कामना में प्रेम का पोषण नहीं होता। प्रेम में त्याग अनिवार्य है। प्रेम-पात्र से दूरी होने पर भी आत्मिक स्तर पर मिलन-सुख का-सा आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु प्रेम में वैवाहिक बन्धन उत्पन्न करने से घृणा अथवा तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जो कि असह्यनीय है। प्रेम के अभाव में जीवन किसी प्रकार सम्भव हो सकता है, किन्तु घृणा व्यक्ति के पारस्परिक स्नेह और प्रेम को सदैव के लिए विनष्ट कर देती है। विवाह रुमानी प्रेम पर नहीं टिक सकता। 'जिस प्रेम पर विवाह सचमुच टिका रह सकता है, वह व्यक्ति प्रेम नहीं, धर्म प्रेम होता है। वह कर्तव्य के नाते प्रेम होता है, रूप के नाते प्रेम नहीं हुआ करता।'[1]

जैनेन्द्र विवाह के सम्बन्ध में पुरुषार्थ से अधिक भाग्य को महत्वपूर्ण मानते हैं। भाग्य के निर्णय पर व्यक्ति सन्तुष्ट रहता है, उसमें द्वन्द्व या आग्रह की स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती। पुरुषार्थ में व्यक्ति का अहं प्रबल रहता है और दोनों ओर से आग्रह होने के कारण जीवन तनावपूर्ण तथा असंतोषजनक स्थिति से गुजरता है। जैनेन्द्र विवाह के हेतु स्वयं वर के चुनाव को उचित नहीं मानते। वे विवाह में धार्मिक वृत्ति को आवश्यक समझते हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में प्रेम-विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकृति नहीं मिल सकी है।[2] उनके उपन्यासों में प्रेम-सम्बन्ध अधिकांशतः विवाह के बाद ही दृष्टिगत होता है। 'विवर्त' में विवाह के पूर्व ही प्रेम संबंध की परिकल्पना की गयी है, किन्तु प्रेम-विवाह सम्भव नहीं हो सका है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम जीवन का अनिवार्य अंग है। प्रेम के अभाव में जीवन जड़वत्

---

१. जैनेन्द्र कुमार : 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० सं० १६६।
२. 'अपने को लेकर स्त्री या पुरुष को विवाह के क्षेत्र में साथी चुनने के लिए निकल जाना पड़े, इस अवस्था को मैं बहुत उन्नत सामाजिक व्यवस्था नहीं मानता।'
—जैनेन्द्रकुमार : 'प्रश्न और प्रश्न', १९६२, प्र० सं०, पृ० १६८-६९।

हो जाता है, किन्तु प्रेम-विवाह द्वारा प्रेम मे उत्सर्ग के स्थान पर दायित्व का भाव बढ जाता है। व्यवस्थित विवाह के पश्चात् भी प्रेम स्थायी रहता है। वस्तुत 'जैनेन्द्र ने प्रेम के स्थायित्व के हेतु प्रेम-विवाह का निषेध किया है। 'त्यागपत्र' मे मृणाल का प्रेम-विवाह सम्भव नही हो सका है। मृणाल सामाजिक मर्यादा को स्थायी रखते हुए भी अपने अन्तस् के प्रेम को विनष्ट नही होने देती। उसके हृदय मे अपने प्रेमी पात्र के प्रति घृणा की भावना नही जाग्रत होती।

जैनेन्द्र के पात्र जीवनपर्यन्त भाग्य के थपेडे खाते हुए भी विवाह के दायित्व को सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत ही स्वीकार करते है। वैवाहिक जीवन चाहे कितना भी कष्टमय क्यो न हो जाय किन्तु वे अपने आदर्श से विचलित नही होते। 'त्रिवेणी' मे प्रेम-विवाह सम्भव न हो सकने के कारण त्रिवेणी का जीवन बहुत खिन्नतापूर्वक व्यतीत होता रहता है। विवाह के बाद भी उसका प्रेम विनष्ट नही होता। घर पर प्रेमी के आने से उसकी सारी मन स्थिति अभिभूत हो उठती। इसमे प्रेम की पीडा से छुटकारा नही चाहा गया है। प्रेम वात्सल्य मे परिणत होकर सारा-का-सारा अभाव भाव से भर देता है। त्रिवेणी की झुझलाहट उसकी विपन्नता की ओर भी इगित करती है। निष्कर्षत जैनेन्द्र की दृष्टि मे प्रेम विवाह उचित नही है किन्तु विवाह के बाद भी प्रेम बना ही रहता है। प्रेम को जीवत बनाए रखने के लिए दूरी आवश्यक प्रतीत होती है। एलिस महोदय भी प्रेम-विवाह के पक्ष मे नही है। जैनेन्द्र के विचारो से उनमे स्पष्टत साम्य दृष्टिगत होता है। उन्होने प्रेम-विवाह के निषेध के हेतु समाज तथा परिवार की ओर से उत्पन्न होने वाली बाधाओ को आवश्यक माना है।[1] जैनेन्द्र के विचारो पर भारतीय सस्कृति का भी प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार विवाह को भोग मे ही सीमित कर देना अनिष्टकर है।[2]

विवाह विच्छेद

जैनेन्द्र ने जिस प्रकार प्रेम-विवाह को अस्वीकार किया है, उसी प्रकार विवाह-विच्छेद (तलाक) का भी पूर्ण निषेध किया है। जैनेन्द्र ने सामाजिक-समस्याओ को आध्यात्मिक स्तर पर सुलझाने का प्रयास किया है। पति-पत्नी का सम्बन्ध सामाजिक है, किन्तु बाह्य-स्थूलता मे गर्भित सूक्ष्मता व्यक्ति की आत्मता का बोध कराती है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से न अच्छा है और न

---

१. हैवलाक एलिस 'यौन मनोविज्ञान', प्र० स०, पृ० स० २५५।
२. जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया,' भाग ७, पृ० स० १९५।

ही बुरा है।[1] स्त्री-पुरुष भी परस्पर दोषपूर्ण है। यदि एक-दूसरे के दोषो को देखकर सम्बन्ध विच्छेद की घटना घटित होती है तो उसे स्वाभाविक नही माना जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष, सदोष है, अतएव समाज और परिवार मे समझौते के बिना एक पग भी नही चला जा सकता।

जैनेन्द्र पति-पत्नी के आजन्म सम्बन्ध विच्छेद को उचित नही मानते। उनके अनुसार किन्ही विषम परिस्थितियो मे पति-पत्नी का साथ रहना पारस्परिक सहानुभूति को पूर्णतया विनष्ट करने वाला हो जाता है, तब उन्हे कुछ काल तक एक दूसरे से अलग रहना चाहिए। अलग रहने मे पारस्परिक सहृदयता पूर्णतया विनष्ट नही होती, केवल वैचारिक तनाव बना रहता है। तनाव मे दूरी उपयुक्त है किन्तु सम्बन्ध तोड देने से भविष्य मे प्रेम की सम्भावना का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र का प्रमुख सिद्धान्त प्रेम को स्थायी रखना है। उनके अनुसार साहित्य का मूल स्वर प्रेम है। अप्रेम मे वे सुखी जीवन की कल्पना ही नही करते। 'विच्छेद' कहानी मे उन्होने वैवाहिक जीवन मे उत्पन्न होने वाले तनाव से बचने के लिए समझौते को आवश्यक माना है। वस्तुत जैनेन्द्र के पात्रो को वैवाहिक जीवन मे चाहे कितना ही कष्ट क्यो न सहना पडे किन्तु वे कानूनी रूप से सबधविच्छेद नही करते। व्यक्तिगत सम्बन्धो मे कानून को लाकर वे परस्पर की निष्ठा को विनिष्ट करना श्रेयस्कर नही समझते। कभी-कभी विवाह उनके समक्ष विवशता बन जाता है, किन्तु वे अपने आदर्शो से विचलित नही होते। यही कारण है कि उनकी प्रेमिकाए पति के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव नही रख पाती। उनके पति-पात्र भी अधिकाशत बहुत नम्र है। वे आन्तरिक पीडा की पूजी को सजोए हुए सारा जीवन व्यतीत कर सकते है, किन्तु सम्बन्धविच्छेद की कल्पना भी नही करते।[1] 'सुखदा' मे पति-पत्नी एक दूसरे से दूर चले जाते है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धविच्छेद नही करते। ऐसी स्थिति मे उनके हृदय का प्रेम समाप्त नही होता, वरन् प्रायश्चित मे परिणत होकर और भी सघन हो जाता है। 'त्यागपत्र' मे मृणाल सम्बन्ध-विच्छेद को आवश्यक नही समझती। पति के द्वारा घर से निकाल दिए जाने

---

१ 'मेरा मानना है कि दुनिया मे कोई दो व्यक्ति ऐसे नही हुए जो एक-दूसरे के लिए जनमे कहे जा सके। खिचाव और तनाव तो स्त्री-पुरुष मे प्रकट और सहज है। सामन्जस्य इसलिए सहज नही है, उसे साधना होता है। उसके लिए सयम और अभ्यास की आवश्यकता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ६६।

पर ही वह बाहर जाती है । वस्तुत विच्छेद स्वय मे श्रेयष्कर नही है ।

अन्तर्जातीय विवाह

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे प्रेम और विवाह को लेकर ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह का सामाजिक दृष्टि से निषेध नही किया है । जैनेन्द्र की समस्त रचनाओ मे जातिवाद को लेकर कोई समस्या ही नही उत्पन्न होती । उन्होने कही भी यह नही प्रकट किया है कि जाति-भेद के कारण विवाह सम्भव नही हो सकता । विवाह के सम्बन्ध मे उन्होने अन्तर्जातीय विवाह को पूर्णत स्वीकार किया है । यही कारण है कि उन्होने जाति-भेद की समस्या को अपनी रचनाओ मे गम्भीरता से विवेचित नही किया है । 'कल्याणी मे उन्होने अन्तर्जातीय विवाह के कारण होने वाले लाभ पर भी प्रकाश डाला है । वस्तुत जैनेन्द्र छूत-अछूत, नीच-ऊच आदि के प्रश्न को लेकर सहज रूप से ही निर्मूल सिद्ध कर देते है । जिस प्रकार उन्होने अपने साहित्य मे जाति-भेद के प्रश्न को सामान्य समझकर छोड दिया है, उसी प्रकार समाज के अछूत वर्ग पर भी अलग से विचार नही किया है । सत्यता यह है कि वे व्यक्ति को मात्र 'व्यक्ति' के रूप मे ही समझने का प्रयास करते है । इसलिए उनकी दृष्टि मे जाति-भेद अथवा ऊच-नीच का भेद विशेष महत्व नही रखता ।

काम भावना

('सृष्टि के मूल मे' 'काम' है) सृष्टि ईश्वर की कामना का ही परिणाम है । संसार स्त्री-पुरुषमय है । उनके मध्य आकर्षण का केन्द्र काम-भावना ही है । एकाकी जीवनयापन की कल्पना निराधार है । जैनेन्द्र के अनुसार अकेलापन घेर लेता है तभी काम उससे उद्धार करने के लिए आता है । काम जीवन का अनिवार्य सत्य है । मानव जीवन की पूर्णता चार पुरुषार्थ, अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति मे ही सम्भव है । जैनेन्द्र के अनुसार मोक्ष-रूपी मजिल धर्मपूर्वक अर्थ और काम के मार्ग से गुजर कर ही प्राप्त हो सकती है । यद्यपि शुकदेव जैसे अपवाद शास्त्रो मे अवश्य मिलते है, जो बाल-ब्रह्मचारी रहकर मोक्षोन्मुख हुए किन्तु सामान्यत इस जीवन मे काम की उपेक्षा नही कर सकते । जैनेन्द्र के साहित्य मे काम द्वारा भोगोन्मुखता को प्रश्रय न मिल कर उसके प्रेममूलक रूप को ही स्वीकार किया गया है । प्रेम मे आत्मदान के साथ शरीर-दान भी अनिवार्य ही नही, स्वाभाविक भी है । जैनेन्द्र के साहित्य मे 'प्रेम' शब्द का व्यापक अर्थों मे प्रयोग किया गया है । अपनी

समग्रता मे प्रेम मे काम वर्जित नही है। राधा और मीरा के आदर्श को ही उन्होने अपने साहित्य मे विशेषत स्वीकार किया है। राधा-कृष्ण और मीरा भारतीय साहित्य ही नही, जीवन के ऐसे दो असामान्य और चिरन्तन आदर्श है, जिनके प्रेम के सम्बन्ध मे शका का प्रश्न ही नही उठता। उनके वैवाहिक जीवन मे भी प्रेम अपनी चरम सीमा पर आरूढ था। राधा और मीरा के प्रेम मे इन्द्रिय-उपेक्षा नही है, वरन् उनमे अतीन्द्रियता दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार अतीन्द्रियता इन्द्रियो की सम्पूर्ण स्वीकृति मे ही सम्भव हो सकती है। व्यक्ति इन्द्रियमार्ग से इतना परे चला जाए कि उसे स्थूल इन्द्रियगत आकर्षण का बोध ही न रह जाय। अतीन्द्रियता का बोध आत्मतत्व मे लीन होकर ही सम्भव हो सकता है। 'काम' इन्द्रियगत चेष्टा है, वह प्रेम का ही अग है। सामान्यत काम के सम्बन्ध मे अत्यन्त ही अप्राकृतिक तथा अस्वास्थ्यकर दृष्टिकोण प्रचलित रहा है। यही कारण है कि काम प्रवृति अवदमित होती रहती है। नदी के प्रकृत प्रवाह के सदृश काम भावना का सहज प्रवाह हानिप्रद नही हो पाता, किन्तु बधे हुए जल के सदृश अवदमित काम वासना सहज मार्ग को छोडकर विकृत रूप मे प्रकट होती है। उस समय उसका स्वरूप विस्फोटक और विध्वसात्मक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति मे अनेक शारीरिक विकृतिया तथा मनोविकार उत्पन्न हो जाते है।

वस्तुत जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे काम के सहज प्रवाह को ही स्वीकार किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने 'काम' के प्रति हमारे दृष्टिकोण को स्वस्थ बनाने का प्रयास किया है। साहित्य और मनोविज्ञान का घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योकि दोनो मे व्यक्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक युग मे साहित्य पर मनोविज्ञान का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। पात्रो की समस्या सामाजिक से अधिक व्यक्तिगत और मनोग्रस्त हैं। उपन्यासकार जैनेन्द्र के सम्बन्ध मे प्राय. यही धारणा प्रचलित है कि उनकी रचनाए कामप्रधान तथा असामाजिक है। यह सत्य है कि जैनेन्द्र ही प्रथम लेखक है, जिन्होने जीवन के उपेक्षित पक्ष को नि सकोच रूप से समाज के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है। बर्टेण्ड रसेल के अनुसार 'इस जमाने मे दो प्रभावशाली विचार वाले लोग है, उसमे से एक प्रत्येक बात को आर्थिक सूत्र से प्राप्त करते है, दूसरा प्रत्येक बात को मैथुनात्मक सूत्र से प्राप्त करता है। इनमे मे पहला मार्क्स का विचार है और दूसरा फ्रायड का।'[1] जैनेन्द्र अर्थ और काम दोनो मे से किसी को अन्तिम नही मानते। अर्थ और काम तो जीवन की समानान्तर

---

१ एलिस की 'साइकालजी आफ सेक्स' से उद्धृत।

रेखाए है, जिनके मध्य जीवन-यात्रा सभव होती है। जैनेन्द्र फ्रायड की भाति काम को भौतिक और दैहिक स्तर पर स्वीकार नही करते, वरन् उन्होने काम को आध्यात्मिक स्तर पर भी स्वीकार करके सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने का प्रयास किया है। उन्होने सृष्टि के मूल मे भी ईश्वरीय शक्ति की कल्पना की है। जैनेन्द्र के अनुसार सम्भोग की स्थिति मे स्त्री-पुरुष इतने अहशून्य हो जाते है कि उन्हे अपने अस्तित्व का भी बोध नही रहता। उस स्थिति मे सृष्टि सम्भवत ईश्वरीय शक्ति का परिणाम प्रतीत होती है।[1] जैनेन्द्र की दृष्टि मे त्रास की चरम स्थिति ही परमानन्द की अवस्था है। परमानन्द ब्रह्मानन्द से परे कुछ नही है।[2]

फ्रायड के अनुसार सेक्स वह चीज है जिसमे लिग-भेद, आनन्दजनक, उत्तेजना और परितुष्टि, प्रजनन कार्य, अनुचित की धारणा और छिपाने की आवश्यकता सम्बन्धी सब बाते इकट्ठी आ जाती है। जैनेन्द्र ने सेक्स को मात्र भोगाकांक्षा के रूप मे ही स्वीकार नही किया है। उनके समक्ष अर्ध-नारीश्वर का भाव ही वह मूल सूत्र है, जिससे स्त्री-पुरुष परस्पर बधे है। उनके आकर्षण के मूल मे निज की अपूर्णता ही विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। स्त्री और पुरुष दोनो अपने मे अपूर्ण है। वे एक-दूसरे मे अपने अभाव की ही सम्पूर्ति नही करते, वरन् वे पूर्णतया एकमेक होकर अपने अह को विगलित करते है। उन्होने अपनी अर्धनारीश्वर सम्बन्धी धारणा को मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और अध्यात्मवाद के आधार पर प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का एकाकीपन दुसह हो उठता है। काम मे स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे मे खो जाने के हेतु प्रत्यनशील रहते है। जैनेन्द्र के अनुसार जो अधूरा है, वह तृष्णार्त है, जो पूरा है, अर्थात् जिस समर्पण मे अपना कुछ भी बचाकर नही रखा गया है, अपना अग तक भी नही वह यथार्थ है। पवित्रता के लिए वह आदर्श बनता है।[3] जैनेन्द्र ने फ्रायड के सदृश काम को शरीर की भूख के रूप मे अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु उन्होने उसे केवल शरीर के स्तर तक ही सीमित नही रखा है। उनकी दृष्टि मे काम भावना वह केन्द्र है, जिसमे व्यक्ति का अहभाव विसर्जित होते हुए दृष्टिगत होता है। अहविसर्जन ही जैनेन्द्र के साहित्य और जीवन का मूल तत्व है। जैनेन्द्र ने कामभावना मे शारीरिक से अधिक आत्मिक स्थिति को स्वीकार किया है। काम भावना यदि शरीर तक ही केन्द्रित रहे तो उसमे

---

१. जैनेन्द्रकुमार : 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ११६।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

३ जैनेन्द्रकुमार . 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ३३।

तृप्ति की भावना नही उत्पन्न हो सकती। जब वह शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होती है, तभी उसमे विरिक्त और सन्तुष्टि की भावना जाग्रत होती है। जैनेन्द्र की भोग मे योगदृष्टि खोजने का एकमात्र यही आधार है, जो उनकी प्रेम और काम सम्बन्धी विचारधारा को महिमान्वित करता है। उनकी दृष्टि मे··· 'अकेलेपन को लेकर व्यक्ति चलता है और उस भेट को किसी की गोद मे डालकर मानो सास और जीवन पा जाता है। यह मानवीय परस्परता अनिवार्य है। यह अकेलापन हो नही सकता कि वह दुकेलेपन को न ढूढे।' जीवन मे काम की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए जैनेन्द्र ने साहित्य मे भी उसकी अपेक्षा स्वीकार की है। उनकी दृष्टि मे 'अगर जीवन मे से सेक्स को बाहर निकाला जा सकता तो साहित्य, जीवन मर्म की शोध मे सृष्टि पाता है, जो जीवन के प्रतिफल मे सुन्दर, सुभग और समृद्ध करता है, वही उसको वहिष्करणीय कैसे मान सकता है?'[१] उनका साहित्य इसी सत्य की स्वीकृति मे फलित हुआ है। 'एक रात', 'रत्न प्रभा', 'निर्मम', 'राजीव' और 'भाभी' आदि कहानियो मे उन्होने स्त्री-पुरुष के निर्वेयक्तिक सम्बन्ध को ही स्वीकार किया है। वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार काम को वासना मानने मे घबडाने की जरूरत नही है। इसीलिए शब्द से आशय इतना ही लेना चाहिए कि वहा ठहरना नही है।[२] जैनेन्द्र की दृष्टि मे देह रहते वासना से छुटकारा नही हो सकता। साराशत जैनेन्द्र की यह मान्यता है कि वासना या कामना हमको अन्य के प्रति उन्मुक्त करती है या अपने-आप मे इस अर्थ मे अभीष्ट ही है कि वह हमको अपने अह के व्रत से बाहर लाती और सम्बद्धता मे विस्तृत करती है।[३] जैनेन्द्र उपरोक्त सम्बद्धता को व्यक्ति के हित के लिए आवश्यक मानते है। जैनेन्द्र के अनुसार 'पर' की स्वीकृति मे सामाजिकता स्वय ही गर्भित है।

जेनेन्द्र ने काम को 'यज्ञ' के रूप मे स्वीकार किया है। 'काम मे व्यक्ति झपट कर भोग लेना चाहता है, यज्ञ मे कही बिछकर मिट जाना चाहता है।'[४] भोग मे योग का भाव भोग के समस्त अभावो को दूर कर देता है। 'सुनीता' तथा 'एक रात' आदि उपन्यास तथा कहानियो मे आत्मतुष्टि के अनन्तर एक-दूसरे से दूर रहने मे उन्हे शान्ति ही मिलती है। कामजन्य छटपटाहट समाप्त हो जाती है। इसलिए जैनेन्द्र ने कामचर्या को ब्रह्मचर्या के रूप मे स्वीकार

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।
२ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।
३ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।
४ जैनेन्द्र कुमार 'काम प्रेम और परिवार', पृ० १२३-२४।

किया है, क्योकि उस अवस्था मे व्यक्ति की अहचर्या पूर्णत विनष्ट हो जाती है। 'कामसूत्र' मे आचार्य वात्सायन ने काम-सकल्प के भौतिक महत्व की अपेक्षा पारमार्थिक महत्व को प्रधान बताया है। उनके अनुसार वास्तविक सुखानुभूति का सम्बन्ध न तो इन्द्रियो से है और न मन से है, वरन् आत्मा से है। इस प्रकार वे 'काम' मे भौतिक जीवन की पूर्ति के साथ-साथ पारमार्थिक जीवन की उन्नति का स्रोत भी देखते है।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध : लिगत्व शून्य

जैनेन्द्र की अर्द्धनारीश्वर सम्बन्धी विचारधारा पर आचार्य वात्सायन के विचारो का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री की और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष की सत्ता सतत् विद्यमान रहती है। वात्सायन की दृष्टि मे यही बात ऋग्वेद के 'अस्य भावीय सूक्त' मे इस प्रकार कही गई है कि जिन्हे पुरुष कहते है, वस्तुत वे स्त्रिया है। 'साख्यदर्शन' मे इस द्वन्द्व को गुण-क्षोभ कहा गया है। जैनेन्द्र भी स्वीकार करते है कि 'हरेक मे स्त्री-पुरुषत्व दोनो रहते है'''नितान्त स्त्री और नितान्त पुरुष व्यक्तित्व पाता ही नही।'[1] उन्होने स्त्री-पुरुष के विशुद्ध पार्थक्य को स्वीकार नही किया है, ऐसी स्थिति मे स्त्री-पुरुष के मिलन मे लिगत्व-भेद को मिटाकर अतीन्द्रियता की प्राप्ति की कामना विद्यमान रहती है। जैनेन्द्र के कतिपय आलोचक, जिनकी उपरोक्त लिगहीन विचारधारा को नपुसकता का द्योतक बताते है।[2] जैनेन्द्र के साहित्य मे लिगहीनता को सामान्य अर्थो मे नही ग्रहण किया गया है। उनके साहित्य मे लिगहीनता एक प्रतीतिमात्र है। उस प्रतीति को नपुसकता से जोडना सगत नही है। उनकी दृष्टि मे लिगहीनता की प्रतीति शरीर पर ध्यान केन्द्रित रखते हुए नही हो सकती। उसके लिए व्यक्ति की आत्मोन्मुखता अनिवार्य है। 'जयवर्द्धन' मे काम द्वारा अकाम की ओर उन्मुखता के दर्शन होते है। जय के विचारो से स्पष्टत ज्ञात होता है कि 'कामचेष्टा के अभयन्तर मे जो अनिवार्य, आकुल आत्मचेष्टा है, वही उसका सार और रहस्य है।' काम के क्षय के लिए जय आत्मोन्मुखता को अनिवार्य मानता है। उनकी दृष्टि मे आत्मा मे होकर पुरुष पुरुषातीत भी हो जाता है। उस अवस्था मे वह स्त्री से भिन्न नही रहता है। आत्मा मे लिगत्व नही है। भेद नही है, 'स्व' पर भेद

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ६२८।

२ जैनेन्द्र कुमार प्रतिनिधि कहानिया, स० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० ३७१।

तक नही है ।[१] वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषातीत अवस्था मे पुरुष मे स्त्रीत्व स्वय गर्भित हो जाता है और यही स्थिति स्त्री मे भी होती है। इस प्रकार जैनेन्द्र की दृष्टि मे लिगहीनता नपुसकता की पर्याय नही प्रतीत होती है। जैनेन्द्र ने लिगहीनता को व्यक्तित्व की समग्रता के अर्थ मे ग्रहण किया है। उन्होने महत् आदर्श को लिग की उभयता के पार देखने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे यह आदर्श असामाजिक और अप्राकृतिक न होकर अत्यन्त ही व्यावहारिक है। प्रत्येक स्थिति मे अपने पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व के प्रदर्शन मे से व्यक्तित्व का छिछलापन ही प्रकट होता है। जैनेन्द्र की कहानियो मे अधिकाशत यही स्थित दृष्टिगत होती है, जब कि उनके पात्र समर्पण द्वारा नितान्त अह-शून्य हो जाते है और उन्हे अपने स्त्रीत्व अथवा पौरुष का ही बोध नही रहता। वे कालखण्ड से ऊपर, भौतिक द्वैत से परे अद्वैत की अनुभूति करते है। वस्तुत स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे कामभावना स्वत ही तिरोहित हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'काम' अकेलेपन को खोने की औषधि के रूप मे आता है और रोग वह नही है...। काम मे प्रेम द्वारा द्वैत को अभेदत्व की ओर उन्मुखता प्राप्त होती है ।[२]

नैतिकता

जीवन मे काम को अस्वीकार करके ब्रह्मचर्य की साधना करना भी व्यक्ति का धर्म तथा अहकार है। सत्य की शक्ति के कारण ही मन का झूठ पराजित हो जाता है और व्यक्ति को टूटना पडता है। 'अकेला' शीर्षक कहानी मे साधु ब्रह्मचर्य की कामना करने वाला व्यक्ति स्वय को धोखा नही दे पाता है और कहता है, 'अकेला मैं नही रह सकता, प्रिये ! अकेला रहना मेरे लिए अधर्म है।' जैनेन्द्र के अनुसार झूठ के डडे पर चढकर समाज मे ऊचा उठने से अच्छा है, मन के सत्य को स्वीकार करके स्वय को समर्पित कर देना, क्योकि सत्य बाह्य आचरण मे ही नही, अन्तस् और बाह्य की समग्रता मे ही सम्भव है।

जैनेन्द्र की कतिपय कहानियो पर असामाजिकता और अनैतिकता का दोषारोपण किया जाता है इस दृष्टि से उनकी 'वि-ज्ञान' कहानी विशेष रूप से चर्चित रही है। यह कहानी साहित्य-जगत् मे अत्यधिक वाद-विवाद का विषय रही है। 'वि-ज्ञान' मे स्थूलत. ऐसा प्रतीत होता है, मानो लेखक ऐसी काल-

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० ३२४।

२. लव मेक्स वन आफ टू 'वृट्ज विटेल्स क्रिटिक आफ लव,' प्र० स०, लन्दन, १९३०, पृ० २५६।

गर्ल्स तैयार करने के पक्ष मे है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थ हो सकती है। इस प्रकार जैनेन्द्र पर सामाजिक मर्यादाओ को भग करने तथा भ्रष्टाचार को बढाने वाली सस्थाओ को प्रोत्साहित करने का आरोपण लगाया जाता है। इस दृष्टि से तो जैनेन्द्र के सम्बन्ध मे हमारी पूर्वोक्त सारी परिकल्पना उल्टी होने लगती है। क्योकि 'वि-ज्ञान' कहानी मे नारी की पीडा को मूल मे न लेकर उसके शरीर को ही मुख्याधार बनाया गया है। शरीर की साधना मे मन अपने को पूर्णत तटस्थ रखता है। किन्तु क्या तन और मन कभी अलग हो सकते है? तन और मन के द्वैत के कारण ही काम और प्रेम की समस्या उत्पन्न होती है। यदि शरीर और मन एक-दूसरे के पूरक रहे तो अतत प्रेम ही विजयी होगा। तन उस पर हावी नही हो सकेगा। 'विज्ञान' मे मन के ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। किन्तु सच्ची ब्रह्मचर्य-साधना एक को ग्रहण करने और दूसरे को त्यागने मे पूर्ण नही हो सकती। इस प्रकार समाज मे व्यभिचार फैलने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए शून्य ब्रह्मचर्य साधना व्यक्तित्व की क्षतिग्रस्तता की ही परिचायक है। इस दृष्टि से काल-गर्ल्स की शरीर-साधना अतत कोई महत्व नही रखती।

यह सत्य है कि प्राचीनकाल से ही नारी अपने रूपाकर्षण द्वारा राष्ट्र-सेवा के हेतु प्रस्तुत रही है। रामायणकालीन मधुर भाषिणी वेश्याए प्राय सेना के साथ रहती थी, वही प्राय दूती का कार्य भी करती थी, किन्तु उस समय भी स्त्री के शरीर की ऐसी नाप-जोख भी होती थी, जैसी कि वैज्ञानिक वृति के प्रभाव के कारण 'वि-ज्ञान' कहानी मे दृष्टिगत होती है। प्रभावहीन काम की कल्पना अप्राकृतिक है। कालगर्ल्स के लिए जिस ब्रह्मचर्य की कल्पना की गई है, वह अत्यधिक दुष्कर है। स्त्री निरी वस्तु नही बन सकती, क्योकि उसके पास केवल शरीर ही नही है, हृदय भी है। यह सम्भव हो सकता है कि वह आत्मा की पिपासा को शान्त करने के लिए स्वय को किसी के समक्ष सर्मपित कर दे।

उपरोक्त विवेचन मे 'वि-ज्ञान' कहानी के मूल मे निहित स्त्री की ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की योजना की निस्सारता ही मुखरित होती है और अन्त मे कहानी मे सेक्रेटरी द्वारा सत्य प्रकट हुए बिना नही रह पाता, क्योकि उसकी दृष्टि मे स्त्री केवल प्रयोजनवती ही नही होती, उसकी अर्थवत्ता प्रयोजन से परे है। सैक्रेटरी श्री एक्स० की ओर इगित करते हुए कहता है कि—'क्या आपके जीवन मे स्त्री प्रयोजन से अधिक बढकर कोई आई ही नही?' इस प्रश्न के उत्तर मे श्री एक्स का यह कथन कि 'धन्यवाद, तुम जा सकते हो। क्योकि मे भी इस बारे मे चुप रहूंगा। अतीत को काटकर मैं

अपने से अलग फेक चुका हू।'[1] ...'उनकी झुझलाहट तथा अपने ऊपर डाले गए अप्राकृतिक दबाव की ओर इगित करता है। इससे स्पष्ट है कि उनकी प्रक्रिया सहज न होकर उनके रुग्ण मन की ही परिचायक है।

वस्तुत जैनेन्द्र की 'वि-ज्ञान' कहानी मे रुग्ण मानसिकता ही दृष्टिगत होती है। जितनी वैज्ञानिक वृत्ति दृष्टिगत होती है, उसमे प्रतिक्रिया ही है, सत्य नही है। इस कहानी मे प्रकृत मनुष्य क्षतिग्रस्त होता है, जो क्षतिग्रस्त है, वह निश्चय ही पूर्ण नही है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे विज्ञान और वैज्ञानिक वृत्ति अपने मे परिपूर्ण नही है। उसमे सवेदना और मनुष्यता के सस्पर्श की आवश्यकता बनी ही रहती है। यही कारण है कि अन्त मे ब्रह्मचर्य का ढोग टूटता है और सत्य प्रकट हो जाता है।[2] वस्तुत जैनेन्द्र ने काम की चर्चा करते हुए उसके मूल मे स्नेह की स्निग्धता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। 'विज्ञान' कहानी मे लेखक के विचार कहानी की घटनाओ मे नही प्राप्त होते है। लेखक की दृष्टि कहानी से तटस्थ होकर देखने पर ही प्राप्त होती है। वस्तुत जैनेन्द्र पर अनैतिकता अथवा असामाजिकता के प्रसार का आरोपण मिथ्या प्रतीत होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे सत्य पर ही नैतिकता का मानदण्ड निर्धारित किया जा सकता है। झूठ मे ही पाप पलता है।

जैनेन्द्र ने अपने एक नवीनतम निबन्ध 'कला और अश्लीलता' मे सत्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि सत्य को सस्कृति की मर्यादा मे ही विवेचित किया जा सकता है। उनके अनुसार सत्य प्रकृति तक ही नहीं है, सस्कृति मे भी व्याप्त है। 'सस्कृति' शब्द मे प्रकृति का ज्यो-का त्यो स्वीकार नही है, बल्कि उसके सस्कार की अनिवार्यता का भी सकेत है।[3] जैनेन्द्र के साहित्य ने सत्य का नग्न प्रदर्शन वही तक स्वीकार है, जहा तक कि उसमे असत्य अथवा मिथ्याचार का मिश्रण नही हैं। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के सत्य और कला के सत्य मे अन्तर है। समाज मे जो मर्यादा होनी चाहिए वह कला मे उसी रूप मे उपयुक्त नही की जा सकती। उसमे बन्धन ढीला करना कला की दृष्टि से अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने 'धर्माभिमुख कला को ही छूट

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', प्र० स०, भाग ६, पृ० स० ११२।
२ उपरोक्त विचार जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त हुए। उनके विचारो से यह स्पष्ट होता है कि वे 'वि-ज्ञान' कहानी मे नारी शरीर को लेकर अभिव्यक्त वैज्ञानिक-वृत्ति के पक्ष मे नही हैं।
३ जैनेन्द्रकुमार 'कला और अश्लीलता,' (प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दुस्तान), ८ नवम्बर १९७० ई०, पृ० स० ७।

की अधिकारणी माना है।'[1] उनके अनुसार दिगम्बरत्व का आदर्श भी धर्मोन्मुख होने के कारण ही स्वीकार्य हो पाता है। वस्तुत जैनेन्द्र कला के धर्म-युक्त रूप को स्वीकार करते है, किन्तु सत्य यह है कि धर्म की ओट मे ही समाज मे नाना व्यभिचार होते रहते है। धार्मिक मठो के अधिष्ठाता, धर्मगुरु आदि धर्म के नाम पर समाज के वातावरण को दूषित करने मे सहायक होते है। अतएव कला की धर्मोन्मुखता मे पवित्रता की भावना होना निश्चित नही है। धर्म से विमुख होकर कोई रचना कर सकता है, ऐसी स्थिति मे समाज द्वारा कलाकार की स्वतन्त्रता पर दबाव नही डाला जा सकता, किन्तु कलाकार की अमुक कृति को अमान्य ठहराया जा सकता है।[2] इस प्रकार जैनेन्द्र कलाकार की स्वतन्त्रता को स्थायी रखते हुए भी समाज की मर्यादा की रक्षा पर विशेष बल देते है। समाज के नैतिक स्वास्थ्य की रक्षा के हेतु वे कवि अथवा लेखक की रचना की महता का स्वरूप निर्णय समाज पर ही छोड देते है।

जैनेन्द्र की नैतिकता का मानदण्ड बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। सामान्यत नैतिकता को स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे सीमित रखा जाता है।[3] किन्तु जैनेन्द्र इस रूढि से आगे बढ कर नैतिकता को जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि मे पारिवारिक नैतिकता व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है। सामाजिक और राष्ट्रीय नैतिकता ही व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होती है। मर्यादा के घेरे मे आबद्ध व्यक्ति 'पर' की ओर उन्मुख नही हो पाता। 'अनन्तर' मे एक स्थान पर सकेत किया गया है कि समाज मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को बहुत ही भयावह बना दिया है। 'अनन्तर' मे स्त्री के समग्र समर्पण से भयभीत 'प्रसाद' का मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण बहुत ही स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया गया है। सहज और अनायास रूप से सम्पन्न कार्य को अनैतिक नही कहा जा सकता। 'अनन्तर' मे अपरा की सहजता के समक्ष प्रसाद का असहज होना ही उसके मन की दुर्बलता की ओर सकेत करता है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'कला और अश्लीलता', पृ० स० ७।

२ जैनेन्द्रकुमार · 'कला और अश्लीलता', पृ० स० ७।

(क) 'स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध वह नही है, जिस पर नीति या धर्म को खडा होना चाहिए।'

जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ५, पृ० स० ४२।

(ख) 'आदमी आदमी के बीच जिसने शका पैदा कर दी है, उसे, नैतिकता कहते है।' —जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ६१।

जैनेन्द्र के अनुसार हमारी नैतिक मान्यताए व्यक्ति के स्वास्थ्य से अधिक समाज की व्यवस्था पर आधारित है। किन्तु इस प्रकार व्यभिचार दूर होने के स्थान पर और भी पुष्ट होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे अनैतिकता का मूल कारण प्रेम के निषेध मे ही फलित होता है। प्रेम का अविश्वास करने और उसके प्रकट सचरण के मार्ग मे अवरोध लाने के कारण ही समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसीलिए वे स्वीकार करते है कि—'हमारी नैतिक धारणाए साहस और श्रद्धा के स्पर्श से ज्वलन्त हो और केवल वे समाज व्यवस्था की चिन्ता से त्रस्त, भीत और कातर न हो।'[1] उनकी दृष्टि मे वह सब आचार व्यभिचार है, जो हार्दिक नही है और जिसमे भय सचय है। वस्तुत जैनेन्द्र उस आचरण को ही नैतिक मानते है, जिसमे व्यक्ति की उपेक्षा की जाती है तथा अर्थ और पदलोलुपता ही प्रधान होती है।

वेश्यावृत्ति

सामान्यत वेश्या बनी नारी को कामुकता की प्रतिमा माना जाता है, मानो स्त्री स्वेच्छा से ही यह कलक अपने ललाट पर लगाती है। यदि 'वेश्या' शब्द तक ही सीमित रहता तो वह व्यक्तिगत समझा भी जा सकता था, किन्तु साथ जुड़े हुए 'वृत्ति' शब्द से वेश्यावृत्ति की सामाजिकता का बोध होता है। जैनेन्द्र वेश्यावृत्ति के मूल मे स्त्री को दोषी न मानकर पुरुष को ही दोषी स्वीकार करते है। पुरुषो मे भी वेश्या की ओर तभी उन्मुखता हुई है, जब कि उनके पास अर्थ विद्यमान रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार सृष्टि के आरभ मे नर और नारी दो ही थे। समाज मे वेश्या को स्थान तो अर्थवृद्धि होने पर ही आरम्भ हुआ था।[2] वे वेश्यावृत्ति के मूल मे अर्थासक्ति को साध्य तथा कामवृत्ति को साधन के रूप मे स्वीकार करते है। जैनेन्द्र ने समाज मे फैली हुई ऐसी वेश्या-सस्थाओ पर प्रकाश डाला है, जिनके सस्थापको को भोगवृत्ति के प्रति अनिच्छा होती है, किन्तु सस्था के द्वारा अधिक-से-अधिक धनोपार्जन की ओर उनकी दृष्टि केन्द्रित रहती है। इस प्रकार समाज से वेश्यावृत्ति का

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', (अप्रकाशित)

२. 'वेश्या पैसे के आरम्भ से पहले हो ही नही सकती···उजरत और कीमत देकर जब भोग के लिए नारी को प्राप्त करते है, तभी तो उसे वेश्या कहते है। कीमत पैसे के रूप मे चुकाने की विधि ही न हो, तो वेश्या की स्थिति नही बन सकती।'

जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम,' पृ० स० ३४५।

उन्मूलन बहुत कठिन प्रतीत होता है ।[1] जैनेन्द्र के अनुसार—'वेश्या वह नही है जो अनेक को प्रेम करती है । वेश्या वह है, जो पैसे के एवज-मे अपने को देती है ।'[2] इन शब्दो द्वारा जैनेन्द्र ने वेश्या सम्बन्धी गम्भीर सत्य की ओर इगित किया है । सामान्यत वेश्या को अनेक पुरुषो से सम्बन्ध स्थापित करने के कारण ही हेय माना जाता है । किन्तु वेश्यावृत्ति के मूल मे निहित नारी की विवशता की ओर हमारा ध्यान नही जाता । वह अर्थ के लिए अपने को देती है । वेश्यावृत्ति के सदर्भ मे चर्चा करते हुए ज्ञात होता है कि पुरुष की कामुकता ही नारी को विवश बनाती है । जैनेन्द्र वेश्या को किसी भी शर्त पर अमान्य नही मानते । उनकी दृष्टि मे यदि समाज वेश्या को हेय मानता है तो वैश्य क्यो सम्मानीय हो सकता है ? वैश्य की अर्थलोलुपता वेश्या से कही अधिक घातक है । क्योकि वेश्यावृत्ति का स्वरूप तो समाज मे प्रकट है, किन्तु वैश्य तो सामाजिक दृष्टि से सम्मानीय बनकर समाज के शरीर मे झूठ, चोरी और बेईमानी का घातक विष फैलाता है ।[3] वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे वेश्यावृत्ति की जड मे शुद्ध अर्थासक्ति विद्यमान रहती है ।

वेश्यावृत्ति पूजीवादी नीति का ही परिणाम है । भारत मे ही नही, ग्रीक, बेबीलोन तथा रोम मे यह वृत्ति प्राचीनकाल से चली आ रही है । श्री आर्नर के अनुसार वेश्यावृति का मुख्य कारण समाज मे व्याप्त गरीबी है ।'[4] उनके अनुसार पति भी पत्नी को बहुकेन्द्रित होने के लिए विवश कर देते है । जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे वेश्यावृत्ति का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है, उसके मूल मे गरीबी ही विद्यमान है । निर्धनता के कारण वेश्या बनी नारी समाज से तिरस्कृत होकर अपने पति की आर्थिक सहायता करती है । 'अधे का भेद' शीर्षक कहानी मे अधा भिखारी गली-गली गाकर भीख मागता है और उसकी पत्नी परिवार से दूर समाज के कीचड मे पडी गृहस्थी को चलाने

---

१ 'लेकिन अर्थ-व्यापार के विचार से अलग वेश्या के प्रश्न का विचार पल्लवग्राही होगा, यथा मूलग्राही नही होगा, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ३४७ ।

२ जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम,' पृ० स० ३५१ ।

३ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचारो पर आधारित ।

४ 'पावरटी इज वन आफ द मेन रीजन ह्वाई सो मेनी गर्ल्स एण्ड वीमेन बीकेम प्रास्टीच्यट्' आर्नर 'एलिमेण्ट्स आफ सोशलिज्म', न्यूयार्क ।

के लिए धनोपार्जन करती है। वह अपने हाथो से अपने पति की आखे फोड देती है, जिससे वह उसके कुकर्मों को देखकर दुखी न हो। उसकी आत्मा पतित नही होती। किन्तु बाह्य रूप मे वह जो कुछ भी करती है, किसी तरह ही सहन करती है। जैनेन्द्र ने अपनी इस कहानी मे वेश्या नारी का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह मर्मातिमर्म को छू लेता है। वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे वेश्या समाज-उपेक्षिता बनकर भी सहानुभूति की प्राथिनी बनी रहती है। 'बिखरी' कहानी मे पत्नी निर्धनता के कारण स्वय को ऐसी सस्था से सम्बद्ध कर देती है, जिसका लक्ष्य उसके माध्यम से अर्थोपार्जन करना है। 'त्यागपत्र' मे मृणाल सामाजिक मर्यादा की सुरक्षा के हेतु स्वय को समाज के उस उपेक्षित स्थान मे ले जाती है, जहा मानव जीवन की समस्त सवेदना तथा पारस्परिक सहानुभूति पूर्णत समाप्त हो जाती है। नारी केवल जडपदार्थ के रूप मे उप-भोग्य बन जाती है। 'त्यागपत्र' मे मृणाल निर्धनता के कारण भी समाज के उस दलित स्थल को स्वीकार नही करती, वरन् स्वय को समाज से दूर रखकर समाज की व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करती है। वस्तुत जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे नारी अधिकाशत· अर्थासक्ति के कारण ही वेश्यावृत्ति स्वीकार करती है। जैनेन्द्र अतत वेश्यावृत्ति के उन्मूलन का कोई निदान प्रस्तुत करने मे समर्थ नही हो सकेगे। 'त्यागपत्र' की समस्या इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तुत जैनेन्द्र सुधार के पक्ष मे नही प्रतीत होते। उनकी दृष्टि मे सामाजिक-सुधार के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की मनोवृत्ति मे सुधार किया जाय।

समाज में स्त्री का स्थान

जैनेन्द्र के साहित्य मे जहा स्त्री-पुरुष को उनके प्रकृत अर्थात् निर्वयक्तिक रूप मे स्वीकार किया गया है, वहा जैनेन्द्र के विचारो की मौलिकता तथा नवीनता स्पष्टत दृष्टिगत होती है। किन्तु नारी को व्यक्तित्व प्रदान करते हुए उन्होने उसके स्वरूप को राजनीति, समाज, परिवार आदि विभिन्न परि-प्रेक्ष्यो मे विभिन्न रूपो मे देखा है।

जैनेन्द्र के साहित्य का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि उनके नारी पात्र अत्यन्त स्वतन्त्र विचारो के हैं। उनमे भारतीय सस्कृति और मर्यादा की चेतना नही है, किन्तु सत्यता यह है कि जैनेन्द्र के पात्र भूत का स्पर्श करते हुए भी वर्तमान मे जीते है। अपनी सस्कृति की वे कभी भी उपेक्षा नही करते। भौतिकता के युग मे सामान्यत. स्त्री-पुरुष मे होड लगी हुई है। स्त्री पुरुष से आगे बढने के लिए तत्पर है किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री की पुरुष से

प्रतिस्पर्द्धा उचित नही है ।[१] उनकी दृष्टि मे स्त्रियो के नौकरी करने का लक्ष्य स्वतन्त्रता और नौकरशाही का न होकर सहयोग का होना चाहिए । जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री पुरुष की होड मे आगे नही बढ सकती, वरन् इस प्रकार लड-खडा सकती है कि उसकी प्रगति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाय । जैनेन्द्र के उपन्यासो और कहानियो मे स्त्री पात्रो मे विवाह के घेरे से बाहर उन्मुक्त रूप-से सास लेने की कामना है, किन्तु सार्वजनिक क्षेत्रो मे वे पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष मे नही है । 'सुखदा' मे सुखदा घर से बाहर निकलने पर स्वय मे एक हीनता का अनुभव करती है । उसे ऐसा प्रतीत होता है कि घर से बाहर राजनीति मे आकर उसने अपनी मर्यादा को भग किया है । जैनेन्द्र के नारी पात्र सार्वजनिक क्षेत्रो मे एक कुण्ठा लिए हुए ही अवतरित होते है । उनके मन की ग्रन्थि ही उन्हे राजनीति मे प्रवेश करने को विवश करती है ।

जैनेन्द्र ने सामाजिक सन्दर्भ मे अति स्वातन्त्र्य का विरोध किया है, किन्तु पारिवारिक स्तर पर पत्नी की दासता का निषेध किया है । 'सुखदा', 'सुनीता,' 'विवर्त' आदि उपन्यास उनका यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है । 'कल्याणी' तथा 'सुखदा' मे उन्होने स्पष्टत स्वीकार किया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति नही है । पूजीवादी विचारक जड पदार्थ के रूप मे ही स्वीकार करते है । उनके अनुसार अन्य भौतिक पदार्थों के सदृश स्त्री की भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है । जैनेन्द्र के साहित्य मे स्त्री-स्वातन्त्र्य की कामना क्रान्ति-कारी रूप मे व्यक्त हुई है, किन्तु समाज की मर्यादा से बधी नारी कभी भी सामाजिक सीमा का उल्लघन नही कर पाती । जैनेन्द्र के उपन्यासो मे स्वतन्त्रता का जो रूप दृष्टिगत होता है, वह केवल प्रेम के सम्बन्ध मे व्यक्त हुआ है । प्रेम से इतर जीवन सभी दृष्टियो से मर्यादित है । 'त्यागपत्र', 'परख' आदि मे जीवन का जो आदर्श व्यक्त हुआ है, वह सामाजिक मर्यादा का पोषक ही है । जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री का राजनीति मे प्रवेश उचित नही है । उनकी दृष्टि मे स्त्री-प्रेम और प्रेरणा की मूर्ति है, प्रेम शक्ति है । प्रेमिका बनकर वह पुरुष को प्रगति की ओर अग्रसर करती है । 'मुक्तिबोध' मे उन्होने राजनीति मे प्रवेश

---

१ 'स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता की चाह को उचित नही मानता । स्त्री पुरुष के भी स्नेह-भावना की जगह हिसाबी बुद्धि आ जाय तो जीवन लाभ की दृष्टि से उसमे कोई उन्नति नही कह सकूगा...।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और समाधान', (अप्रकाशित) ।

करने वाली स्त्री को अभागिन तक कहा है।[१] स्त्री का राजनीति मे प्रवेश वही तक स्वीकार है, जहा तक कि वह पति अथवा प्रेमी की प्रेरणा स्रोत बनी रहती है। 'निर्मम' मे प्रेम के वशीभूत हुई नारी अपने समर्पण से शिवा के प्रति अपने प्रेम को स्थायित्व प्रदान करती है। 'ध्रुव-यात्रा' मे लेखक ने प्रेम और कर्त्तव्य का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया है। प्रेमिका प्रेमी को गृहस्थी के बन्धनो मे बाधकर उसकी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध नही करती। वरन् स्वय कष्ट झेलते हुए आगे बढने का सदुपदेश देती है।[२] पुरुष के जीवन मे कुछ महत्वाकाक्षाए होती है। स्त्री उनकी पूर्ति मे सहायक होती है। 'मुक्तिबोध' मे नीलिमा कहती है—'आदमी सपने के लिए जीता है और औरत उस सपने के आदमी के लिए जीती है।'[३] 'जयवर्धन' मे इला प्रतिक्षण जय के साथ रहती हुई भी राजनीतिक परिवेश मे उसके साथ कदम मिलाकर नही चलती, वह जय के साथ रहती है, परन्तु अन्तर्निहित हार्दिकता अथवा आत्मता की भाति ही, उसका बाह्य और सक्रिय रूप तो जय स्वय होता है। जैनेन्द्र की अर्ध नारीश्वर की भावना भी स्त्री पुरुष के इस अन्तर्निष्ठ और बहिर्निष्ठ व्यक्तित्व मे सदा ही समाहित हो जाती है।

जैनेन्द्र ने स्त्री के मातृत्व रूप को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है। प्रेमिका होने के साथ ही साथ वह माता भी है। दोनो भागो से वह प्रेम और स्नेह की वृष्टि करती है। आधुनिक सभ्यता मे आर्थिक विवशता के कारण माता घर से बाहर कमाने के हेतु जाती है। इस प्रकार वह अपने मातृत्व के कर्त्तव्य को पूर्ण नही कर पाती। यही कारण है कि जैनेन्द्र स्त्री का घर से बाहर आर्थिक क्षेत्र मे पुरुष की सहगामिनी के रूप मे आना उचित नही मानते।[४] उनकी दृष्टि

१ (क) 'अभागिन है वह स्त्री जो स्त्री है और राजनीति मे आती है या उसका विचार भी करती है।' —जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ९२।

(ख) 'राजनीति स्त्रियो के लिए नही है।' —जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० २७५।

२ 'मेरी और बच्चो की चिन्ता जरूर तुम्हारा काम नही है। मैने कितनी बार तुमसे कहा कि तुम उससे ज्यादा के लिए हो।' —जैनेन्द्रकुमार 'ध्रुवयात्रा', पृ० स० ९४।

३ जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ९३।

४ 'मै नही चाहूगा कि माता कमाने के लिए दफ्तर मे जाय और धाय काम करने के लिए बच्चो को अपना दूध पिलाने आय।' —जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० १५१।

में 'स्त्री की सार्थकता मातृत्व है। मातृत्व दायित्व है। वह स्वतन्त्रता नहीं है। स्त्री निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है, तो उसके मूल में यही अभिलाषा है कि माता बनने से वह बची रहे और पुरुष के प्रति उसका प्रेयसी रूप ही प्रतिष्ठित रहे।'[1] वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में स्त्री मातृत्व से बचकर स्वयं में अपूर्ण रहती है। जैनेन्द्र की कहानियों में मातृत्व की प्रबल आकांक्षा दृष्टिगत होती है। पति का अतिशय प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करके भी नारी स्वयं में अभावग्रस्त रहती है। मातृत्व में ही उसकी पूर्ति निहित है, जो कोरे प्यार में उपलब्ध नहीं हो पाती। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' और 'मास्टर जी' में नारी की विक्षुब्धता वात्सल्य भाव की पूर्ति के अभाव के कारण ही प्रकट हुई है। मातृत्व के साथ ही जैनेन्द्र की कहानियों में वात्सल्य भाव की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से उनकी कई कहानियों—'फोटोग्राफी', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने व्यक्ति और समाज के विविध पक्षों को साहित्य में अपने विचारों और आदर्शों की छाया में विवेचित किया है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार : 'कल्याणी', पृ० ७१।

परिच्छेद—७

जैनेन्द्र और व्यक्ति

जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति

जैनेन्द्र-साहित्य मानव-जीवन और व्यक्ति की समस्याओ का अमित भडार है। मानव विराट् अखण्ड ब्रह्म का अश है। अह ब्रह्म का अश रूप है। अह का साकार प्रतिनिधित्व, व्यक्ति के द्वारा ही होता है, क्योकि अह भावना है, उसका आधेय व्यक्ति ही है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु ईश्वर का अस्तित्व भी जीव के द्वारा ही चरितार्थ होता है। व्यक्ति है, अतएव उसमे अपने अखण्ड रूप को जानने की जिज्ञासा भी अनिवार्य है। व्यक्ति अपूर्ण है, ब्रह्म पूर्ण और अखण्ड है। व्यक्ति को केन्द्र मे स्थित करके ही जीवन की बहुमुखी धारा विकसित होती है। जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य व्यक्ति की व्यथा से आपूर्ण है। व्यक्ति की आत्मा मे झाककर उसके आत्मस्थ सत्यो का उद्घाटन तथा अन्त बहिर्द्वन्द्व से उत्पन्न विषम परिस्थितियो को चित्रित करना ही उन्हे श्रेयकर रहा है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति ही वह आधार-बिन्दु है, जिसपर समस्त जीवन की भीति आरूढ है। जो समष्टि मे है, वही व्यष्टि मे है। अतएव जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यष्टि द्वारा समष्टि की अर्थात् समस्त मानव जाति के सान्निध्य की प्राप्ति का प्रयास दृष्टिगत होता है।

जैनेन्द्र व्यक्तिवादी साहित्यकार है। जैनेन्द्र से पूर्व प्रेमचन्द के उपन्यास समाज की समस्याओ को ही आधार बनाकर लिखे गए है। व्यक्ति और व्यक्ति-जीवन के द्वन्द्वो की ओर उन्होने विशेष ध्यान नही दिया। उनके उपन्यासो मे व्यक्ति की अपेक्षा घटना का प्राधान्य था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मनो-

विज्ञान के विकास के साथ-साथ व्यक्ति का महत्व बढता गया । मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के आन्तरिक सघर्ष को समझने की चेष्टा की गई है । व्यक्ति का बाह्यरूप ही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक नही है । जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे व्यक्ति के समग्र रूप की अभिव्यजना की है । अचेतन मन अथवा अन्तर्निष्ठ चेतना, व्यक्ति के समस्त व्यवहारो की नियामक है । जैनेन्द्र के अनुसार अचेतन मन व्यक्ति की कुत्साओ और जुगुप्साओ का केन्द्र न होकर, उसकी अभीप्साओ का स्रोत है । जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति के अन्तर्तम सत्यो की स्पष्टतम अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है । उनके साहित्य मे व्यक्ति जीवन का वही रूप दृष्टिगत होता है, जैसा कि हम व्यावहारिक जीवन मे देखते और विचार करते है । व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति सत्यता पर आवरण डालकर अपने हृदय रूप को ही व्यक्त करता है, जिससे उसका वास्तविक रूप प्रकट नही हो पाता । साहित्य का कार्य व्यक्ति की अन्तर्निहित सत्यता का उद्घाटन करना है । व्यक्ति समाज मे अपने गुण-दोष मे व्यक्तित्व को प्रकट करने मे सकोच करता है । वह अपने आचरणो को बहुत ही सशोधित तथा आदर्श रूप मे व्यक्त करता है । किन्तु व्यक्ति का जीवन निर्दोष नही है । वह सद्-असद् गुणो का मिश्रण है । जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति मे राग, द्वेष, प्रेम और घृणा आदि मानवीय भावनाओ का होना स्वाभाविक ही है । उनके साहित्य मे अभिव्यक्त, व्यक्ति न देवता है और न ही पशु है । वह तो निरा व्यक्ति है । व्यक्ति का आदर्श पशुत्व से उठकर देवत्व की प्राप्ति की ओर उन्मुख होना है। व्यक्ति के सम्बन्ध मे जैनेन्द्र की दृष्टि नितान्त अछूती और सहजता की परिचायक है। उनकी दृष्टि मे व्यक्ति सदैव उर्ध्वता की ओर उन्मुख है । वह न तो आदर्श की सीमा मे आबद्ध होकर जडित और चेतन शून्य है और न ही पाशविक प्रवृत्तियो से युक्त दानव है । मनुष्य देवता और दानव के बीच की स्थिति है ।

जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति के स्वरूप समाज मे उसके अस्तित्व, तथा उसकी अतर्निष्ठ भावनाओ का पूर्ण प्रकाशन दृष्टिगत होता है । जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति के यथार्थ जीवन का बिम्ब ही नही प्रस्तुत किया गया है, वरन् उनमे व्यक्ति के आदर्शमय जीवन की सम्भावनाओ की ओर भी लक्ष्य किया गया है । उनके साहित्य मे व्यक्ति यथार्थ और आदर्श की पूर्ण इकाई है । जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ जगत के व्यक्ति है, पुराण पुरुष नही है । उनकी जिन कहानियो का विषय पौराणिक है, उनमे भी मानवीय भावो और कृत्यो का उद्घाटन किया गया है । अहनिष्ठ देवत्व मे आत्मसमर्पण के भावो की प्रेरणा जाग्रत की गई है । उनकी दृष्टि मे मनुष्य देवताओ से भी ऊपर है, क्योकि उसकी सम्भावनाए अनन्त है । आत्मदास द्वारा वह स्वर्ग के राज्य को भी तुच्छ सिद्ध कर सकता

है। जैनेन्द्र के पात्रो की अतिशय सहजता पाठक के भावो और विचारो के साथ साधारणीकरण करने मे समर्थ होती है। प्रेमचन्द के पात्रो का जीवन आदर्श की सीमा मे आबद्ध है। उनके व्यक्ति पात्र निर्दिष्ट आदर्शों का ही अनुसरण करते है। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' मे तुलसीदास कभी यह नही भूल पाते कि-'राम भगवान है' उसी प्रकार प्रेमचन्द के पात्र भी अपने आदर्शों की लक्ष्मण-रेखा पार करने का साहस नही करते, यदि उनसे कभी ऐसी त्रुटि हो जाती है तो वे आत्महत्या करके अथवा शहीद होकर प्रायश्चित के लिए तत्पर रहते हैं। मानव जीवन निरे आदर्शो की निश्चेष्ट प्रतिमूर्ति नही है। यथार्थता से हटकर बनने वाला आदर्श नितान्त अप्राकृतिक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र आदर्श के लोभ मे व्यक्ति-जीवन की सम्भावनाओ का दमन नही करते और न ही पूर्व नियोजित आदर्शो की सीमा मे परिबद्ध होकर उनके व्यक्ति पात्र जीवन की सहजता और यथार्थता का निषेध ही करते हैं। प्रेमचन्द के पात्रो का आदर्श महत्वपूर्ण होता है। किन्तु उनकी महत्ता मानव जीवन के अन्त द्वन्द्व का समाधान नही प्रस्तुत करती। साहित्य का उदेश्य आदर्श की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु आदर्श की प्राप्ति यथार्थ की भूमि पर ही सम्भव हो सकती है। प्रेमचन्द ने समाज की विभिन्न समस्याओ पर प्रकाश डाला है। उनका लक्ष्य व्यक्ति के बहिर्जगत को रूपायित करना है, जैनेन्द्र का आदर्श अन्त जगत से सम्बद्ध है।

व्यक्तिवादी जैनेन्द्र

जैनेन्द्र व्यक्तिवादी उपन्यासकार है, किन्तु उनकी व्यक्तिवादिता हठवाद को प्रश्रय नही देती। वे व्यक्ति के हितार्थ समाज का अहित नही सहन कर सकते। वृहद्तर स्वार्थ के हेतु लघुतर हित का त्याग (समर्पण) ही उनके साहित्य का परम आदर्श है। उनका व्यक्ति अहनिष्ठ अथवा अहकारी नही है। उनके अन्तस् मे स्वत्व के समर्पण का भाव निहित है। वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यष्टि की स्वीकृति द्वारा समष्टि की उपेक्षा नही की गयी है, वरन् व्यष्टि द्वारा समष्टि की ओर उन्मुख होने की चेष्टा सतत् दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र की व्यक्तिवादी दृष्टि साहित्य मे प्रचलित पूजीवादी व्यक्तिवाद से नितान्त भिन्न है। सन् १८५० के बाद से हिन्दी मे एक महान् परिवर्तन होने लगा था। प्रथम महायुद्ध के बाद परिवर्तन का एक दौर पूरा हो गया। उस युग मे देश की आर्थिक परिस्थितियो के कारण जो विद्रोह उत्पन्न हुआ वह धर्म, दर्शन, समाज, नीति और राजनीति आदि द्वारा विभिन्न रूप धारण करके व्यक्त हुआ। 'यह विद्रोह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठते हुए

पूजीवाद का विद्रोह था··· भारत मे पूजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और··· साहित्य मे व्यक्तिवादी भावनाए ही अनेक रूपो मे अभिव्यक्त हुई।'[1] उपरोक्त व्यक्तिवादी विचारधारा का अभ्युदय सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो के कारण हुआ था किन्तु जैनेन्द्र की व्यक्तिवादी दृष्टि साहित्यिक-स्तर पर स्वीकृत है। साहित्य मे बाह्य जीवन और घटनाओ का चित्रण अधिक होने के कारण व्यक्ति के अन्तर्भूत भावो और विचारो की अभिव्यक्ति का अवसर नही रहता था। जैनेन्द्र-साहित्य मे व्यक्तिवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समस्या को लेकर नही चला है। उसका प्रमुख विषय व्यक्ति-जीवन ही समग्र स्वीकृति से सम्बद्ध है। जैनेन्द्र से पूर्व बाह्य घटनाओ के विश्लेषण मे अन्त जगत की उपेक्षा होती रही है। समूह, समाज और सस्था आदि की तुलना मे व्यक्ति गौण माना जाता है। इस प्रकार वाद-विवाद प्रमुख हो जाता है और व्यक्ति-जीवन गौण। जैनेन्द्र का आदर्श व्यक्ति-जीवन को प्रमुखता प्रदान करना है।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण मानव जीवन के प्रति आस्था विलुप्त हो गई है। विज्ञान की प्रगति उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जा रही है। भौतिकता के विकास के साथ बाह्य जीवन अधिकाधिक सम्पन्न और समृद्ध हो गया है, किन्तु अन्तश्चेतना भौतिकता की चकाचौध मे विलीन हो गई है। आधुनिक युग मे राजनीति, धर्म और समाज मे व्याप्त समस्त द्वन्द्वो का मूल कारण 'पर' का निषेध है। परिणामस्वरूप मतवाद, वाद-विवाद तीव्र गति से बढता जा रहा है। वादो के इस द्वन्द्व मे व्यक्ति का अस्तित्व क्षीण होता जा रहा है और वाद प्रधान हो गया है। जेनेन्द्र-साहित्य मे व्यक्ति वाद-विवाद से ऊपर है। उनकी दृष्टि मे समाजवाद, साम्यवाद, पूजीवाद सबके मूल मे धार्मिक दृष्टि अनिवार्य है।[2] धार्मिक भावना व्यक्ति की नैतिकता का कवच है। उनके व्यक्तिवादी विचार मानवीय भावो और आदर्शो के सरक्षक है। प्रत्येक वाद प्रारम्भ मे व्यक्ति के हित का ही नारा लगाता है, किन्तु अन्तत उनकी स्वार्थ-दृष्टि ही प्रमुख हो जाती है। मानव समाज का हित गौण हो जाता है। पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद मे व्यक्ति और समाज के हितो का पूर्णरूप से ध्यान रखा गया था किन्तु अन्तत वे अर्थप्रधान हो गए है। उनमे परमार्थ का अभाव

---

१ हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड—भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, प्र० स० १९६९, पृ० स० १६८-१७४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, (वह क्षण), तृ० स०, १९६४, दिल्ली, पृ० स० ९५।

विलुप्तप्राय हो गया है।

पारमार्थिक दृष्टि

जैनेन्द्र का मूलादर्श व्यक्ति के जीवन मे पारमार्थिक दृष्टि की प्रतिष्ठापना करना है । परमार्थ ही जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख नैतिकता और लक्ष्य है। जैनेन्द्र के साहित्य मे नीति और अनीति का प्रश्न अहिसा और हिसा के सन्दर्भ मे प्रादुर्भूत होता है। उनके साहित्य मे व्यक्ति के पारस्परिक स्नेह और प्रेम मे, चाहे वह स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे हो अथवा किसी भी मानवीय सम्बन्ध को लेकर फलित हो, अनैतिक नही है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे जहा प्रेम है, वहा पाप और अनैतिकता की कल्पना सर्वथा त्याज्य है। प्रेम पवित्र है। जैनेन्द्र की पाप और पुण्य की दृष्टि सकीर्णता की पोषक नही है, उनकी दृष्टि मे पाप का मूल 'अह-निष्ठा' तथा 'पर' के निषेध अथवा अप्रेम मे ही विद्यमान है।

मानव-नीति

जैनेन्द्र-साहित्य मे व्यक्ति के अन्तर्जगत और बाह्य जगत् की समष्टि की झलक दृष्टिगत होती है। अन्त जगत् का विवेचन करते हुए उन्होने यथार्थवाद और आदर्शवाद का अवलम्ब लिया है। यद्यपि यथार्थवाद बाह्य जीवन से सम्बद्ध है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य मे उसकी सीमा व्यक्ति की निजता मे ही केन्द्रीभूत है। जैनेन्द्र ने बाह्य-स्थितियो का बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होने समाज, धर्म, राजनीति और अर्थ-नीति के सन्दर्भ मे व्यक्ति-जीवन को घटित होते हुए दर्शाया है। जैनेन्द्र ने शोषक-शोषित, श्रम-पूजी, मशीन-उद्योग तथा विभिन्न राजनीतिक वादो के सन्दर्भ मे व्यक्ति जीवन की ही विवेचना की है। व्यक्ति अकेला जीवित नही रह सकता। उसके लिए सामाजिक, राजनीतिक आदि व्यवस्थाओ का होना आवश्यक है। व्यक्ति समाज, राज, राष्ट्र और विश्व से ऊपर 'मानव' है। अतएव उनके साहित्य मे राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि के मूल मे 'मानव-नीति' का ही प्राधान्य है। वे विश्व के स्तर पर पडौसी को भूल जाना उचित नही समझते। यद्यपि यह सत्य है कि बृहदतर हित के हेतु लघुतर हित का त्याग सराहनीय है, किन्तु पडौसी के दुख-दर्द की उपेक्षा करके होने वाली विश्व-प्रगति मानवता से विपरीत है। वस्तुत जैनेन्द्र के व्यक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यक्तिगत और सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे व्यक्त किया गया है।

जीवनादर्श : दार्शनिक दृष्टि

आदर्श और यथार्थ दो जीवन-दृष्टि है। एक आत्मगत सत्य को स्वीकार

करती है, दूसरी बाह्य जगत की सत्यता को स्वीकार करती है। 'यथार्थ' समय-सापेक्ष्य सत्यता (रियल्टी) का सूचक है। 'आदर्श' आत्मगत सत्य होने के कारण यथार्थ के सदृश परिवर्तनीय नही है तथापि व्यक्ति-भेद के कारण आदर्श की मान्यताओ मे भी अन्तर दृष्टिगत होता है। एक लेखक की दृष्टि मे जो नितान्त यथार्थ है, दूसरे की दृष्टि मे वही आदर्श है। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन मे 'शाश्वत सत्य' की खोज के हेतु आत्मगत आदर्शवादी दृष्टि (सब्जेक्टिव आइ-डियलिज्म) ही विशेषत दृष्टिगत होती है। ईश्वर, जीव, आत्मा आदि विषयो की सत्यता का बोध आत्मचेतना द्वारा ही सुलभ हो सकता है।

भारतीय दर्शन मे चारवाक दर्शन को छोडकर शेष सभी दर्शनो मे आदर्श नीतिपरक जीवन को ही परम आदर्श के रूप मे स्वीकार किया गया है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे, मोक्ष की प्राप्ति को ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है। उनकी दृष्टि मे भौतिक जगत से इतर आध्यात्मिक जगत ही एकमात्र सत्य है। वस्तुजगत माया-मोह आदि नाना विकारो का केन्द्र है। आत्मोन्मुख व्यक्ति समस्त सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर ईश्वरीय साक्षात्कार के हेतु प्रयत्नशील होता है। अद्वैतवादी शकराचार्य के अनुसार जगत मिथ्या है। गौतमबुद्ध ने ससार को दुखमय माना है। बौद्ध तथा जैन धर्म मे ससार से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न विशेषत दृष्टिगत होता है। जैन धर्म मे भी कैवल्य की प्राप्ति हेतु त्याग, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य आदि पर बल दिया गया है, किन्तु चारवाक दर्शन मे भौतिक सुख को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। चारवाक दर्शन मे अर्थ और काम को ही प्रधानता मिली है।[1] आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग, कर्म और मोह की धारणाओ का निराकरण करके चारवाक ने त्याग अपरिग्रह, सन्यास, परोपकारिता आदि की उपेक्षा की है। उनकी दृष्टि मे भौतिक सुख ही एकमात्र सत्य है।[2] 'गीता' मे यह समझाने का प्रयास किया गया है कि अपनी चेतना के उच्चतम स्तर मे रहकर भी व्यक्ति कर्म कर सकता है। इसलिए उसने सदा-चार के प्रश्न को उठाकर कर्तव्य का सन्देश दिया है। कर्तव्य के सन्देश के मूल मे जगत की सत्यता की धारणा ही दृष्टिगत होती है। गीता अकर्म एव कर्म त्याग या कर्म सन्यास को स्वीकार नही करती।[3] गाँधीजी ने व्यक्ति के दुर्बल तथा उन्नत दोनो पक्षो पर ध्यान आकृष्ट किया है। मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर आत्मानन्द की प्राप्ति कर सकता है।

---

१. शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', पृ० स० ३२२।
२. शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', पृ० स० ३२१।
३ 'श्रीमद्भगवद्गीता', अध्याय २, श्लोक ४६-५०।

जैनेन्द्र की दृष्टि में आनन्द और यथार्थ

हिन्दी साहित्य मे भारतीय दर्शन की परम्परागत विचारधाराओ की पूर्णत अभिव्यक्ति की गई है। भारतीय दर्शन मे नैतिकता का विशिष्ट स्थान है। आदर्श मे भी नैतिकता का पर्याप्त स्थान है। जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकारो ने अपने साहित्य मे नैतिकता को विशेषत प्रश्रय दिया है। मानव जीवन के अन्तस् और बाह्य का द्वैत साहित्य मे आदर्शवाद और यथार्थवाद के रूप मे प्राप्त होता है। जैनेन्द्र का साहित्य वाद की पारिभाषिक सीमा से उन्मुक्त है। उसमे जीवन की यथार्थ और आदर्श-दृष्टि समानरूप से परिलक्षित होती है। यथार्थ की अतिशयता मे उनके पात्र अपनी आत्मशक्ति को क्षीण रही करते। वस्तुजगत, जिसका हम उपभोग करते है, जो इन्द्रिय-जगत का उपभोग विषय है, उसकी उपेक्षा नही की जा सकती है। भारतीय दर्शन मे समस्त इन्द्रियो को वशीभूत करके परम सत्य की ओर उन्मुख होने की चेष्टा दृष्टिगत होती है, किन्तु जैनेन्द्र के पात्र जीवन की यथार्थता की उपेक्षा नही करते। उनकी दृष्टि मे वस्तुजगत जीवन का स्थूल और व्यावहारिक सत्य है। स्थूलता से ही सूक्ष्मता की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे यथार्थ का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, वह प्राप्य है और वर्तमान से सम्बद्ध है। आदर्श अप्राप्य और असीम है। कोरा आदर्श आकाशीय कुसुम के सदृश होता है। आदर्श महान है, किन्तु महानता की प्राप्ति के हेतु निम्नता अथवा तुच्छता का निषेध नही किया जा सकता है। जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ की धरती पर जीते और मरते है।[1] व्यक्ति ससीम है, आदर्श असीम है। अतएव व्यक्ति की अपूर्णता यथार्थ है और पूर्णता अर्थात् आदर्श की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है।[2] यदि व्यक्ति को आदर्श का पुतला बनाकर चित्रित कर दिया जाय तो उसके समक्ष करने के हेतु कुछ शेष नही रह जाता। जगत की यथार्थता अथवा उसका अस्तित्व कर्म-कौशल मे ही निर्भर रहता है। पूर्णता की प्राप्ति होने पर कर्म अकर्म का प्रश्न ही नही उठता।

कतिपय साहित्यकारो के अनुसार कोई भी कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी। दोनो का मिश्रण किसी एक रचना मे सम्भव नही है। उसके अनुसार साहित्यक-निर्माण मे यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', प्रथम स०, १९५२, दिल्ली, पृ० स० १६०।

२ 'कल्पना मे हम दिमाग को रख सकते है। पर इस पर पाव नही टिका सकते। डग रखकर बढना धरती पर होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, (प्रणयदश) पृ० स० १३५।

यथार्थवाद नाम की वस्तु नही हो सकती।[१] किन्तु मानव जीवन अखण्ड धारा है। वह आदर्श और यथार्थ के खण्डो मे विभाजित नही हो सकती। महादेवी जी के अनुसार 'किसी भी युग मे आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य कुरु-क्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षो की तरह परिवर्तित करके खडे नही किए जा सकते, जिनमे से एक युद्ध की आग मे जल जाय और दूसरे को पश्चाताप की अग्नि मे जल जाना पडे। वे एक-दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते है। अत काव्य उन्हे विरोधियो की भूमिका देकर जीवन मे एक नई विष-मता उत्पन्न कर सकता है, सामान्जस्य नही।[२]

वस्तुत आदर्श और यथार्थ जीवन की विपक्षीय धाराए न होकर एक-दूसरे की पूरक है। जयशकर प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की समन्वित दृष्टि अपने निबन्ध मे प्रस्तुत की है। उन्होने आदर्श की प्राप्ति के हेतु यथार्थ की उपेक्षा नही की है। उनके अनुसार—'यथार्थवादी साहित्य मे व्यक्ति की दुर्बलताओ की ओर इगित किया जाता है। उनकी दृष्टि मे यथार्थवादी साहित्य मे लघुता और दु ख की प्रधानता तथा दु ख की अनुभूति आवश्यक है।'[३]

यथार्थ व्यथामूलक :

जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त यथार्थवादी दृष्टि 'प्रसाद' के आदर्शो के समकक्ष प्रस्तुत की जा सकती है। यद्यपि 'प्रसाद' और जैनेन्द्र मे साम्य का कोई प्रश्न ही नही उठता तथापि मानवीय वेदना और अभाव का सादृश्य दोनो मे दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे यथार्थता का जो स्वरूप अभि-व्यक्त किया है, वह मानव-आत्मा की वेदना और पीडा से सम्बद्ध है। जैनेन्द्र के साहित्य मे यथार्थ स्थिति मे अधिक मन स्थिति के दर्शन होते है। उनके उपन्यास और कहानियो के अध्ययन से मन मे यथार्थ जीवन की वीभत्सता, कुत्सा आदि का प्रकृत रूप दृष्टिगत नही होता। वह तो मानव-व्यथा से अपूर्ण है। उनके पात्र आदर्श के प्रतीक होकर हमारे मन मे श्रद्धा और भक्ति की भावना जाग्रत नही करते, वरन् उनका व्यक्तित्व हमारे हृदय को सहानुभूति और करुणा

---

१ डा० जयनारायण मण्डल 'हिन्दी उपन्यासो की यथार्थवादी परम्परा', प्र० स०, १९६८, पटना, पृ० स० ४।

२ महादेवी वर्मा 'साहित्य की आस्था तथा अन्य निबन्ध' चयनकर्ता गगा-प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद, १९६२, पृ० स० १४२।

३ जयशकर 'प्रसाद' 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', इलाहाबाद, पृ० स० १३८।

से आर्द्र कर देता है। जैनेन्द्र के पात्र अपने महिमान्वित व्यक्तित्व से पाठक को चकाचौध नही करते, वरन् जीवन की सहजता मे पूर्णत लीन कर देते है, जिससे जीवन की सत्यता के प्रति आखे खुल जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार सम्माननीय वही नही है जो महान है, प्रतिष्ठित है वरन् वह भी है जो पापी दिखायी देता है, परन्तु व्यथा से पूर्ण है।[1]

'त्यागपत्र' मे मृणाल का जीवन मानो व्यथा का गहरा सागर है। उसमे जितना ही डूबते जाओ उतनी ही गहरी पीडा का अनुभव होता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे वह समाज के नितान्त उपेक्षित, घृणित स्थल मे पहुचकर भी सम्माननीया बनी रहती है। उसके प्रति मन मे आक्रोष नही उत्पन्न होता। वरन् हृदय मे पीडा की गहरी टीस जाग उठती है जो समस्त चेतना को झकझोर देती है। वह एक-के-बाद-एक विषमस्थिति का सामना करती है। सामाजिक दृष्टि से व्यभिचारिणी समझी जाने वाली उस नारी की आत्मा की विशुद्धता और पवित्रता पर तनिक भी आच नही आती। वस्तुत जैनेन्द्र के पात्र जितना अधिक त्रास पा रहे होते है उतनी ही आनन्द-सृष्टि मे सक्षम होते है। एक ओर पीडा मर्म को कचोटती है तो दूसरी ओर वही आत्म-तृप्ति भी देती है। वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के कर्मो से ही उसकी नैतिकता तथा महानता का बोध नही होता, निष्कलुष आत्मा ही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करने मे सक्षम हो सकती है।

पूर्णतावादी विचार

जैनेन्द्र के आदर्शवादी विचार 'पूर्णतावाद' के सदृश प्रतीत होते है। पूर्णतावाद मे साहित्यिक यथार्थ और आदर्श के सदृश बुद्धि और भावना का द्वैत दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र का आदर्श अतत आत्मोन्मुख होना है। पूर्णतावादियो ने भी आत्मकल्याण, आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मसन्तोष की ओर विशेषत ध्यान आकृष्ट किया है। पूर्णतावादियो की दृष्टि मे 'मनुष्य का स्वभाव अनेक प्रवृतियो, इच्छाओ और भावनाओ का जन्म स्थल है। इस स्वभाव मे कुछ भी ऐसा नही है जो पूर्णरूप से बुरा अतएव त्याज्य हो।'[2] उनके अनुसार आत्मा का रूप न तो केवल ऐन्द्रिक है और न केवल बौद्धिक। इस दृष्टि से ब्रैडले के अनुसार—'आत्मा का अपने पूर्णरूप मे सन्तुष्ट होना अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ५४६।

२. शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', प्र० स०, १९६९, दिल्ली, पृ० स० २८७।

का सन्तोष ही, आत्मसन्तोष है।"[1]

वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्तित्व की पूर्णता ही विशिष्टत लक्षित होती है। उनके अनुसार आदर्श जीवन पूर्णता का परिचायक है। यह आदर्श यथार्थ जीवन की घटनाओ से प्राप्त हो सकता है। आधुनिक साहित्य मे मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का विवेचन किया गया है। जैनेन्द्र का साहित्य सामाजिक परिवेश के भीतर से व्यक्ति की आत्मा मे सिसकते हुए स्वर को ध्वनित करने मे सक्षम रहा है। सुधारवादी लेखक बाह्य समस्याओ मे ही उलझे रह जाते है, किन्तु व्यक्तिवादी लेखक व्यक्ति के साथ आत्मसात् होकर ही उसके जीवन की सत्यता को अभिव्यजित करता है। जैनेन्द्र ने बहुत गहराई से मानव-आत्मा मे झाकने का प्रयास किया है।

व्यक्ति : अपूर्ण

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अपूर्ण है। अतएव उसमे गुण-दोष का सम्मिश्रण होना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति पूर्ण सत् स्वरूप नही हो सकता। पुनर्जन्म के मूल मे व्यक्ति की अपूर्णता ही विद्यमान है। 'पूर्णात्पूर्ण मिदम्' एकमात्र ब्रह्म ही है। व्यक्ति के पूर्ण होने का तात्पर्य मोक्ष की प्राप्ति है किन्तु मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति कर्माकर्म शून्य हो जाता है। सासारिक व्यक्ति अनन्त इच्छाओ और लालसाओ का भण्डार है। वह अपनी अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति के हेतु बार-बार जन्म लेता है, यही कारण है कि जैनेन्द्र के द्वारा विरचित व्यक्ति अपूर्णता के प्रतीक है। वे किसी महत् आदर्श के प्रतीक नही है। जैनेन्द्र के पात्र ऐसे साचे मे नही ढले है, जो सब ओर से सम प्रतीत हो। व्यक्ति जड नही है अत उसमे असमानता का होना स्वाभाविक है। प्रेमचन्द ने पात्रो को आदर्श का जो चोला पहना दिया है, वे अन्तत उसी आदर्श के घेरे मे घुटते हुए भी मानवीय सहज क्रियाओ और प्रवृत्तियो की पूर्ति से वचित रहते है। जैनेन्द्र के पात्रो के जीवन मे कुछ भी असम्भाव्य नही है। 'एकरात' कहानी मे जयराज का आदर्श व्यक्तित्व जीवन की यथार्थता की स्वीकृति के अभाव मे अपूर्ण और अतृप्त रहता है। प्रेम की प्राप्ति ही उसे पूर्ण सन्तोष प्रदान करती है। प्रेमचन्द की दृष्टि मे काम, (सेक्स) व्यक्ति की न्यूनतम प्रवृति का परिचायक है। किन्तु जैनेन्द्र स्त्री-पुरुष के सहज सम्बन्धो मे अनैतिकता का लेश भी नही देखते। प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति के

---

१ शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', प्र० स०, १९६९, दिल्ली, पृ० स० २८७।

उज्जवल पक्ष की अभिव्यक्ति करना है। इस प्रकार उनके साहित्य मे व्यक्ति की हीनता अवदमित रह जाती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे महानता का कल्पित आदर्श नही प्रस्तुत किया गया है, वरन् व्यक्ति चरित्र के प्रक्षिप्त अशो को उभारने का प्रयास किया गया है। जैनेन्द्र ने आदर्श की निश्चितता से अधिक उसकी सम्भावना पर बल दिया है। आदर्शवादी दृष्टि 'क्या है' से अधिक 'क्या होना चाहिए' पर आधारित है। आदर्शवादी लेखको ने मानव जीवन की कुरूपताओ के बीच मानव जीवन और चरित्र के उज्जवल पक्ष को उद्घाटित करने की चेष्टा की है। डा० सर्वजीतराय के अनुसार—'अभाव के कारण ही व्यक्ति दुखी होता है।'[1] आदिकाल से ही मानव जाति उर्ध्ववेत्ता बनने की ओर प्रयत्नशील रही है, क्योकि आदर्श की सीमा मे आबद्ध व्यक्ति पूर्ण होते हुए भी अधिक सवेदनीय नही हो पाता। जैनेन्द्र के अनुसार यथार्थ (सत्य) की अभिव्यक्ति अश्लीलता की परिचायक न होकर व्यक्तित्व की पूर्णता की सूचक है। गुण यदि व्यक्ति के आदर्श स्वरूप का द्योतक है तो दोष भी उसके जीवन का यथार्थ सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार दुर्बलता तथा क्षुद्रता व्यक्ति की प्रकृति है। प्रकृति का निषेध करके महान बनने का दम्भ मिथ्या है। ऐसी महानता के यदा-कदा टूटने का भी भय रहता है, क्योकि उसके अन्तस् मे अतृप्ति बनी रहती है। मानव-प्रकृति का निषेध करके प्राप्त होने वाली महानता बाह्य रूप मे आदर्श और मर्यादित प्रतीत होती है, किन्तु भीतर-ही-भीतर मन का छल व्यक्ति को कुरेदता रहता है और वह अन्तर और बाह्य के द्वन्द्व मे शान्ति नही प्राप्त कर पाता। छल और कपट के भाव व्यक्ति को कर्म मे आत्मसात् होने से वचित रखते है। 'दिन, रात और सवेरा'[2] मे मान और प्रतिष्ठा के मध्य रहने वाली कवियत्री अपनी अन्तस् की यथार्थता को अभिव्यक्त नही कर पाती। समाज की मर्यादाओ से बाहर वह स्वय मे होती है, जहा उसे सारी मान-प्रतिष्ठा मिथ्या प्रतीत होती है, क्योकि वह अपनी अहता को बाह्यरूप मे विसर्जित करने मे असमर्थ रहती है। 'टकराहट', 'विचारशक्ति', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'रत्नप्रभा' व, 'गवार', 'अकेला' आदि कहानियो मे व्यक्ति के अन्तस् के यथार्थ रूप का उद्घाटन किया है। स्त्री और

---

१. 'सभी धर्मो मे मानव जीवन और स्वभाव पर अकुश लगाने की चेष्टा की की गई है। ताकि उसके भीतर का छिपा हुआ पशुत्व मुह न उठा सके।' —डा० सर्वजीतराय 'हिन्दी उपन्यास साहित्य मे आदर्शवाद', प्र० स०, १९६९, इलाहाबाद, पृ० स० १२।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, प्र० स०, १९६४, दिल्ली, पृ० स० १७२-१८१।

पुरुष स्वय मे अपूर्ण है।[1] पूर्णता अर्थात् स्त्री-पुरुष के परस्पर सयोग द्वारा ही जीवन का लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जैनेन्द्र यथार्थता को पाप अथवा अनैतिक नही समझते। सत्यता पर आवरण डालकर सत्य का निषेध नही किया जा सकता। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति का आदर्श कृत्य मे न होकर कृत् की भावना मे सन्निहित होता है। उनकी दृष्टि मे नैतिकता का मूल मानदण्ड मानव, मानव की परस्परता है। पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति मे मर्यादा की सीमा उपस्थित करना नैतिकता नही है। मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु मन की व्याकुल, अपूर्ण तथा अतृप्त अवस्था म मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति के हेतु मन की विश्रान्ति अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार—'आदमी मे जो है उस सब को स्वीकार नही करेगे तो उसे ह्रस्व ही करेंगे, महान न बनाएगे। आदमी मे से कुछ अलग काटकर उसको पूरा नही किया जा सकता।'[2] जैनेन्द्र की दृष्टि मे पाप-पुण्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो तक ही परिमित नही है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तो स्वाभाविक और सहज है। जिस प्रकार व्यक्ति गुणो के सम्बन्ध मे अपूर्ण है, उसी प्रकार जैविक दृष्टि से स्त्री-पुरुष के रूप मे अपूर्ण है अतएव दोनो का मिलन सामाजिक दृष्टि से अपरिहार्य नही है।

सामान्यत जिन सामाजिक मर्यादाओ के पालन मे व्यक्ति गर्वानुभूत होता है, उसे जैनेन्द्र मिथ्या ढोग और अभिमान का सूचक मानते है। उनके अनुसार 'नर-पुगव और नर केसरी ऊपरी शोभा के लिए हो सकते है, जाति की स्वास्थ्य शक्ति और सौष्ठव उनसे नही है।'[3] क्योकि समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जो बाह्य रूप मे आदर्श के प्रतीक होते है, किन्तु भीतर-ही-भीतर अपनी दुश्चरित्रता का विष फैलाये रहते है। वे छद्मरूप मे अपनी वासना को शान्त करते है, किन्तु समाज के समक्ष अपनी महानता का ढोग रचते है। ऐसे पुरुष समाज सुधारक होकर भी समाज और जाति के स्वास्थ्य को नष्ट करने के भागी होते है।

व्यक्ति · देवता नहीं

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति का देवता बनने का प्रयास कोरा दम्भ है। उत्तरोत्तर देवत्व अर्थात् सद्गुणो की प्राप्ति मनुष्य का आदर्श है, किन्तु देवता

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ५५७।
२ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० स० १६१।
३ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० सं० १०१।

बनकर स्वय को सहज मानवीय भावनाओ से परे रखना नितान्त अप्राकृतिक है। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति देवता बनने के लोभ मे मानवीय भावो और प्रवृत्तियो का दमन नही करते। कोरा आदर्श व्यक्ति को जड बना देता है तथा व्यक्तिगत भेद को मिटाकर सभी को आदर्श की पक्ति मे आसीन कर देता है। 'टकराहट' तथा 'जयवर्द्धन' मे कैलाश और ऐसे पात्र है जो स्वय को मानवीय दुर्बलताओ से दूर रखकर जनहित करना चाहते है। वे अपने जीवन मे आदर्श की ऐसी प्राचीर खडी कर लेते है, जिसमे उनका जीवन शुष्क-सा प्रतीत होने लगता है और वे यन्त्र-पुरुष के सदृश कर्म करते है। कैलाश ने एक ऐसे आश्रम की स्थापना की है, जिसमे रहकर व्यक्ति जड हो जाता है, उसकी मूल प्रवृत्तियो के विकास का अवसर नही मिलता। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति जडीभूत होकर शान्त नही हो सकता। उसके अन्तस् मे हलचल बनी ही रहती है। स्वय से बचकर आश्रम मे रहना मिथ्या है। तपस्वी बनने मे व्यक्तित्व का ह्रास होता है। व्यक्तित्व का समुचित विकास तो सहजता मे ही सम्भव है।[1] 'जयवर्धन' मे इला जय को देवता नही बनने देना चाहती। वह प्रेम चाहती है। प्रेम की प्राप्ति के हेतु उसका मानवीय रहना अनिवार्य है। इला के प्रेम के कारण ही जय का जीवन कठोर नही हो पाता। 'टकराहट' मे भी लीला आश्रम मे शान्ति प्राप्त करने आती है, किन्तु वहा रहकर वह अपने प्रति छल नही कर पाती और वापस चली जाती है।[2] वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार 'व्यक्तित्व मे खुरच कर और छीलकर कुछ निकाला नही जा सकता।'[3] 'विचार-शक्ति', 'अविज्ञान' आदि कहानियो मे लेखक ने इस तथ्य की सत्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि त्याग और सयम आदि के ऊपर 'व्यक्ति' है। इस सत्य का निषेध करके वह पूर्णता की प्राप्ति नही कर सकती।[4] शब्दो की लपेट मे

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ७, तृ० स०, १९६३, पृ० स १४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ७, तृ०स० १९६३, पृ०स०९।

३ जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन', प्र० स०, दिल्ली, पृ० स० १२२।

४ 'सभ्य हो, सयमी हो, उदात्त हो, त्यागी हो। इन सब के नीचे मै बता देना चाहती हू कि तुम आदमी भी हो। इस सत्य से आख बचाकर तुम भागना चाहते हो, तो जाओ, मैं कब रोकती हू।...कोई फरिश्ता हो सकता, यह भूल मैं तुममे टिकने न दूगी।'

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, तृ० स०, १९६४, पृ० स० १३५।

सच्चाई छिप जाती है, किन्तु सत्यता शब्द मे ही सीमित नही होती। व्यक्ति नेता और प्रवक्ता बनने पर भी व्यक्ति ही रहता है।[1] देवता बनने के लोभ मे व्यक्ति का व्यक्तित्व विकृत और विकारग्रस्त हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के हेतु छल का निर्णय अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार— 'व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए सत्य की स्वीकृति अनिवार्य है।'

दलित भी माननीय

प्राचीन साहित्य मे महत् प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही कथा का नायक होने का अधिकारी था। किन्तु आधुनिक सभ्यता और सस्कृति के नवीन उन्मेष ने जीवन के साथ साहित्य की धारा को भी नवीन मोड प्रदान किया है। आधुनिक समाज मे जागित भेद का कोई महत्व नही रह गया है। दलित और निम्नवर्गीय व्यक्ति भी साहित्य के उच्चासन पर आरूढ होने का अधिकारी है। वस्तुत जैनेन्द्र महान और प्रतिभाशाली व्यक्ति को ही पूज्य नही मानते, वरन् उनकी दृष्टि मे व्यथा से पूर्ण भिखारी और चोर तथा डाकू भी उतना ही महान है जितना आदर्शवादी नेता अथवा सुधारक। निम्नता तथा क्षुद्रता की अभिव्यक्ति करने वाले पात्र हृदय मे पीडा उत्पन्न करके हमारे आत्मीय बन जाते है। क्योकि उनकी आत्मा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक होती है, उनमे प्रेम, दया और त्याग की भावना कूट-कूटकर भरी होती है। 'अधे का भेद' कहानी मे अधे भिखारी के जीवन को देखकर कौन कह सकता है कि उसके अन्तस् मे कितनी गहरी व्यवस्था छिपी हुई है और वह उस सारे उफान को दबाए हुए गलियो मे बच्चो के साथ गाता फिरता है। भिखारी के जीवन का इतिहास जानने के हेतु गदी बस्ती मे तथा समाज के उपेक्षणीय स्थलो पर जाना पडता है। उसकी जीवन-गाथा का रहस्य हृदय को सहसा झकझोर देता है। भिखारी की पत्नी वेश्या होते हुए भी कम सम्माननीया नही है, क्योकि उसका पेशा परिस्थिति और विवशता का परिणाम है, किन्तु उसके सस्कार बहुत उच्च है। कष्ट झेलकर भी वह आत्म-परिष्कार करने मे समर्थ है जिससे उसकी आत्मा की पवित्रता पर व्यवसाय की कालिमा की छाया भी नही पड पाती।[2] वस्तुत. जैनेन्द्र

---

१ '...तुम भी प्रवक्ता और तत्वज्ञाता के वाक्यो के नीचे जो हो वही हो। सत्य लपेट मे नही होता।'

जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', पृ० स० १२५।

२. जैनेन्द्रकुमार प्रतिनिधि कहानिया, स० शिवनन्दनप्रसाद, १९६९, प्र०स०, पृ० स० ५७।

के अनुसार व्यक्ति की महानता कर्म मे न होकर उसकी भावना मे ही निहित होती है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के पापी अथवा पुण्यात्मा होने का दायित्व उसी पर नही है। परिस्थिति की विवशता भी व्यक्ति को सद्-असद् कर्मो की ओर उन्मुख करती है।[1] 'चोरी' शीर्षक कहानी मे लेखक ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार व्यक्ति न चाहते हुए भी चोरी करने के लिए विवश होता है। सामाजिक विषमता तथा अव्यवस्था के कारण सज्जन व्यक्ति को भी चोरी करनी पडती है।[2] 'फासी' शीर्षक कहानी मे शमशेर डाकू ही नही, सहृदय बेटा भी है। उसके हृदय मे प्यार, ममता आदि भावो का आगार है। उसमे अतिथि-सम्मान की भावना भी विद्यमान है किन्तु कर्तव्य के मार्ग मे उसकी भावुकता बाधक नही बनती। शत्रु के समक्ष वह क्रूरता की प्रतिमूर्ति है, तो मा के समक्ष भोला बालक है। क्रूरता उसका दोष नही है, वरन् आभूषण है।[3] 'साधू की हठ' कहानी मे दारोगा घर आये साधु के कारण अपनी पत्नी को बहुत बुरी तरह पीटता है, किन्तु साधु की अतिशय सहनशीलता उस निष्ठुर व्यक्ति के हृदय की करुणा और दया को जाग्रत कर देती है।[4] वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति सन्त और दुष्ट दोनो है।[5] न कोई बहुत निन्दनीय है और न ही कोई विशुद्धत भला ही है। उपरोक्त कहानी 'साधु की हठ' मे दारोगा की क्रूरता का कारण उसका नि सन्तान होना है। अतएव निष्ठुरता उसकी विवशता है। सहृदयता मानवीय सस्कार है, यही कारण है कि अन्तत. मानवीय गुणो की ही जय होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति व्यक्ति के बीच श्रेणी-विभाजन करना नितान्त असगत है। उनकी दृष्टि मे व्यक्ति का आदर्श अच्छाई और बुराई से ऊपर उठना है, किन्तु अच्छाई और बुराई का लेबिल लगा लेने से परस्पर द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

व्यक्ति : टाइप नहीं

जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त व्यक्ति प्रतीक है। न वह 'टाइप' है, न

---

१ 'पापी पापी नही है, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नही है...किसी के कुछ होने के लिए सहसा दोष मैं उसको नहीं दे पाती।'
—जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० स० ७२।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० १५०।

३ जैनेन्द्रकुमार 'प्रतिनिधि कहानिया', स० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० स० २२।

४ जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० २७-२८।

५ जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० १९२।

चरित्र। किन्ही निश्चित मान्यताओ की सीमा मे वे व्यक्ति की कल्पना नही करते। प्रेमचन्द के पात्र 'टाइप' है। उपन्यास आरम्भ करते ही हमारे मन मे उनके पात्रो के सम्बन्ध मे एक निश्चित अवधारणा बन जाती है कि अमुक पात्र अमुक 'टाइप' का होगा। उनके उपन्यास का नायक दोषयुक्त नही हो सकता, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति भी दोषयुक्त हो सकता है तथा निम्नतम व्यक्ति भी आदर्श गुणो का प्रतीक बन सकता है। जैनेन्द्र के पात्रो के सम्बन्ध मे कोई भी धारणा पहले से निश्चित नही की जा सकती। उनके पात्र सदैव अपने अधूरे व्यक्तित्व का ही परिचय देते है। जैनेन्द्र के अनुसार किसी भी व्यक्ति का हम सब कुछ नही जान सकते, क्योकि शेष जीवन मे भी उसमे परिवर्तन सम्भव हो सकता है। अतएव उसके सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय देना उचित नही है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे जिस प्रकार ब्रह्म अज्ञेय है और उसके सम्बन्ध मे हमारी सम्भावनाए सदैव बनी रहती है, उसी प्रकार व्यक्ति का भविष्य अज्ञेय है। अज्ञेयवस्तु के सम्बन्ध मे निश्चित नही कहा जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार 'महान पात्र······पाठक की रुचि और कल्पना को बाधते नही है, बल्कि स्फूर्त करके मुक्त करते है। उनके प्रति······बराबर एक चाह, एक उत्सुकता बनी रहती है···मानो वे मुट्ठी मे समाने के लिए नही है।'[1]

वस्तुत जैनेन्द्र के व्यक्ति न तो 'टाइप' होकर निश्चेष्ट हो गए है और न ही अपने मे सीमित है। जैनेन्द्र का आदर्श एक का हर एक मे हो जाना है। उनके अनुसार व्यक्ति स्वय को नही, वरन् अपने माध्यम से सत्य की झाकी को मूर्त करता है।

व्यक्ति और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण मनोविज्ञान से प्रभावित प्रतीत होता है। किन्तु मनोविज्ञान से प्रभावित होते हुए भी उसकी (मनोविज्ञान की) मनोविश्लेषणात्मक नीति उन्हे ग्राह्य नही है। उन्होने मनोविज्ञान को साहित्य के स्तर पर जिस रूप मे स्वीकार किया है, वह व्यक्ति के मन से विज्ञान अर्थात् उसकी प्रकृति की सत्यता का उद्घाटन करने मे सक्षम होता है। किन्तु सत्यता का प्रकटीकरण अपनी समग्रता मे ही सम्भव हो सका है। मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति की मानसिक चेतना का इस प्रकार मनोविश्लेषण किया जाता है कि व्यक्तित्व का सम्पूर्ण रूप स्पष्ट नही हो पाता।

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० स०, १९५३, दिल्ली, पृ० स० १८१।

यथार्थ : प्रकृतिवाद का पर्याय नहीं

निष्कर्षत जैनेन्द्र के साहित्य मे आदर्श और यथार्थ की नितान्त मौलिक दृष्टि प्राप्त होती है। उन्होने यथार्थ का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह प्रकृतिवादी साहित्यकारो के सदृश नग्नता का घिनौना चित्रण नही। जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त यथार्थ सत्य से सम्बन्धित है। उसमे यथातथ्य चित्रण होते हुए भी वीभत्सता को स्वीकृति नही मिलती है। यथार्थवाद यथार्थ के नाम पर उत्तरोत्तर प्रकृतिवाद की ओर उन्मुख हुआ प्रतीत होता है। उसमे बन्धन-हीनता फैशन बन गई है। जैनेन्द्र का साहित्य फैशन के बहाव से दूर निजता की वास्तविकता से युक्त है। यथार्थवादियो का नारा है कि घिनौना, फूहड, वीभत्स सब चलेगा, केवल आदर्श नही चलेगा। जैनेन्द्र का आदर्श से कोई विरोध नही है। उनकी दृष्टि मे आदर्श का निषेध व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने मे कदापि सफल नही हो सकता। जैनेन्द्र के पात्रो का आदर्श उनके स्वप्नद्रष्टा होने मे है। स्वप्न अर्थात् सम्भावना मे ही उनके पात्र अपने आदर्श जीवन की परिकल्पना करते है। इस प्रकार आदर्श प्राप्ति द्वारा व्यक्ति की सम्भावनाओ का हनन् नही होता। जैनेन्द्र के अनुसार 'जो हम है वही हमारा जीवन नही है। जो होना चाहते है, हमारा वास्तव जीवन तो वही है। जीवन एक अभिलाषा है।'[१]

परस्परता

जैनेन्द्र-साहित्य का सर्वोपरि आदर्श है कि व्यक्ति, व्यक्ति के भेद को मिटा दिया जाय। इस अभिन्नता से उनका तात्पर्य परिस्थितिगत समानता से न होकर हृदयगत समानता और एक्य से ही है। व्यक्ति मे अन्तर हो सकता है, किन्तु पारस्परिक भावो मे अन्तर होने के कारण मतभेद नही उत्पन्न होता। जैनेन्द्र की दृष्टि बहुत ही व्यावहारिक है। इसलिए वे व्यक्ति को आदर्श मे नही वरन् व्यवहार मे केन्द्र मानकर चलते है। आदर्श बाहर नही, व्यक्ति-चित्त मे निहित होता है।[२] उनका विश्वास है कि विशिष्ट मान्यताए प्राप्त करने से व्यक्ति स्वय को समाज का आदर्श समझने लगता है। उसके मन मे यह भाव जाग्रत हो जाता है कि वह सदाचारी है, अतएव उससे कोई त्रुटि हो भी नही सकती। सदाचार की ओट मे वह स्वार्थ का बीज बोने मे ही सहायक होता है। आधुनिक समाज मे ऐसे ही गण्यमान्य व्यक्ति अधिक है, जिनके मन मे स्वार्थ,

---

१. हर्षचन्द्र : 'सूक्ति सचयन', प्र० स०, १९६५, दिल्ली, पृ० स० ११३।
२. जैनेन्द्र कुमार : 'समय और हम', पृ० स० ९४।

लोलुपता आदि दूषित भावनाए भरी हुई है, किन्तु ऊपर से वे आदर्श बने रहते है।[१] व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्तियो के कारण ही जैनेन्द्र आदर्श को मानव के अन्तस् मे खोजना श्रेयस्कर समझते है।

आत्म-परिष्कार

जैनेन्द्र के साहित्य मे भले-बुरे की आलोचना के स्थान पर आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिष्कार पर ही बल दिया गया है। उनके अनुसार दूसरे की आलोचना करने से एक ओर तो 'पर' का निषेध होता है, दूसरी ओर 'स्व' का अहभाव पुष्ट होता है, किन्तु आत्मनिरीक्षण द्वारा व्यक्ति अधिकाधिक विनम्र तथा सहनशील बनता है।[२] जैनेन्द्र के साहित्य मे हार्दिकता और प्रासादिकता का आधिक्य है। आत्मगत स्नेह, सहानुभूति और आत्मसमर्पण का भाव ही वह शस्त्र है, जिससे उनके पात्र अन्य पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होते है। वस्तुत जैनेन्द्र की व्यक्ति सम्बन्धी दृष्टि व्यावहारिक जीवन की सत्यता पर आधृत है, आदर्श की थोथी भूमिका पर नही।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति यथार्थ जीवन की गहराई से ही आदर्श की ऊचाई की ओर उन्मुख होता है। आदर्शवादी साहित्यकार व्यक्ति के पूर्ण रूप को अपने साहित्य मे विवेचित करते है। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अपूर्ण है, यही कारण है कि वह है।[३]

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति समाज की सापेक्षता मे ही अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकता है। समाज से बचकर अलग रहने मे व्यक्ति के स्वरूप और उसकी प्रकृति का कोई महत्व नही रहता। अतएव व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी निजता के साथ ही साथ सामाजिकता का ज्ञान भी अनिवार्य है। राज-नीति, समाज, धर्म, अर्थ आदि विभिन्न क्षेत्रो की सापेक्षता मे ही व्यक्ति जीवन की सार्थकता सम्भव है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अन्तर्मुखी होते हुए भी समाज के प्रति उत्तरदायी है। वह समाज का अविभाज्य अग है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'व्यक्ति जीवन का उद्देश्य अपनी निजत्व को समग्र एव समग्र को निजत्व मे देखना है।'[४] जैनेन्द्र के साहित्य मे समाज की सीमाओ और मर्यादाओ का पूरा

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, तृ० स०, पृ० स० ११०।
२. जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, तृ० स०,पृ० स० ११-१३।
३ जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', १९५६, पृ० स० ८५।
४. जैनेन्द्र कुमार . 'विवर्त', पृ० स० ४०।

ध्यान रखा गया है। समाज की पृष्ठभूमि पर ही व्यक्ति-जीवन का विकास होता है। व्यक्ति स्वय मे ही सीमित नही है। उसकी सार्थकता 'पर,' के सन्दर्भ मे ही सम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य मे 'स्व' पर अर्थात् व्यक्ति, व्यक्ति की परस्परता की ओर विशेषत दृष्टिपात किया गया है। सामाजिक प्राणी विभिन्न द्वन्द्वो के मध्य जीवनयापन करता है। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितिया जीवन मे नाना द्वन्द्वात्मक रूप उत्पन्न करती है।

त्याग की भावना से युक्त होकर ही व्यक्ति समाज का हित कर सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे वही व्यक्ति समाज को नया मोड और नई चेतना दे सकता है, जिसमे समाज की ओर से प्राप्त होने वाली यातनाओ को सहने की क्षमता है। उनकी दृष्टि मे गाधी और ईसा एक महान आदर्श है। समाज धर्म की प्रतिष्ठा मे ही ईसा को सूली पर चढना पडा था। वस्तुत व्यक्ति समाज से निरपेक्ष नही हो सकता। समाज से स्वतन्त्र होकर चलने मे समाज द्वारा प्राप्त होने वाले दण्ड से नही बचा जा सकता तथापि पारमार्थिक व्यक्ति स्वय कष्ट झेल करके ही 'पर' के हित मे रत रहता है।[1]

विभिन्न जीवनदृष्टि

व्यक्ति और समाज के जीवन की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न विचार-धाराए प्रचलित है। ये विभिन्न धाराए जिस दृष्टि से व्यक्ति-जीवन की समस्याओ और व्यवस्था का विवेचन करती है, उनका तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव पडना अनिवार्य है। साहित्य युग की देन है। आधुनिक युग मे साहित्य के स्तर पर तीन प्रमुख विचारधाराए और जीवन-नीतिया दृष्टिगत होती है। पहली मनोवैज्ञानिक धारा है, जिसके प्रणेता फ्रायड है। फ्रायड ने व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हुए उसके चेतन-अचेतन मन के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर कार्लमार्क्स ने भौतिक जगत की विषमताओ से आक्रान्त मानव जाति के वर्ग-भेद को मिटाने का प्रयास किया है। प्रथम फ्रायडीय दृष्टि व्यक्तिवादी थी। दूसरी मार्क्सवादी दृष्टि वस्तुवादी अथवा समाजवादी है। मार्क्स-दर्शन का मूलाधार व्यक्ति न होकर सामाजिक और आर्थिक विषमता से उद्भूत समस्याए है। उनकी दृष्टि अर्थ प्रधान होने के कारण तथा राजनीति के सस्पर्श से विश्वव्यापी बन गई है। मार्क्स के समानान्तर चलने वाले जिस दर्शन मे मानव जीवन और साहित्य तथा राजनीति को सबसे अधिक अभिभूत

---

१. जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया, भाग १, तृ० स०, १९६२, दिल्ली, पृ० स० १८९।

किया है, वह गाँधी-दर्शन है। गाधी और मार्क्स मानव जीवन और समाज को लेकर ऐसे मोड पर पहुचते है, जहा वे एक न होकर भी एक नही बन पाते।

मतवाद

मानव समाज मे विभिन्न वाद-प्रतिवाद दृष्टिगत होते है। विभिन्न वादो का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति और समाज की समस्याओ का समाधान करना है। साहित्य का कार्य मानव जीवन के सन्दर्भ मे विभिन्न वादो का विवेचन प्रस्तुत करना है। जैनेन्द्र के साहित्य मे किसी वाद-विशेष का सहारा नही लिया गया है। उनकी दृष्टि मे केवल-हित प्रधान है, वाद-विवाद की सकीर्णता उन्हे ग्राह्य नही है। विभिन्न साहित्यकार अपने साहित्य द्वारा विभिन्न वादो का प्रचार करते है। साहित्य का कार्य प्रचार करना नही है, केवल दृष्टि-दान करना है। यशपाल के साहित्य मे मार्क्सवाद का स्वर विशेषत मुखरित हुआ है। उन्होने मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए गाधीवादी नीति का विरोध किया है। जैनेन्द्र के साहित्य मे आग्रह की प्रवृति कही भी लक्षित नही होती। जैन धर्म के प्रभाव के कारण वे दृष्टि-विशेष को सत्य मानकर अन्य का निषेध करना उचित नही समझते। विभिन्न वाद स्वार्थपूर्ण दृष्टि लेकर अपने मत को अन्य पर थोपने का प्रयत्न करते है, किन्तु साहित्य का आदर्श राजनीतिक वाद-विवाद से पृथक है। साहित्य मे वाद आग्रहमूलक न होकर मानव-हित का पोषक होता है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे मानव जीवन की विविध समस्याओ पर विचार किया गया है। गरीबी-अमीरी, शोषक-शोषित, उद्योग वर्ग, औद्योगीकरण, मजूर-मालिक, प्रजातन्त्र आदि विषयो पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अमीरी तथा पाश्चात्य सभ्यता के रग मे डूबे हुए समाज और सभ्यता के बीच तड़पते और अन्तिम सास लेने वाले व्यक्ति से लेकर, समाज मे विषाक्त फैलाने वाले पूजीवाद का उन्होने सूक्ष्म विवेचन किया है। उनके साहित्य मे विषय की विशुद्धता से अधिक उसकी गहनता दृष्टिगत होती है। अर्थनीति से इतर राजनीति मे हिसात्मक नीति का उन्मूलन करके अहिंसक नीति द्वारा देश मे शान्ति और शासकहीन राज्य की स्थापना की ओर उन्होने विशेषतया ध्यान आकर्षित किया है।

जैनेन्द्र ने मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद की विविध स्थितियो का सर्वेक्षण करते हुए अपने साहित्य मे गाधी की सर्वोदय नीति को ही स्वीकार किया है। जैनेन्द्र का साहित्य भारतीय सस्कृति का पोषक है। उनकी रचनाओ मे भारतीय सस्कृति और सुरक्षा का प्रयत्न पूर्णत लक्षित होता है। फ्रायड और मार्क्सवादी धाराए उनके साहित्य और विचारो को पूर्णत. अभिभूत नही कर

पाती। जैनेन्द्र की अनुभवगम्य दृष्टि उन्हे सिद्धान्त से अधिक व्यावहारिकता को आधार बनाने की ओर उन्मुख करती है। यही कारण है कि वे किसी प्रचलित सिद्धान्त और आदर्श को अपने अनुभव की कसौटी पर परखे बिना स्वीकार नही करते।

आर्थिक वैषम्य

जैनेन्द्र के साहित्य मे सामाजिक और आर्थिक विषमता का स्पष्ट स्वरूप दिखायी देता है। उन्होने अपने निकट की परिस्थिति से आत्मसात् होकर उसमे निहित सत्य के उद्घाटन का प्रयास किया है। बडे-बडे शहरो जहा चारो ओर चहल-पहल तथा भव्य आकर्षण के दृश्य दिखायी देते है, वही गरीबी भी दुबकी हुई कराहती रहती है। 'दिल्ली के बाजार है जहा अमीरी तनकर अपना प्रदर्शन करती फिरती है और जहा गरीबी अपने को अमीरी वाणी मे छिपाए, शर्माए चलती है।'[1] उनकी रचनाओ मे भव्यता व दारिद्रय के वैषम्य का बडा ही मर्मस्पर्शी चित्र प्राप्त होता है, जिससे जैनेन्द्र की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति तथा मानव जीवन के प्रति उनकी अटूट निष्ठा परिचय प्राप्त होता है। 'अपना प्रदर्शन अपना भाग्य'[2] शीर्षक कहानी इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण तथा उपयुक्त है। इस कहानी मे जैनेन्द्र ने धार्मिक विषमता से उत्पन्न गरीबी के कारण मौत के शिकार बनने वाले बालक का ऐसा मर्मान्तिक चित्र प्रस्तुत किया है जो सहसा पाषाण-हृदय को भी झकझोर देने मे समर्थ है। उपरोक्त कहानी मे लेखक ने साम्राज्यवादी अग्रेजो के शासन-काल की सभ्यता और सस्कृति का चित्र प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति का हित ही प्रधान है, इस दृष्टि से उन्होने मानव-पीडा के विविध स्रोतो की ओर दृष्टिपात किया है। मानव को पशु समझने वाली उस अगरेज जाति की ओर भी उन्होने इगित किया है, जो घोडे के सदृश किसी हिन्दुस्तानी व्यक्ति पर भी कोड़े मारने मे नही हिचकिचाते थे। इस कहानी मे लेखक ने विषमता का वह चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमे सपन्नता के कारण आवश्यकता से अधिक सुख-सुविधा प्राप्त करने वाले कुछ ऐसे व्यक्ति है, और कुछ ऐसे है जो या तो साहब की 'मार' से मर जाते है अथवा नैनीताल की पहाडियो मे ठडक से सिकुड कर प्राण त्यागने

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग २, चौथा स०, १९६९, दिल्ली, पृ० स० १३९।

२ 'हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानिया', स० गणेशपाण्डेय, प्र० स०, १९५६, पृ० स० ८०।

को विवश होते है ।[१] अगरेजी राज्य के अनन्तर भी गरीबी और अमीरी का का भेद कम नही हुआ है । गरीब आज भी समाज का उच्छिष्ट अग है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य अप्रेम और घृणा की गहरी खाई उत्पन्न करने का एकमात्र कारण धनिक वर्ग की झूठी शान और प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे प्रतिष्ठित माने जाने वाले व्यक्तियो को ही विशिष्टता नही प्रदान की है । उनकी दृष्टि मे निर्धन व्यक्ति भी अपनी आत्मा की उच्चता के कारण सम्माननीय स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है । यद्यपि अमीरी पाप नही है, किन्तु अमीरी के कारण ही व्यक्ति की नैतिकता और आत्म-चेतना का पतन हो जाता है । धनिक समाज मे चोर, बेईमान, चरित्रहीन व्यक्ति का सच्चा निर्णय नही हो पाता, क्योकि वे पैसे के बल पर ईमानदार और चरित्रवान् बने रहते है ।

जैनेन्द्र के साहित्य मे समाज के ऐसे वर्ग पर भी प्रकाश डाला गया है जहा सज्जनता के पीछे दुष्कर्मो की बू मिलती है । जैनेन्द्र की 'एकटाइप' तथा 'आतिथ्य' कहानी इस तथ्य की पुष्टि मे प्रस्तुत की जा सकती हे । 'एकटाइप' मे एक ऐसे व्यक्ति का परिचय प्राप्त होता है, जो सचमुच टाइप ही है । वह रेल मे सफर करते हुए पूरे समय तक 'शान्ताकारम् भुजग शयनम्' का पाठ अपने ढग से करता रहता है ।[२] उसे देखकर कोई नही विश्वास कर सकता कि उसकी सादगी के पीछे ही कोई कालिमा हो सकती है । किन्तु जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे ऐसे व्यक्तियो के जीवन का रहस्योद्घाटन किया है, जो हर भाति सम्भ्रान्त दीखते है, देखते ही उनके भीतर आदर होना स्वाभाविक है । उनके जीवन मे और उनके मन मे शका का कीडा कही नही दीखता । किन्तु थोडी आमदनी होने पर भी वे ऊपरी आमदनी के सहारे लम्बे खर्च करते है और बडे गर्व के साथ कहते है कि 'तनखाह बीस (रुपए)' से ही शुरू हुई थी, लेकिन उसी के भरोसे कौन रहता है ।'[३] ऐसे ढोगी भद्र व्यक्तियो के प्रति जैनेन्द्र के

---

१ 'बतलाने वालो ने बताया कि गरीब के मुह पर, छाती, मुट्ठियो और पैरो पर, बर्फ की हल्की-सी चादर चिपक गई थी । मानो दुनिया की बेहयाई घटाने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था ।'

—'हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानिया', सम्पा० गणेश पाण्डेय, प्र० स० ८६ ।

२ 'शान्ताकारम् भुजगशयनम् पद्मनाभ सुरेसम् ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० ३७ ।

३ जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० ३४-३६ ।

हृदय मे घोर वितृष्णा और अनुताप है, जो कि उनके साहित्य मे स्पष्टत· व्यक्त हुआ है। 'आतिथ्य' कहानी मे लेखक ने ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है, जिसकी दृष्टि मे मुनाफा और स्वार्थ प्रमुख है, मित्रता गौण है। वह अपनी आमन्त्रित अतिथि (मित्र) को अपनी गोशाला, डेरी आदि के सम्बन्ध मे सविस्तार परिचय देता है, किन्तु अतिथि-सत्कार के नाम पर मित्र के बच्चो को छटाक भर दूध देने मे वह अपनी असमर्थता ही व्यक्त करता है। प्रस्तुत कहानी द्वारा लेखक ने व्यक्ति की स्वार्थी मनोवृत्ति का बहुत ही स्पष्ट रूप व्यक्त किया है।[१]

सदाचरण

जैनेन्द्र के साहित्य मे सदाचरण की ओर भी दृष्टिपात किया गया है। जैनेन्द्र के अनुसार भ्रष्टाचार को दूर करने का ठेका लेने वाले नेता अथवा सुधारक सही रूप मे समाज का सुधार नही कर सकते, क्योकि समाज मे दुराचार और सदाचार की मान्यताए जीवन के बाह्य स्वरूप पर आधारित है। आधुनिक युग मे वही व्यक्ति सदाचारी और सम्भ्रात समझा जाता है, जिसके पास अधिकाधिक धनार्जन करने के साधन है तथा जिसका जीवन-स्तर ऊचा है। भ्रष्टाचार को दूर करने का ठेका भी ऐसे ही व्यक्ति लेते है, जिनके पास किसी भी वस्तु का अभाव नही है। अपने मे पूर्ण होकर वे सुधार करना चाहते है। आज सदाचार का मानदण्ड लम्बी-चोडी दावते देने तथा जी खोलकर स्वागत और सत्कार करने मे है। खर्च करने मे सदाचारी वृत्ति का ह्रास होता है। जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक युग मे सदाचार के प्रसार का कार्य राजनेताओ तक ही परिमित हो गया है, किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे राजनीतिक होकर सदाचारी बने रहना सम्भव नही है। उनका विश्वास है कि यदि अर्थवृद्धि से सदाचार बढता हुआ माना जाता है तो दुराचार भी आमदनी को बढाने चढाने की चेष्टा मे ही होता है।[२] 'चक्कर सदाचार का' कहानी जैनेन्द्र के विचारो की प्रतिनिधित्व करने मे पूर्णत समर्थ है। मिस्टर वर्मा की सदाचार के प्रसार की नीति के प्रति अरुचि तथा उदासीनता इसी तथ्य को द्योतित करती

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ६, पृ० स० ११५।

२. 'सदाचार बिना बढी-चढी आय के हो नही सकता। बढी-चढी आय के लिए ही दुराचार किया जाता मालूम होता है।'
—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग १०, प्र० स०, १६६६, पृ० स० १५७।

है कि वे समाज-सुधार और सुधारक-सस्थाओ मे विश्वास नही करते। उनका विश्वास है कि सुधार के लिए आवश्यक है हृदय-परिवर्तन। अन्तस् से होने वाली सुधारेच्छा ही सत्य है। ऊपर से सुधार की प्रचारक वृत्ति द्वारा भ्रष्टाचार की ही वृद्धि होती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'ससार का तथा राष्ट्र का भला नेता नही कर सकता, क्योकि उसमे राष्ट्रीय-नीतियो का बाहुल्य होता है। 'उनकी दृष्टि मे यदि सुधार सम्भव हो सकता है तो गाधी और ईसा जैसे शहीदो के द्वारा ही हो सकता है। वस्तुत अर्थ-वृद्धि द्वारा जीवन-स्तर को बढाते हुए सुधार करने के प्रयत्न मे व्यक्ति के अपने ही पाप को छिपाने का भाव लक्षित होता है।

पैसा और व्यक्ति

जैनेन्द्र की दृष्टि मे समाज के स्तर को बढाने के लिए आवश्यकता है, पारस्परिक स्नेह, दया और ममता की। उनके साहित्य का अवलोकन करते हुए यह ज्ञात होता है कि जब तक हमारा अमीरी के प्रति मिथ्या दम्भ समाप्त नही होगा, तब तक परस्परता की कल्पना करना निरर्थक है। जैनेन्द्र के हृदय मे व्यक्ति के तिरस्कार और अर्थ के सत्कार को लेकर गहरा विक्षोभ है, क्योकि ससार मे प्रायः ऐसा घटित होते हुए देखा जाता है कि मार्ग मे पडा हुआ पैसा उठा लिया जाता है और दुख से कराहता हुआ व्यक्ति छोड दिया जाता है।[१] पैसे की शक्ति का ज्ञान अबोध बच्चे को भी होता है, क्योकि पैसे से व्यक्ति का हित जुडा होता है। पैसे की शक्ति ने ही गरीब और अमीर के बीच गहरी खाई उत्पन्न कर दी है, जिससे व्यक्ति, व्यक्ति को पहचानने मे असमर्थ है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे जब तक हमारी अर्थ मानसिकता के स्वरूप मे अन्तर नही आयेगा, तब तक मानव जीवन यो ही तिरस्कृत होता रहेगा और सचित धन समाज का कोढ बना रहेगा।[२] उनकी दृष्टि मे मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि मे नकाब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नही है।[३]

पूँजीवादी दृष्टि

जैनेन्द्र के साहित्य मे पूजीपतियो के प्रति उनका गहरा आक्रोष अभिव्यक्त हुआ है। समाज मे उत्पन्न आर्थिक वैषम्य का दायित्व पूजीपतियो पर ही है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ८८।
२ जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ८८।
३. जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ९३।

पूजीपति वही है, जो पूजी बढाने की ही कला जानता है। खर्च करने की नही जानता है। इस प्रकार केन्द्रीभूत पूजी समाज के शरीर को विषाक्त करने मे सहायक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य के हेतु रक्त का समुचित प्रवाह अनिवार्य है, उसी प्रकार समाजरूपी शरीर के स्वास्थ्य के हेतु धन का सचित वितरण अनिवार्य है। सरकारी मोहर लगने पर ही पूजी की सार्थकता निर्भर करती है, अन्यथा वह स्वय मे जड है। जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओ मे 'सरकारी मोहर' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि धन के सरकारी सरक्षण को वे उचित नही मानते। 'विवर्त', 'सुखदा', 'सुनीता', 'जयवर्धन', मे पृजीपतियो की कटु आलोचना की है।[1] जैनेन्द्र के अनुसार पूजी स्वय मे दोष नही है, किन्तु उसकी वृद्धिकारक प्रवृत्ति समाज के शरीर मे गहरा घाव है। पूजी वृद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन उत्पादन-क्षेत्रो का अधिकृत करना है। पूजीपतियो की दृष्टि मे स्वार्थ की भावना बहुत अधिक होती है। प्रतिष्ठा एव ऐश्वर्य के समक्ष देश व राष्ट्र का हित भी उनकी दृष्टि मे गोरण होता है। जैनेन्द्र ने भौतिकता के रग मे रगे हुए अर्थ-वृद्धि के लिए सचेष्ट रहने वाले समाज का चित्रण करते हुए स्पष्ट किया है कि ऐसे व्यक्तियो को श्रम भी नही करना पडता और पूजी बढती जाती है। सामाजिक-सस्थाओ को दानस्वरूप कुछ सम्पत्ति देकर वे प्रेम को बहुत प्रतिष्ठित समझने लगते है, 'अनन्तर' मे आदित्य ऐसा ही व्यक्ति है, जिसका लक्ष्य जीवन-स्तर को बढाना है। धर्म, नैतिकता, परमार्थ आदि भावनाए उसकी दृष्टि मे निरर्थक है।[2]

'विवर्त' मे भी लेखक ने ऐसे परिवार का चित्रण किया है, जहा प्रतिक्षण सुख भोग मे व्यतीत होता है। उनके जीवन मे अभाव नाम की कोई वस्तु ही नही होती। वे अपने सुखमय जीवन मे कभी अपने से नीचे देखने का कष्ट नही करते। जैनेन्द्र ने ऐसे व्यक्तियो पर गहरा व्यग्य किया है। एक ओर आवश्यकता से अधिक धन होने के कारण जीवन क्रीडा बन जाता है। दूसरी ओर कुछ रुपयो के लिए बेटिया बेची जाती है। समाज मे यह भेद धन के कारण ही उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे पूजीपतियो की स्वार्थमयी दृष्टि ने समाज मे ऐसा विष फैला दिया है, जिसे दूर किए बिना समस्त मानव-सस्कृति का विनाश निश्चित है। ऐसी विषम स्थिति मे जागरूक क्रान्तिकारी समाज के भीतर व्याप्त अर्थ की शक्ति का विस्फोट करने के लिए विवश है। 'सुखदा'

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० १४५।

२ जैनेन्द्रकुमार 'अन्तर', १९६८, प्र० स०, दिल्ली।

मे लाल ऐसा ही क्रान्तिकारी व्यक्ति है, जिसकी दृष्टि मे पैसे ने अपने दात से काट-काट कर जगह-जगह समाज के शरीर मे जो घाव कर रखे है उन घावो का धोना और बहा देना ही उनका प्रमुख शौक है ।[1] धन के इस प्रकार पूजीकृत होने से गरीब गरीब होते गये है, अमीर अधिक अमीर होते गये है । इस प्रकार गरीबी और अमीरी दो ऐसे किनारे बन गये है, जिनमे मिलन अर्थात् पारस्परिक प्रेम की कोई सम्भावना ही नही दृष्टिगत होती । जैनेन्द्र के अनुसार पूजी ने व्यक्ति को आदमियत से अधिक हैसियत से जोडकर झूठी मर्यादा और प्रतिष्ठा को बढाने मे ही सहयोग दिया है । जैनेन्द्र के साहित्य द्वारा धनी वर्ग के प्रति उनकी घोर वितृष्णा का भाव लक्षित होता है ।

जैनेन्द्र के साहित्य मे पूजीपतियो के विरुद्ध हिसात्मक वृत्ति भी लक्षित होती है, किन्तु इस वृत्ति द्वारा लेखक का उद्देश्य पूजीपतियो के प्रति अपने आक्रोष को ही व्यक्त करना है । 'विवर्त' और 'सुखदा' मे हमे जैनेन्द्र के इन्ही विचारो की झलक मिलती है । जैनेन्द्र की दृष्टि मे पूजीवादी सभ्यता मे आदमी की नही, वरन् पैसे की पूजा होती है । वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि धनिक वर्ग की झूठी और छली सभ्यता के प्रति उनके मन मे तनिक भी आस्था नही है । उनका आदर्श मानव-मानव की परस्परता मे ही पूर्ण होता है । उन्होने अपने साहित्य द्वारा समाज के इस दोष को दूर करते हुए प्रेममय भावो के प्रसार का प्रयत्न किया है ।

साम्यवादी दृष्टि

उपरोक्त स्थितियो को देखते हुए प्रश्न उठता है कि क्या जैनेन्द्र अपने साहित्य द्वारा समाज की विषमता का उन्मूलन करते हुए आर्थिक समानता लाना चाहते है । क्या वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते है, जिसमे समस्त मानवता एक ही साचे मे ढली हो । इस तथ्य की पुष्टि के हेतु जैनेन्द्र के साहित्य मे साम्यवादी और समाजवादी प्रभावो को देखना अनिवार्य है ।

मार्क्सवाद एक राजनीतिक तन्त्र होने के पूर्व एक दार्शनिक दृष्टि है । कार्ल मार्क्स के अनुसार मानव जीवन की विषमता और समस्त दुखो का एकमात्र कारण आर्थिक विषमता है । अर्थ जीवन की सुख-सुविधाओ का आधार है । उसके अनुचित विभाजन के कारण ही मानव जीवन मे अशान्ति और विद्रोह की भावना जाग्रत होती है । मार्क्सवादी नीति का विश्व साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है । जिस प्रकार फ्रायड ने मनोविश्लेषणवादी

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० स० १०७ ।

विचारो के आधार पर व्यक्ति के अन्त मन को व्याख्यायित किया है, उसी प्रकार मार्क्स द्वारा बाह्य जीवन के द्वन्द्वो को 'अर्थ' के आधार पर विवेचित किया गया है।

मार्क्स की समाजवादी नीति का आदर्श समाज से आर्थिक विषमता को दूर कर मानव-एकता की स्थापना करना है, जहा शोषक और शोषित का भेद पूर्णत समाप्त हो जाय। समाजवाद द्वारा वर्गहीन समाज की स्थापना की जाती है। इसमे सारी सत्ता स्टेट मे केन्द्रित हो जाती है तथा व्यक्तिगत सत्ता को (पूजी) प्रश्रय नही मिल पाता।[१] समाजवाद का कार्य समाज मे क्रान्ति उत्पन्न करके परिवर्तन लाना है। सभ्यता का विकास तथा विज्ञान की प्रगति द्वारा जीवन को अधिकाधिक सुखमय बनाना ही समाजवादी अथवा साम्यवादी नीति का उद्देश्य है।[२] उन्होने जीवन-स्तर के बढाने पर विशेष बल दिया है। मार्क्स के अनुसार हमारा साहित्य, सस्कृति, कला आदि का उद्देश्य व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को अधिकाधिक समृद्ध बनाना है। मार्क्सवाद मे नैतिकता पर बल नही दिया गया है, उसमे भौतिकता तथा औद्योगिक प्रगति पर अधिक ध्यान आकृष्ट किया गया है तथा एकता के हेतु रक्तक्रान्ति को अनिवार्य बताया गया है।

वस्तुत समाजवाद मे सामाजिकता पर बल दिया गया है और व्यक्ति-हित की अवहेलना की गई है। उनकी दृष्टि मे 'चेतना' और भौतिक पदार्थ मे कोई अन्तर नही है। दोनो के सघर्ष के परिणामस्वरूप भी भौतिक-सभ्यता का विकास होता है।[३]

उपरोक्त साम्यवादी दृष्टि का विवेचन करते हुए जब जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मार्क्सवाद और जैनेन्द्र की दृष्टि मे मूलत अन्तर है। एक भौतिकता प्रधान है, दूसरे मे आध्यात्मिकता का प्राचुर्य है। मार्क्स की दृष्टि मे समस्या का मूल कारण आर्थिक है, जैनेन्द्र की दृष्टि मे मानव जीवन के समस्त शब्दो का मूल कारण

---

१ 'The socialism solution, as it ought to be clear from our analysis of the process of accumulation of wealth, is to abolish private ownership of the means of production and to establish over the ownership of the whole community'— J. P Narain—'Soc, Sar & Democracy—1964 Bom (P.13).

२ महात्मा गाधी 'दि वायस आफ ट्रूथ', पृ० २४२।

३. जयप्रकाश नारायण 'सोशलिज्म सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी', पृ०स० १५३।

पारस्परिक प्रेम का आधार है। जैनेन्द्र के अनुसार मार्क्स का दृष्टिकोण सराहनीय है, किन्तु वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु जिन साधनो की कल्पना करता है, वे अग्राह्य है।[१] जैनेन्द्र की दृष्टि मे मार्क्सवादी नैतिकता प्रकृत्त नही है। उनकी दृष्टि मे जबर्दस्ती धन का अपहरण करके समता लाने की नीति अनैतिकता तथा अनौचित्य को बढावा देती है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे अर्थ की आवश्यकता का निषेध नही किया है किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए धर्म को आवश्यक बताया है। जैनेन्द्र ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की समष्टि मे ही व्यक्ति की पूर्णता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अर्थप्राप्ति की धर्ममूलक दृष्टि ही मानव कल्याण में सहायक हो सकती है।[२] उनके अनुसार अर्थ धर्म के स्थान पर राजनीति से जुडकर कभी भी व्यक्ति के हित का पोषक नही हो सकता।[३]

जैनेन्द्र के साहित्य मे भी वर्गहीन समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। 'सोद्देश्य' कहानी मे वे साम्यवादियो की भाति ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहते है, 'जिसमे जो दीन है, वे दीन नही रहेगे, जिनके हाथ मे श्रम है, वे ही विधाता होगे।'[४] जैनेन्द्र के द्वारा कल्पित वर्गहीन समाज मे व्यक्ति की सम्भावनाए विनष्ट नही होती। उनका आदर्श व्यष्टि और समष्टि, भौतिक और आध्यात्मिक, धर्म और अर्थ आदि दो किनारो के मध्य सामजस्य स्थापित करना है। जैनेन्द्र के अनुसार वस्तु के अधिकाधिक उत्पादन और वितरण से ही जीवन की समस्त समस्याओ का समाधान सम्भव नही हो सकता। वे सुखमय जीवन के लिए आत्मगत सुख और शान्ति को अनिवार्य मानते है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र ही नही, वरन् विश्व के मूल मे प्रेम ही प्रधान है।[५] जैनेन्द्र पर गाधी जी के आदर्शों की गहरी छाप दृष्टिगत होती है।

---

१ 'मार्क्स से मै सर्वथा सहमत हो सकता हूं, लेकिन हिसा को गलत और अहिसा को ठीक समझने से छुट्टी नही पा सकता।'
—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ७७।

२ मार्क्स के अनुसार—'धर्म जनता के लिए अफीम है तथा समाज का रोग है।' 'मार्क्सवाद और मूल दार्शनिक प्रश्न', पृ० स० ८६, ६०।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १८८।

४, जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ७, पृ० स० ४६।

५ 'वर्गहीन समाज वह होगा, जो प्रेम की शक्ति से चलेगा।'
—जैनेन्द्रकुमार : 'समय और हम', पृ० ८३।

गाधी जी भी अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख मे विश्वास नही करते ।[1] इनकी दृष्टि मे मानवमात्र का सुखी होना अनिवार्य है ।[2] जैनेन्द्र की दृष्टि मे भारत जैसे गरीब देश के लिए जीवन स्तर बढाने से पूर्व गरीबी को दूर करना आवश्यक है ।[3]

ट्रस्टीशिप

गरीबी को दूर करने के लिए अमीरो से धन छीनने का कार्य समता की दृष्टि से पूर्णत सफल नही हो सकता। ऊपर से थोपा गया कोई भी नियम, कानून अधिक स्थायी नही होता। जब कि हृदयगत प्रेरणा चिरस्थायी होती है। गाधी जी सम्पत्ति के इस अपहरण को अनैतिक कृत्य मानते है। उनकी दृष्टि मे हृदय परिवर्तन-द्वारा ही मानवता का सच्चा हित सम्भव हो सकता है। वे यह आवश्यक नही मानते कि अमीर गरीब हो जाय और उसका धन छीन लिया जाय। उनके अनुसार व्यक्ति का निजी सम्पत्ति पर अधिकार उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार ट्रस्टी का ट्रस्ट के धन पर होता है। इस प्रकार समाज मे समानता की भावना ही उत्पन्न होती है तथा रक्तक्रान्ति की आवश्यकता भी नही पडती। गाधी जी ने साधन और साध्य दोनो की विशुद्धता पर बल दिया है। गाधी जी की इस अपरिग्रही नीति का जैनेन्द्र के साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार, 'अपना कहने को हमारे पास कुछ भी नही होना चाहिए ।'[4] जैनेन्द्र अर्थ के स्टेट मे केन्द्रित होने की नीति के प्रबल विरोधी है। ऐसे समाजवाद को वे राजकीय पूजीवाद (स्टेट कैपिटलिज्म) की सज्ञा देते है। जैनेन्द्र के अनुसार कानून के जोर से सम्पत्ति पर से निजी अधिकार उठा देने और सार्वजनिक अधिकार बना देने से जड और नौकरशाही का ऐसा कसा शिकजा ही खडा हो सकता है, जिसमे मानव-सम्भावनाए खिलने के बजाय मुरझा जायगी। इस प्रकार मानव-विकास कुल मिलाकर घाटे मे नही रहेगा।[5] जैनेन्द्र के अनुसार गरीबी और अमीरी के भेद को पूर्णत मिटाया

---

१ 'I do not believe in the doctrine of the greatest good for the greatest number '
—Mahatma Gandhi 'The Voice of Truth' (P. 230, 237)

२ 'ग्रेटैस्ट गुड आफ आल', पृ० स० २३७।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ४०६।

४. जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० सं १४२।

५ जैनेन्द्रकुमार . 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

नही जा सकता। समाज मे गरीब और अमीर सदैव बने ही रहेगे। यान्त्रिक समानता उत्पन्न करना नितात अस्वाभाविक है।[१] जैनेन्द्र के अनुसार ट्रस्टीशिप की भावना ही राष्ट्र का कल्याण करने मे समर्थ हो सकती है। धन-सचय का निषेध करते हुए उन्होने अर्थ की परमार्थोन्मुखता पर बल दिया है। पूजीपति को वे सम्पत्ति का सरक्षक ही समझना चाहते है, उपभोक्ता नही।

जैनेन्द्र के साहित्य मे ट्रस्टीशिप की भावना स्पष्टत लक्षित होती है। 'कल्याणी' तथा 'अनन्तर' मे इस तथ्य पर विशेषत बल दिया गया है। कल्याणी भगवान के मन्दिर के नाम से जो धन सचित करती है, वह परमार्थ हेतु ही प्रयुक्त होता है।[२] 'अनन्तर' मे 'शान्ति धाम' की जैसी व्यवस्था व्यक्त की गई है, उसपर गाधी जी का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। उसमे व्यक्त किया गया है कि 'समस्त एकत्रित धन समाज का है और धन वाले सिर्फ खजाची है। पूजीपति का कार्य समाज की आवश्यकतानुसार धन का व्यय करना है।'[३] 'जितना जिसके पास अतिरिक्त है, छोडना होगा।'[४] वस्तुत जैनेन्द्र ने पूजी का निषेध न करके व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृति की ही अवहेलना की है। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति भाग्य और परिस्थिति के अनुसार भी गरीब तथा अमीर दिखायी देते है। भाग्य के परिणाम का निराकरण सभव नही हो सकता। यही कारण है कि जैनेन्द्र की दृष्टि मे पूर्ण समता सभव नही हो सकती।

मार्क्स सामाजिक विषमता के मूल मे आर्थिक स्थिति को ही प्रधान मानते है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार गरीबी का सवाल एकदम आर्थिक नही है। सिर्फ धन का न होना दरिद्र का लक्षण नही है। उसका सहारा लेकर जो बेबसी और ओछाई की भावना आदमी मे समा जाती है, असली रोग तो वह है और इस लिहाज से रक और दीन का प्रश्न नैतिक प्रश्न है।[५] वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार गरीब और अमीर के मध्य की खाई भावना की विशुद्धता, प्रेम और सौहार्द्र के

---

१ 'आई डू नाट बिलीव इन डीड इन यूनिफार्मिटी'
जयप्रकाशनारायण 'सोशलिज्म सर्वोदय एण्ड डैमोक्रेसी', पृ० स० ३४०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १४३।

३ 'शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नही है, बल्कि उसके अग रूप मे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि भी अनिवार्य होते है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'अन्तर', पृ० १६१।

४ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० १६१।

५ जैनेन्द्रकुमार : 'सोच विचार', पृ० स० १३६।

द्वारा ही मिटायी जा सकती है, रक्तक्रान्ति द्वारा नही। आर्थिक दान देकर अथवा धन का हस्तान्तरण करके गरीबी को मिटाया नही जा सकता, वरन् मानव आत्मा के बीच तनाव ही उत्पन्न किया जा सकता है। वस्तुत जैनेन्द्र ने भी अपने साहित्य मे गाधीवादी साधन और साध्य की शुद्धता पर बल दिया है। उनके अनुसार समानता लाने का आधार आत्मदान है। वे आर्थिक विषमता का कारण आर्थिक स्थिति मे ही नही, हार्दिक वेदना अथवा सवेदनीयता के अभाव मे ही देखते है। वस्तुत जैनेन्द्र जिस समानता की कल्पना करते हैं, वह वस्तुगत न होकर आत्मगत है। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यक्ति हिसाब, श्रेणी, वाद, और स्तर से ऊपर भावप्रधान है।[1] बडे बनने की भावना ही पूजीवादी सभ्यता का मुख्य दोष है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'आर्थिक' की जगह पारमार्थिक मूल्य हो, तो व्यक्ति अपने पडोसी की कीमत पर बडे बनने का विचार नही अपनाएगा।[2]

मनुष्य और मशीन

जैनेन्द्र के अनुसार भौतिक स्तर को बढ़ाने के लिए नित्यप्रति नई-नई मशीनो का आविष्कार हो रहा है, किन्तु प्रतिक्रियास्वरूप मशीन मानव के अस्तित्व के लिए एक खतरा बन गई है। 'श्रम पर पूजी सवार है[3]' मशीन पूजीकृत है और मानव श्रमनिष्ठ है। इस प्रकार मानव और मशीन की समस्या श्रम और पूजी की समस्या के रूप मे लक्षित होती है।[4] जैनेन्द्र के अनुसार— 'जो सिर्फ सत् है वह जड, जिसमे साथ चित्त भी हो वह चेतन। सत् मे चित् गर्भित रूप से है ही। जिसमे चित् जगा हुआ है उसे किसी तरह सुलाया जा सके तो चेतन भी जड हो जाय। चित् जगाया जा सके तो जड भी चेतन हो जाय।'[5] किन्तु आधुनिक युग जडता-प्रधान ही हो गया है। मशीन द्वारा दुनिया को स्वर्ग बनाने की चेष्टा की जा रही है, किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे यह वृत्ति मानव की मृगतृष्णा के सदृश प्रतीत होती है। भौतिक सुख के उन्मेष मे वह बहता जा रहा है, किन्तु उसकी आन्तरिक तृषा शान्त होने को नही है। मुनाफे की

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ८४।
२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ८४।
३ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ८६।
४. जैनेन्द्रकुमार 'सोच विचार', पृ० स० २१७।
५ 'पूजी और श्रम का सवाल मुझे जड चेतन का ही सवाल लगता है।'
—जैनेन्द्रकुमार 'सोच विचार', पृ० स० २१७।

वृत्ति ही मशीन की वृद्धि को प्रोत्साहित करने का एकमात्र कारण है। जैनेन्द्र के अनुसार जब तक मनुष्य की अमोघता की ओर ध्यान आकृष्ट नही होगा, तब तक भौतिक सुख-सुविधा के द्वारा स्थापित सस्कृति और सभ्यता निर्मूल्य ही रहेगी।

आधुनिक सभ्यता बुद्धिप्रधान है, आस्था और आत्मबल उसमे से लुप्त-प्राय हो गये है। इस प्रकार साम्यवादी नीति जो कि पूजीवाद के विरोध मे फलित हुई थी वह भी अपने लक्ष्य को पूर्ण करने मे समर्थ न हो सकी। जैनेन्द्र की दृष्टि मे पूजीवाद मे यदि आर्थिक विषमता थी तो साम्यवादी विचार आर्थिक खुशहाली के लिए ही प्रत्यनशील है।[१] जैनेन्द्र के अनुसार पूजीवाद के उन्मूलन से महाजन का अस्तित्व नही रहता है, किन्तु मशीन की अधिकता मजूर और मालिक के भेद को मिटाने मे सफल नही हो सकती। 'अनन्तर' मे जैनेन्द्र ने साम्यवाद के द्वारा होने वाली प्रतिक्रिया पर प्रकाश डाला है।[२] उनकी दृष्टि मे जब तक प्रत्येक व्यक्ति सेवा-भाव से युक्त होकर छोटे-से-छोटा कार्य करने हेतु तत्पर नही होगा, तब तक व्यक्ति-भेद का दोष समाज से दूर नही किया जा सकता। वस्तुत जैनेन्द्र मानव समाज की प्रगति तथा एकता के हेतु इण्डस्ट्री को विशेष लाभप्रद नही मानते। उनके अनुसार 'इण्डस्ट्री के भरोसे देश का काम नही चलेगा।'[३] इससे समय का अपव्यय भी होता है। अतएव उद्योगो द्वारा ही मानवता का पूर्ण कल्याण सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यावसायिक उद्योग से मुक्ति प्राप्त करने के लिए छोटे-मोटे उद्योगो को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

---

१. 'पूजीवादी विचार प्रकट मे ही आर्थिक है। साम्यवादी विचार भी सर्वथा आर्थिक है, इसकी मूल प्रेरणा आर्थिक खुशहाली है। कुछ की आर्थिक सम्पन्नता के प्रति आकाक्षा और सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओ के प्रति विद्वेष जगाने से उसका काम सधता है।'
—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ११२।

२. 'सब स्वेच्छा से मजूर बन जाते तो शायद वह अलग से नही भी रहता। पर वह तो हुआ नही। सोचा कि मशीन से मजूर को हटा देगे। वह भला कैसे हो सकता था? और जो हुआ वह यह कि मजूर रहा और महाजन हटा तो उसकी जगह हजूर आकर विराजमान हो गए।'
—जैनेन्द्रकुमार : 'अनन्तर', पृ० स० ८९।

३. जैनेन्द्रकुमार : 'अनन्तर', पृ० स० ८०।

शारीरिक श्रम

जैनेन्द्र पश्चिम की व्यावसायिक दृष्टि को मानव-कल्याण मे बाधक समझते है। उनके साहित्य मे इसीलिए शारीरिक श्रम और उद्योग पर विशेषतया बल दिया गया है, तथा उन्होंने चर्खे के प्रयोग पर भी जोर दिया है। 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' तथा 'विच्छेद' आदि उपन्यास और कहानियो मे उनके आदर्शों की पूर्ण झलक दृष्टिगत होती है। 'सुनीता' मे जैनेन्द्र ने शारीरिक श्रम पर सर्वाधिक बल दिया है। हरिप्रसन्न कहता है—'पैसा श्रम का होना चाहिए, मूर्त व चातुर्य का नही।'[1] उसके अनुसार शारीरिक अस्तित्व के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर रहना अत्यन्त आवश्यक है।[2] हरिप्रसन्न स्वय को श्रमिक वर्ग का ही कहलाना चाहता है।

मानव-चरित्र और विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे वैज्ञानिक प्रगति का बहिष्कार नही किया है, तथापि उसे विशेष प्रश्रय भी नही प्रदान किया है। उनकी दृष्टि मे विज्ञान की प्रगति तभी तक ग्राह्य हो सकती है, जब तक वह मानव-चरित्र के विकास मे बाधक नही होती।[3] मानव-चरित्र का आदर्शरूप व्यक्ति के स्नेह की सुरक्षा मे है। जैनेन्द्र ऐसी सभ्यता (साम्यवादी) को कदापि स्वीकार करने के पक्ष मे नही है जो मानव मानव के मध्य दूरी उत्पन्न कर देती है। जयप्रकाशनारायण के अनुसार विज्ञान के प्रभाव के कारण ही आज पडोसी अपरिचित हो गया है।[4] 'अनन्तर' मे जैनेन्द्र के प्रगतिशील विचारो की स्पष्टता की झलक मिलती है। विज्ञान ने मानव जीवन को अधिकाधिक भौतिक बना दिया है, जिससे आध्यात्मिक दृष्टि का लोप होने लगता है। पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव से भारतीय सस्कृति की स्थिति बहुत दयनीय हो गई है। 'अनन्तर' मे विज्ञान के प्रति अपने आक्रोष को व्यक्त करती हुई वनानि कहती है कि 'विज्ञान बढे तो क्या, मानव-चरित्र को भी घटना ही

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० स० ७२।

२ जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० स० ७२।

३ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ५६।

४. 'Science has turned the whole world into a neighbourhood, but man has created a civilization that has turned even neighbours into strangers'. —Jayaprakash Narayan—'Socialism, Sarvodaya and Democracy'—(P 162).

चाहिए ।'[१] जैनेन्द्र के साहित्य मे सामाजिक व्यवस्था और प्रगति के हेतु क्रान्ति का उद्घोष दृष्टिगत होता है। यह क्रान्ति देश, समाज और राष्ट्र से अधिक अपने पडोसी को लेकर फलित होती है, क्योकि आज व्यक्ति आकाश की ओर दौड रहा है, किन्तु धरती पर अपने पडोसी से अपरिचित है। जैनेन्द्र के अनुसार 'समाज और देश का आरम्भ पडोसी से है, अन्यथा देश, समाज, प्रान्त धारणाए है, और वे कही है ही नही ।'[२]

जैनेन्द्र के साहित्य का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि विश्व के समस्त द्वन्द्वो का मूल व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति ही है। 'स्व' और 'पर' चाहे व्यक्ति, व्यक्ति के सम्पर्क मे हो अथवा राष्ट्र, और राष्ट्र के सन्दर्भ मे हो, द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न करने मे ही सहायक होते है। जैनेन्द्र के अनुसार वास्तविक प्रगति स्वार्थ-वृत्ति के निषेध मे ही सम्भव हो सकती है। सच्चे क्रान्तिकारी का उद्देश्य व्यक्ति मे परमार्थ की भावना का उदय करना है, जिससे वह मानवता के हित के लिए उन्मुख हो सकता है।[३] जैनेन्द्र की पारमार्थिक दृष्टि पूर्णतावादियो के सदृश ही मानव जाति के हित का उद्घोष करती है।[४]

प्रजातन्त्र

उपरोक्त सभी वाद—पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद व्यक्ति जीवन की समस्या का समाधान करने मे असमर्थ है। प्रजातन्त्र द्वारा यह कल्पना की जाती

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ५६ ।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, तृ० स०, पृ० ७९ ।

३ 'पशु भी स्वत्व को लेकर जन्मता है, मनुष्य ही है जो परिवार मे और समाज मे जन्म लेता है। वही है आत्म।···आदर्श के लिए जीने मे इसलिए उतनी महिमा नही है, जितनी पडोसी के लिए जीने मे है' ।

—जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ८, पृ० स० ७९ ।

४. 'जिस स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को अन्य विचारको ने शाश्वत समस्या का रूप दे दिया था, उसे पूर्णतावादियो ने मानव-सत्य के आधार पर समझाया और उसे आकर्षक, सुन्दर, व्यापक, वास्तविक तथा कल्याणकारी रूप दिया। यदि इस सत्य के आधार पर आज के विश्वव्यापी शोषक-शोषित के प्रश्न को सुलझाये तो व्यक्ति और राष्ट्र के ध्वस के बदले एक उन्नत मानव जाति का निर्माण हो जायगा, जिसे पाशविक प्रवृत्तिया छिपाये हुए है।'

—शान्ति जोशी · 'नीतिशास्त्र', पृ० २९७-९८ ।

है कि उसमे प्रजा द्वारा अर्थात् जनता द्वारा जनता के हित पर ही ध्यान दिया जायगा। बाह्य रूप मे देखने पर प्रजातन्त्र की प्रणाली राजकीय व्यवस्था के हेतु शुभ प्रतीत होती है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'मुक्तिबोध' मे प्रजातात्रिक प्रणाली की विवेचना की है। उनके अनुसार 'प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे—पार्लियामेण्ट मे बस दो-चार बरस उछलकूद करने का मौका मिल जाता है। बाहर के लोग देखते रहते है कि हमारा आदमी क्या कर रहा है, इस तरह नकेल तो बाहर हम लोगो के हाथ ही रहती है। नही तो जनतन्त्र के माने कुछ नही रह जाते।'[१] वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे प्रजातन्त्र स्वय मे सदोष नही है। उसका उद्देश्य जनता मे ही पूर्ण होता है, किन्तु प्रजातन्त्र मे भी कुछ ऐसे दोष विद्यमान हैं, जिनके कारण जनता और पार्लियामेण्ट के सदस्यो के मध्य पुन दूरी उत्पन्न हो जाती है और नेता स्वय को प्रशासक समझने लगते है। भारत जैसे गरीब देश के मुट्ठी भर नेता जनता के पैसे का सुखभोग करते है। उन्हे पर्याप्त मात्रा मे भत्ता प्राप्त होता है।[२]

प्रजातन्त्र मे 'नेपोटिज्म' की भावना को आधार मिलता है। ससद का सदस्य जनता से अधिक अपने भाई-भतीजो का सेवक होता है। परिवार के लोग अपनी प्रतिष्ठा और प्रगति के हेतु ही अपना प्रतिनिधि ससद मे भेजते है। इस दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यास 'मुक्तिबोध' के विचार बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'मुक्तिबोध' का नायक प्रसाद स्वच्छन्द रूप से जनसेवा करने के हेतु पार्लियामेण्ट से त्यागपत्र लेना चाहता है। वह अपने परिवार के लोगो की स्वार्थ प्रवृति से पूर्णत अवगत है। इसलिए वह पद से मुक्ति चाहता है। उसके पदारूढ होने से अन्य लोग अनुचित लाभ उठाना चाहते है। इसलिए उसे बार-बार पदग्रहण के हेतु विवश किया जाता है।[३] प्रसाद के पद-त्याग करने से उसके पुत्र का भविष्य नही बन सकता। समाज मे उसे प्रतिष्ठित स्थान नही प्राप्त हो सकता।[४] प्रसाद अन्तत सदस्यता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। अन्त मे जब उसे विवश होकर पद ग्रहण करना पडता है तब उसकी दृष्टि मे

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', प्र० स० १९६५, पृ० स० २४।

२ 'पार्लियामेण्ट मे हमने अच्छा खासा भत्ता अपने लिए तैयार कर रखा है, उससे पहले जानते हो और भी ठाठ थे।'

—जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० स० ४३।

३ जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० स० १३।
'आपका मन भर चुका होगा, पर हमे तो अभी सब कुछ पाना है।...'

४. जैनेन्द्रकुमार : 'मुक्तिबोध', पृ० स० ९२।

नियम और आदर्श ही प्रमुख हो जाता है, लडका या दामाद का स्वार्थ नही। वह अपनी दृढता के कारण अपने ही परिवार के लोगो की बेईमानी का रहस्योद्-घाटन करने मे सकोच नही करता। वस्तुत: जैनेन्द्र-साहित्य के माध्यम से ज्ञात होता है कि प्रजातत्र मे शाब्दिक आकर्षण अवश्य है, किन्तु मूल मे व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृति ही प्रधान है।

निष्कर्षत साहित्य मे जैनेन्द्र ने किसी भी वाद-विशेष का सहारा नही लिया है। उनकी दृष्टि मे मानव-हित की कामना ही मुख्य आदर्श है, अन्य सब वाद जो कि आदर्श का ढोग करते है, केवल अह को पुष्ट करने मे ही सफल होते है, व्यक्तिरूप मे नही। व्यक्ति-हित अथवा मानव जाति की उन्नति के हेतु 'स्व' का समर्पण अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे 'स्व' को बहुत ही व्यापक परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण किया है , उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का अपना 'स्व' होता है। यह स्वत्वमूलक भावना ही व्यक्ति मे राष्ट्रीयता की भावना को उद्भूत करती है। राष्ट्र-प्रेम मे अपनत्व का भाव अन्तर्निहित रहता है, किन्तु जैनेन्द्र जीवन के किसी भी स्तर पर स्वार्थ को नही टिकने देना चाहते। अतएव विश्व के लिए राष्ट्रीय स्वार्थ का त्याग भी मानवता का परम आदर्श है। जैनेन्द्र के साहित्य की महत्ता इस तथ्य मे समाहित है कि वे देश और राष्ट्र के लिए किसी भौगोलिक-सीमा को स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि मे सीमा-रेखा खीचने से आदर्शगत भिन्नता होते हुए भी भावनाओ मे अन्तर नही आता। इसीलिए उनके साहित्य मे बार-बार सम्पूर्ण मानव जाति के ऐक्य तथा देश-विदेश के भेद को दूर करके प्रेम पर आधृत अभेदमूलक दृष्टि की प्रतिष्ठापना की है। 'मुक्तिबोध', 'अनन्तर', 'जयवर्धन' आदि उपन्यासो तथा 'वीऽटि्स' आदि कहानियो मे यही महत्वपूर्ण दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की मानवता-वादी दृष्टि के मूल मे गाधी की अहिंसक नीति की झलक दृष्टिगत होती है। 'स्व' और 'पर' के मूल मे उनकी अहिंसात्मक दृष्टि ही प्रधान है। अहिसा और प्रेम एक ही सिक्के के दो पक्ष के सदृश है। जहाँ प्रेम है वहा हिसा का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र ने अपनी अहिंसात्मक नीति के कारण ही साम्यवादी रक्त-क्रान्ति का निषेध किया है।

सर्वोदय

जैनेन्द्र की दृष्टि मे समस्त मतवाद अहतामूलक है, क्योकि उनकी दृष्टि सीमित स्वार्थ तक ही केन्द्रित है। यदि व्यक्ति की दृष्टि मे अपना या विशिष्ट सस्था अथवा मत का ही हित प्रधान न होकर सारी मानव जाति के हित की भावना प्रधान हो तो, सारा द्वन्द्व और भेद ऐक्य और अभेद के सागर मे विलीन

होकर समाप्त हो जायगा। जैनेन्द्र के साहित्य मे ऊच-नीच, गरीब-अमीर आदि को श्रेणियो मे न विभाजित करके केवल व्यक्ति रूप मे स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे व्यक्ति अर्थात् 'सर्व' के उदय मे ही सच्ची प्रगति का भाव निहित है। सर्वोदय का एकमात्र आधार प्रेम है। यदि परस्पर प्रेम का भाव तथा अहशून्यता हो तो 'पर' के निषेध से उत्पन्न सारे द्वन्द्व स्वत ही समाप्त हो जायगे। जैनेन्द्र की मानवतावादी दृष्टि गाधी के सर्वोदय के सिद्धात से ही प्रभावित प्रतीत होती है। वस्तुत जैनेन्द्र ने अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियो का चित्रण तथा उन परिस्थितियो मे व्यक्ति के उठते-गिरते मूल्यो, बदलते परिवेशो को अपने आदर्श के धरातल पर विवेचित किया है। जैनेन्द्र के साहित्य की विषयवस्तु बहुत ही व्यापक है। यद्यपि उन्होने प्रमुखत व्यक्ति-जीवन की अन्तर्निष्ट सत्यता को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया है, तथापि व्यक्ति के चतुर्मुखी विकास की ही अवहेलना नही की है। उन्हे समाज की वे ही विचारधाराए अभिभूत कर सकी हैं, जो व्यक्ति-हित मे केन्द्रित है। इस प्रकार उनकी साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्ति को केन्द्रस्थ मानकर द्वन्द्वात्मक स्थितियो से गुजरती हुई अग्रसर होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि समस्त वादो से तटस्थ प्रतीत होते हुए भी गाधी की सर्वोदय नीति की ओर झुकी हुई है।

आध्यात्मिक मूल्यो की प्रतिष्ठा

जैनेन्द्र के अनुसार मानवमात्र की प्रगति का आधार जीवन मे आध्यात्मिक मूल्यो को प्रतिष्ठित करने मे ही निहित है। जैनेन्द्र ने अपनी नवीनतम कृति 'समय, समस्या और सिद्धान्त' मे स्पष्टत स्वीकार किया है कि—'भौतिक व्यवस्था की आवश्यकता के नीचे आध्यात्मिक मूल्यो को अपनाने से सत्ता और सम्पत्ति का स्वय अवमूल्यन होगा। आपसी प्रतिस्पर्द्धा और आपाधापी की वृत्ति अनावश्यक होकर झरेगी, तब मूल्य बाह्य पदार्थ से हटकर भीतरी चरित्र मे निष्ठ होगा और देख सकेगा कि जो समता साम्यवाद से और सामाजिक समाजवाद से लानी अशक्यप्राय थी वह अनायास भीतर से उठती जा रही है।'[1]

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और समाधान', (अप्रकाशित)।

परिच्छेद—८



जैनेन्द्र : परम्परा और प्रयोग



साहित्य में उपन्यास का महत्व

आधुनिक हिन्दी साहित्याकाश मे 'उपन्यास-कला' अपना एक अभूतपूर्व स्थान रखती है। यो कविता, नाटक और आख्यान के द्वारा मानव जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न होता रहा है, किन्तु उनमे जीवन की समग्रता और सहजता का अभाव था। व्यक्ति का जीवन प्रेम, घृणा और सहानुभूति तथा द्वेष आदि से पूर्ण है। उसमे राजनीति, समाज, धर्म, अर्थ आदि की सापेक्षता मे नाना सघर्षमूलक घटनाए घटित होती रही है। जीवन मे जहा सौन्दर्य, आकर्षण तथा शान्ति है, कुरूपता और क्षुद्रता तथा अशान्ति का भी स्थान है। मानव जीवन के इतने व्यापक परिवेश की समग्र अभिव्यक्ति एकमात्र उपन्यासों के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। मानव जीवन की यथार्थता की अभिव्यक्ति मे उपन्यास जितनी उपयुक्त विद्या है, उतनी साहित्य की अन्य कोई विद्या नही है। उपन्यास का साहित्य मे वही स्थान है, जो प्राचीनकाल मे महाकाव्य का था।

'कविता मे शब्दो पर अधिक बल दिया जाता है और उसमे एक प्रकार की अपार्थिवता रहती है।' उपन्यास हमारे परिचित समाज, व्यक्तियो और तथ्यो का चित्रण करता है, तभी तो उपन्यास पढ लेने के उपरान्त हम कह उठते है—'ऐसा ही होता है।' इस प्रकार साहित्य के अन्य रूपो की अपेक्षा उपन्यास मे जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताए, सम्भावनाए और स्वतन्त्रता,

व्यक्तित्व और मूल्यो का निरूपण अधिक होता है ।[1]

उपन्यास साहित्य की परम्परा

उपन्यास-साहित्य के आविर्भाव-काल से लेकर आज तक की रचनाओ मे परिस्थिति और आवश्यकतागत अनेकानेक मोड (परिवर्तन) दृष्टिगत होते है । प्रारम्भ मे उपन्यास और कहानिया जादू, चमत्कार आदि विचित्रताओ से पूर्ण होती थी । किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री आदि ने उपन्यास-जगत को अपनी देन से गौरवान्वित तो अवश्य किया, किन्तु उनमे ऐसी जीवन्त शक्ति नही थी जो काल की सीमा को पार करती हुई स्थायित्व ग्रहण कर सकती । उनमे न तो तत्कालीन परिस्थितियो का चित्रण है और न ही मानव जीवन की अन्तश्चेतना की वह अभिव्यक्ति जिसे सहज ही स्वीकार किया जा सके ।

उपन्यासकार प्रेमचन्द

उपन्यास-कला का पूर्ण विकसिक रूप हमे प्रेमचन्द के उपन्यासो मे ही प्राप्त होता है । प्रेमचन्द के उपन्यास जीवन के जितने व्यापक परिवेश को अपने मे समेटे हुए है, उतना किसी अन्य उपन्यासकार के द्वारा सम्भव नही हो सका है । जीवन की बहुमुखी धारा उनके साहित्य मे विविध स्रोतो से प्रवाहित हुई है । तत्कालीन जीवन की ऐसी कोई भी समस्या न थी, जो प्रेमचन्द की लेखनी के द्वारा बच निकली हो । 'घर और बाहर' अर्थात् भाई-भाई के झगडे, जमीन और जायदाद से लेकर, राजनीति और समाज की विविध समस्याए प्रेमचन्द के उपन्यासो का विषय बनी । इस प्रकार उपन्यासो द्वारा साहित्य मे विविधता का समावेश हुआ उसमे मानव जीवन से सान्निध्य स्थापित करने की प्रेरणा उद्भूत हुई ।

साहित्य का परिवर्तनशील सत्य

जिस प्रकार कथा साहित्य की परम्परा मे प्रेमचन्द के उपन्यास एक नवीन कडी के रूप मे प्राप्त हुए तथा उनके द्वारा साहित्य-जगत को एक नवीन दृष्टि, चेतना और स्फूर्ति प्राप्त हुई, उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर साहित्य मे जैनेन्द्र भी एक नवीन चेतना लेकर अवतरित हुए । काल अनन्त है । अखण्ड है किन्तु विकास अथवा प्रगति काल की सापेक्षता मे ही फलित होती है । विविध प्रवृत्तिया अपनी विशिष्टता के कारण युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करती है और

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'बीसवी शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सदर्भ' प्रथम स०, १९६६, इलाहाबाद, पृ० २५१-२५२ ।

साहित्यिक जीवन मे नवीनता का सचार करती है। कालान्तर मे वही प्रवृत्तिया प्राचीन और परम्परागत समझी जाने लगती है। काल की अनन्तता मे ही परम्परा और प्रयोग का द्वैत समाया हुआ है। मानव जीवन और काल सतत् परिवर्तनशील है। आज जो है, वह कल नही रहेगा। कल होने वाला परिवर्तन आकस्मिक न होकर स्वाभाविक ही होता है। यदि प्रगति एक स्थान पर जड-वत हो जाय, आगे का मार्ग अवरुद्ध हो जाय तो वह प्रगति, प्रगति न होकर अवनति ही सिद्ध होगी।

मुशी प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य जगत् मे अपना गोरवपूर्ण स्थान रखते है, किन्तु प्रेमचन्द की महानता के साथ काल की गति जडबद्ध नही हो सकती। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासो को ही उपन्यास-साहित्य का चर्मोत्कर्ष मानकर भावी उपन्यास-सृजन के हेतु उन्हे ही कसौटी बनाया जाय तो किचित् असगति ही प्रतीत होगी। यद्यपि यह सत्य है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो और कहानियो मे सम-सामयिकता से ऊपर उठकर मानव जीवन के सार्वभौम रूप की अभि-व्यक्ति की है तथापि प्रेमचन्द को ही साहित्य आदर्श की आधारशिला मानने से भावी साहित्य मे दृष्टिगत परिवर्तन निरर्थक सिद्ध होगा। वस्तुत काल की गति किसी केन्द्र से बद्ध नही है, वरन् सतत् प्रवाहशील है। किन्तु परिवर्तन अनिवार्य और स्वाभाविक होते हुए भी कभी भी परम्परा से पूर्णत विच्छिन्न नही होता। काल की अनन्तता के मूल मे एक शाश्वत सत्य सदैव विद्यमान रहता है, जिससे परपरा और परिवर्तन के बीच कोई एक रेखा नही खीची जा सकती। सत्य की सर्वव्याप्ति के कारण ही काल की अन्विति बनी रहती है। वस्तुत नवीनता, प्राचीनता अथवा परम्परा के निषेध का प्रतिफल नही है। परम्परा की भूमि पर ही नवजागरण की प्रतिक्रिया सम्भव होती है। जैनेन्द्र परम्परा से प्रगति का विरोध नही मानते। इसीलिए वे प्रगति मे प्रेम रखते हुए भी परम्परा के प्रति आदर रखते है। उन्हे विस्मय है उन व्यक्तियो पर जो परम्परा के विच्छेद से प्रगति का आरम्भ चाहते है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे परम्परा से ही जो पुष्पित और फलित नही होती, वह प्रगति नही है।[1] जैनेन्द्र के अनुसार 'परम्परा को वह नही जानता, नही मानता जो उसे अतीत से जडित और भावी से विहीन करता है। वस्तुत परम्परा का वह प्रेम जो उस प्रवाह को रोकता और बाधता है, गति मे अनर्गलता का हठ पैदा करता है। वह गति निरकुश और भोगवादी होती है।[2] साहित्य की विषयवस्तु और उसके

१. जैनेन्द्रकुमार . 'इतस्तत' प्र० स० १९६२, पृ० स० ४-५।
२. जैनेन्द्रकुमार 'इतस्ततः', पृ० स० ५।

आकार-प्रकार, रूप-योजना आदि मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन होने से साहित्य की आत्मा मे परिवर्तन नही होता।

साहित्य मे जैनेन्द्र का आविर्भाव

उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द के अनन्तर जैनेन्द्र साहित्य-जगत मे एक नवीन प्रयोग के रूप मे अवतरित हुए है। यद्यपि जैनेन्द्र का उद्देश्य साहित्य मे नवीन प्रयोग प्रस्तुत करना नही रहा है, और न ही वे प्रयोग के पक्ष मे है, क्योकि उनकी दृष्टि मे प्रयोग के प्रयास मे लेखक के 'अह' अथवा आग्रह की ही पुष्टि होती है, जब कि जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य अह विसर्जन की भावना को लेकर ही फलित हुआ है। आदर्श और मर्यादा के सीमित परिवेश मे आबद्ध व्यक्ति चेतना निस्तेज और जड हो चले थे। बाह्य जीवन की समस्याओ तथा उनके सुधार मे साहित्यकार इतने व्यस्त थे कि अनन्त जगत की आवाज उनसे अनसुनी-सी ही रह गई। व्यक्ति-परिवेश और परिस्थितियो मे ही नही जीवित रहता, उसे अपना जीवन रस आत्मा से ही प्राप्त होता है। व्यक्ति की वास्तविकता और उसका सत् स्वरूप उसके अन्तस् मे ही निहित होता है। सत्य के भीतर होने के कारण ही हम उस पर अपने छल का आवरण डालने मे सफल होते है। किन्तु सत्य तो अविजेय है। सत्य के अवदमित रूप का कभी-न-कभी विस्फोट अवश्यम्भावी है। प्रेमचन्द का साहित्य जीवन के समतल धरातल पर सहज गति से बहने वाली सरिता के सदृश बहता चला गया, न उसमे कभी त्वरा आई और न ही कोई अवरोध ही आया। उसमे आन्तरिक द्वन्द्व, मनस्थितिया तथा व्यक्तिगत जीवन की सत्यता और व्यक्तित्व के विधायक तत्वो की ओर दृष्टिपात नही किया गया है। वस्तुत प्रेमचन्दोत्तर काल के साहित्य मे आदर्श की भाव-धारा यथार्थ मे प्रवाहित होने के लिए मार्ग ढूढ रही थी। 'क्या होना चाहिए' से इतर 'क्या है' को जानने की उत्कट लालसा साहित्यकारो को भी पीडित करने लगी थी। ऐसी ही अभावजन्य स्थिति मे जैनेन्द्र का साहित्य एक नवीन दिशा के निर्देश के रूप मे अवतरित हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द ने भी अपने जीवन की अन्तिम रचनाओ मे यथार्थ जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति की है, किन्तु यथार्थता का पूर्ण वपन जैनेन्द्र के साहित्य मे ही सभव हो सका है।

प्रेमचन्द-साहित्य की व्यापक धारा सिमट कर एक सकरी धारा मे प्रवाहित होने लगी। व्यापकता की प्रतिक्रिया के कारण उसमे सघनता का प्रादुर्भाव हुआ। जैनेन्द्र के साहित्य की सघनता ही उन्हें बाह्य जगत से अन्तर्जगत् की गहराई की ओर ले गई। प्रकृति का नियम है कि बाह्य जीवन की समस्याओ

से घबडाया हुआ व्यक्ति एकान्त, नीरव स्थल पर आत्मचिन्तन द्वारा विश्रान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैनेन्द्र का साहित्य भी मानो आत्मचिन्तन और आत्माभिव्यक्ति का काल है। जैनेन्द्र के साहित्य मे समष्टि से व्यष्टि को पृथक करके पहचानने की चेष्टा की गयी है तथा पुन समष्टि के प्रति समर्पित होने का प्रयास दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की साहित्यिक-सरचना साहित्य-जगत मे एक नवीन चेतना का सचार करती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे नवीनता की चर्चा करते हुए यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि उन्होने सप्रयास प्रेमचन्द की साहित्यिक-दिशा मे नवीनता लाने की चेष्टा की है और व्यवस्थित तथा सुधरे हुए व्यक्ति चिन्तन मे उथल-पुथल करने का प्रयास किया है। किन्तु उपरोक्त दृष्टिकोण जैनेन्द्र के साहित्य की सच्चाई को नही व्यक्त करता। जैनेन्द्र ने विचार और तर्क के आधार पर पारम्परित विचारधारा के मार्ग को अवरुद्ध नही किया है, वरन् भाव और हार्दिकता के सहारे मानव जीवन की गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र के साहित्य का मुख्य स्वर—मानव जीवन की सहजता और सत्यता की अभिव्यक्ति मे ही मुखरित हुआ है। नित्य-प्रति के जीवन मे व्यस्त व्यक्ति असतुष्ट, उद्विग्न और उत्पीडित है, किन्तु वह नही जानता कि उसके असन्तोष का उत्स कहा गर्भित है? वह परिस्थिति के समक्ष विवश-सा बना रहता है। पारस्परिक तनाव, विद्रोह और विक्षोभ के कारण वह व्यक्ति, व्यक्ति के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर देता है, किन्तु यह जानने की चेष्टा नही करता कि ऐसा क्यो है? क्यो उसकी निजता अथवा 'स्व' 'पर' से विमुख होकर द्वेष और घृणा का कारण बनती है? जैनेन्द्र ने कस्तूरी मृग के सदृश भ्रमित मानव को स्वकेन्द्रित अहता बोध कराया, जो समस्त द्वन्द्वो का मूलाधार बनी हुई है।

व्यक्ति और अन्तश्चेतना

जैनेन्द्र के सम्बन्ध मे सामान्यत यह धारणा प्रचलित है कि उनका साहित्य व्यक्ति-प्रधान है, उसमे समाज के सघर्षो और समस्याओ का निषेध किया गया है। मानव जीवन मे होने वाली विविध सामाजिक-समस्याओ से जैनेन्द्र के साहित्य मे विमुखता दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के साहित्य को स्वरति का पोषक माना जाता है। यह सत्य है कि जैनेन्द्र ने बाह्य परिवेश से अधिक आन्तरिक द्वन्द्व को उभारने और उसके कारणो से निदान पाने का प्रयास प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि बाह्य द्वन्द्व का कारण ग्राह्य हो सके तो बाह्य स्थिति से उलझने की कोई आवश्यकता नही है। सच्चाई तल मे निहित होती है, सतह पर तल मे समा-हित अकुर ही प्रस्फुटित होते हुए देखे जाते है। जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकार

बाह्य स्थितियो से इतने उलझे हुए थे कि अन्तर्भूत सत्य को जानने का उन्हे अवसर ही नही मिला। जैनेन्द्र के साहित्य मे अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति के प्रयास को देखकर उन्हे व्यक्तिवादी नही माना जा सकता। बाद मे आग्रह का भाव समाहित होता है। परिच्छेद छ मे जैनेन्द्र के व्यक्ति सम्बन्धी विचारो पर विचार करते हुए जैनेन्द्र को व्यक्तिवादी माना गया है, किन्तु वहा भी व्यक्तिवाद का तात्पर्य केवल व्यक्ति के हित को प्रमुखता प्रदान करना था। व्यक्ति के हित मे अनन्त व्यक्ति-मानव की निजता स्वत ही समाहित हो जाती है। जैनेन्द्र का लक्ष्य धर्म, अर्थ और राजनीति के मध्य व्यक्ति के हित को प्रमुखता देना रहा है। किन्तु प्रस्तुत परिच्छेद मे जैनेन्द्र की व्यक्ति-प्रधान दृष्टि उनकी आत्मनिष्ठा की ओर इगित करती है। इसी आत्मनिष्ठा के आधार पर आलोचको ने उनके साहित्य मे सामाजिकता के अभाव की ओर सकेत किया है। इस सम्बन्ध मे जैनेन्द्र का विचार है—'अन्तश्चेतना का स्रोत अन्तर्मुखी है, किन्तु उसकी अभिमुखता कभी भीतर होती ही नही। वह सदा ही इतर के सम्बन्ध मे होती है। वह बहिर्मुख होने, लोकाभिमुख होने को बाध्य है। व्यक्तिवादिता का प्रश्न प्रतिक्रिया है, जो चेतना लोकाभिमुख है, उसमे परामुखता स्वीकार करे तब वह व्यक्तिवादिता बनती है अर्थात इन्द्रिया तो बहिर्मुख होती ही है। चेतना का कार्य दोहरा है—बाह्य का स्पर्श और उसका सवहन्। वस्तुत सारा जीवन अग्रोन्मुखी है। यदि ऐसा नही है तो यही समझना चाहिए कि कही अवरोध आ गया है और उस अवरोध का प्रश्न चिह्न प्रवाह को खोलने से है।'[1] वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे आत्मप्रधानता होते हुए भी 'पर' का निषेध नही किया गया है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धो मे जो स्वरतिमूलक भाव दृष्टिगत होता है, वह भी 'पर' की स्वीकृति मे ही हो सका है। जैनेन्द्र इस तथ्य का पूर्णत खण्डन करते है कि उन्होने सामाजिकता से परे केवल आत्मोन्मुखता को ही प्रश्रय दिया है। पारम्परिक विचारो से उनमे जो मुख्य भिन्नता दृष्टिगत होती है, वह है अन्तस् की स्वीकृति। व्यक्ति भेद के कारण अभिव्यक्ति मे भी अन्तर आना स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त अन्तश्चेतना आत्मगत सत्यता पर ही अवलम्बित है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि बाह्य जीवन का बोध अन्तर्मुखी होता हुआ पुन बाह्योन्मुख न होता तो व्यक्ति जीवन का समाज मे कोई महत्व न रहता। 'स्व' 'पर' से विच्छिन्न होकर अपनी निजता अर्थात् अहता को ही पुष्ट करता है। किन्तु जैनेन्द्र की मान्यता है कि बाह्य दृश्य या स्थिति आत्मा के स्पर्श से अधिकाधिक महिमामयी बन जाती है। स्व

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

की सार्थकता ही नही, यदि पर की स्वीकृति न हो तो। स्व और पर ही सृष्टि के आधार है। इस प्रकार पर की स्वीकृति द्वारा समाज से विमुखता का प्रश्न ही नही उठता। वरन् समाज की ओर उन्मुखता को ही प्रश्रय मिलता है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे दृष्टिगत आत्मनिष्ठा का आधार मनोविज्ञान है। जैनेन्द्र ने अपने पात्रो के अचेतन मन मे अवस्थित ग्रन्थियो को सुलझाने का प्रयास किया है। व्यक्ति के आचरण मे जो विकृति और वैचित्र्य दृष्टिगत होता है उसका कारण उसके अन्तस् मे निहित कोई ऐसी ग्रन्थि है जो उसे सहज नही होने देती। जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान के सहारे व्यक्ति की अन्त प्रकृति का उद्घाटन किया है। सामान्यत हम व्यक्ति के बाह्य आचरण मे उत्पन्न दोष के कारण व्यक्ति-विशेष को अच्छा या बुरा, दोषी या निर्दोष समझने लगते है, किन्तु यह जानने की चेष्टा नही करते कि ऐसा क्यो होता है ? जैनेन्द्र ने व्यावहारिक मनोविज्ञान के द्वारा आचरण के उत्स को जानने की चेष्टा की है। इसलिए वे कार्य से अधिक कारण पर बल देते है। 'सुखदा', 'विवर्त' और 'सुनीता' मे 'सुखदा, जितेन और हरिप्रसन्न के मन मे एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व है, जिसके कारण वे असामान्य कार्य करते है और वे यह नही समझ पाते कि उनके आचरण मे आने वाली विचित्रता और ध्वसात्मकता का क्या कारण है ? किन्तु सत्य स्पष्ट है कि विद्रोह और क्रान्ति का कारण आन्तरिक अभाव और पारस्परिक दूरी ही है। इसलिए जैनेन्द्र अपने पात्रो द्वारा होने वाली बाह्य चेष्टाओ, तोड-फोड मे कोई सार नही देखते, क्योकि सत्य तो कार्य के कारण मे समाहित होता है। वस्तुत जेनेन्द्र के अनुसार यदि कारण मे सत्य की स्वीकृति हो जाय तो कार्य की प्रतिक्रिया का प्रश्न ही नही उठता।

जैनेन्द्र : सुधारवादी नहीं

जैनेन्द्र आत्मनिष्ठ लेखक है। व्यक्ति की आतरिक स्थिति ही बाह्य द्वन्द्व अथवा समस्या का कारण है। इसलिए उपर से सुधार का प्रश्न व्यर्थ है। जैनेन्द्र स्वय को सुधारवादी नही मानते।[1] जैनेन्द्र से पूरे साहित्य की महत्ता का मूलाधार उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति मे ही अन्तर्भूत था, किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि जो सामाजिक मान्यता प्रकृतिगत सत्य को स्वीकार करने के लिए नही बनी है, वह अधिक दिन नही चल सकती। सुधार समय-सापेक्ष होता है। आज

---

१. 'सत्य को स्वीकार करके आज की मान्यताओ को उससे जोड दे तो वह मान्य हो जायगा, इसलिए मैं सुधारवादी नही हू।'

(साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त)

एक समस्या उत्पन्न होती है श्रौर उसमे सुधार की श्रावश्यकता का श्रनुभव होता है। ऐसी समस्याश्रो को लेकर लिखा गया साहित्य कार्य-विशेष मे ही जीता है श्रौर श्रपना प्रभाव डालता है, किन्तु सीमित काल के श्रनन्तर उसका महत्व समाप्त हो जाता है श्रौर वह बासी पुष्प के सदृश श्रप्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के श्रनुसार सुधार की प्रवृत्ति सम-सामयिकता को लेकर ही होती है।[1] उनकी दृष्टि मे सुधार तो सदैव बाह्य स्थितियो का ही होता है। उसमे जितना भी ऊपरी परिवेश है, उसमे कितना भी सुधार हो, हमेशा श्रपर्याप्त रहेगा। उनकी दृष्टि मे वृक्ष यदि सूखता है तो उसके ऊचे से हरियाली लाने से क्या लाभ ? श्रान्तरिक रस से ही उसमे सच्चे रूप मे हरियाली श्रा सकती है। ऊपरी श्राकार (फार्म) मे इधर-उधर से परिवर्तन श्राने से समस्या का समाधान सम्भव नही हो सकता। वस्तुत श्राज साहित्य के लिए श्रावश्यक है —चेतना का उभार श्रौर सस्कार। जैनेन्द्र के श्रनुसार साहित्य का ध्यान उसी पर केन्द्रित होना चाहिए। सामाजिक रीति-नीति पर श्रटकने से समस्या का सही निदान नही प्राप्त होता है। जो ऊपर से दिखता है वह क्षणिक तथा नश्वर है, उसमे स्थायित्व की क्षमता नही होती, श्रतएव साहित्य श्रौर जीवन के स्वास्थ्य के लिए श्रावश्यक है —प्रेम की स्वीकृति। जो मान्यताए रूढ श्रौर जड हो गई है, उनमे निश्चय ही जीवन का रस-प्रवाह रुक गया है। श्राज साहित्य की श्रावश्यकता, जीवन मे रस के प्रादुर्भाव श्रौर सचार मे ही पूर्ण हो सकती है।

वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि श्रपने पूर्ववर्ती साहित्यकारो से पूर्णत भिन्न है। वे किसी भी स्थिति को श्रात्मता से निरपेक्ष रहकर स्वीकार करने मे श्रसमर्थ है। यही कारण है कि इनके साहित्य मे, विधवा विवाह, वेश्यावृति उन्मूलन श्रादि किसी भी समस्या के सुधार का बीडा नही उठाया गया है। 'परख' मे बाल विधवा कट्टो के प्रति लेखक मे पूरी सहानुभूति है, किन्तु वे चाहते हुए भी विधवा-विवाह को सामाजिक स्तर पर सम्पन्न होते हुए नही दिखा सके है श्रौर न ही इस सम्बन्ध मे सुधार के हेतु उन्होने कोई सुदृढ कदम ही उठाया है। उनका विश्वास है कि सुधार ऊपर से थोपी हुई वस्तु है। यदि सुधार की दृष्टि श्रन्त प्रसूत हो तो उसमे दबाव के स्थान पर स्वेच्छा श्रौर सहजता का प्रादुर्भाव

---

१ 'श्राज श्रावश्यकता के दबाव मे श्राकर हम राष्ट्रीय रचना माग सकते है श्रौर उसकी श्रभ्यर्थना कर सकते हैं। लेकिन काम निकलने पर वही हमारे लिए भूल जाने लायक पदार्थ बन सकता है। जिसका ऐसा भाग्य हो, उसे साहित्य नही कहते।'

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया,' भाग ६, (भूमिका से)।

होगा। इस प्रकार किसी समस्या की प्रतिक्रिया की स्थिति नही उत्पन्न होगी और समाज मे हार्दिकता का सन्निवेश होगा। प्रेमचन्द ने सुधार पर बल दिया था, अन्तश्चेतना पर नही। किन्तु एक के सुधार से दूसरे की समस्या का समाधान नही होता। एक समस्या दूसरे स्थान पर अपना मार्ग खोजती है और सुधार की अन्तिम स्थिति की सम्भावना कही भी नही की जा सकती। किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि यदि सुधार 'मूल' (रूट काज) मे हो तो ऊपरी रूपाकार पर अटकने की आवश्यकता नही होगी।

जैनेन्द्र ने समाज की कुरीतियो और रूढियो मे सुधार न करने के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियो मे सुधार के प्रश्न को निराधार सिद्ध किया है। जैनेन्द्र की दृढ मान्यता है कि प्रेम की स्वीकृति मे शोषक और शोषित की समस्या कभी भी उत्पन्न नही हो सकती। उनके अनुसार जिसमे पीडात्मक प्रेम होगा, वह शोषक और धनाढ्य बनेगा ही नही। दूसरे के शोषण मे अपना पोषण होता है। अपना पोषण अपने-आप मे कोई सार्थकता नही रखता। अतएव शोषण को समाप्त करने के लिए शोषण की जड को ही समाप्त कर देना होगा। वस्तुत शोषण को समाप्त करने से अधिक, जहा से शोषण की वृत्ति निकलती है, उसे रोकना ही सच्ची सामाजिकता है। जैनेन्द्र के अनुसार सच्ची सामाजिक चेतना, मानव-सवेदना से पृथक हो ही नही सकती। मानव-सवेदना ही मानव जीवन का परम साध्य है। कानून और नियम के आधार पर बनी सामाजिकता मे हार्दिकता का अभाव रहता है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे ही मानव-सवेदना का स्वर मुखरित होता हुआ दृष्टिगत होता है। उन्होने 'स्व' 'पर' की समस्या को ही समस्त द्वन्द्वो का आधार माना है। जब तक स्वार्थनिष्ठ है, तब तक समाज का कल्याण सम्भव नही हो सकता। यदि 'स्व' मे 'पर' के प्रति परस्परता अथवा प्रेम की भावना का समावेश हो जाय तो विद्रोह की स्थिति ही नही उत्पन्न होगी। देश ही नही, विश्व मे व्याप्त सारे सघर्षों का मूल कारण स्वार्थ अर्थात् 'पर' का निषेध है। पर के सत्कार मे सत्य की स्वीकृति होती है, इसलिए सारे विकार सत्य मे समाहित होकर स्वत ही निर्मल हो जाते है। जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के जीवन मे 'स्व' 'पर' की सार्थकता से लेकर राष्ट्र के हित मे भी 'स्व' और 'पर' की भावना को ही आधार बनाया है। मानव जीवन की विराट् भूमि उनके साहित्य मे सिमट कर समा गई है, अन्तर यही है कि उन्हे घटनाओ का जाल नही फैलाना पड़ा, क्योकि विविधताओ का मूल एक ही रहा है। जीवन की व्याप्ति को सीमित परिवेश मे लेने के कारण उसमे प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो गई है। यही वह मापदण्ड है, जिसमे वे व्यक्ति के साथ समाज को भी

स्वीकार करते हुए अग्रोन्मुखी हुए है। अतएव यह कहना कि जैनेन्द्र के व्यक्ति समाज के साथ जूझते नही है, उचित नही प्रतीत होता है।

साहित्य : कल्याणमय

सुधारवादी लेखक के समक्ष साहित्य की उपयोगिता की दृष्टि प्रधान होती है। उपयोगिता को लक्ष्य बनाने मे व्यक्ति का अहभाव प्रदर्शित होता है। किन्तु सच्चा साहित्य अह के विसर्जन मे से ही प्राप्त हो सकता है। वस्तुत उपयोगिता को दृष्टि मे रखकर जो साहित्य-सृजन होगा, वह उत्तम साहित्य नही माना जायगा। उपयोगी होने मे साहित्य की आत्मा अथवा रसानुभूति का क्षय हो जाता है। इसीलिए साहित्य का स्वरूप शिवमय अथवा कल्याणमय होता है। कल्याणकारी होना नही है। शिवमयता ही साहित्य की सत्यता है। साहित्य भावमय होता है। उसमे कर्तृत्व का भाव नही रहता। अतएव जिसको विचार व्यक्त कहे, वह साहित्य का आदर्श नही हो सकता। साहित्य का आदर्श वही हो सकता है जो विविध वृत्ति के व्यक्तियो के लिए समान हो सके।

साहित्यगत विभिन्न वाद उपयोगितावाद को ही आधार बनाकर लिखे गए है। प्रगतिवादी साहित्य सामाजिक विषमताओ और दारिद्रय को दूर करने के प्रयत्न मे ही रचित है। मार्क्सवादी विचारक, साहित्य द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करने के हेतु प्रयत्नशील रहे है। विभिन्न वाद-प्रतिवाद अपने पक्ष का समर्थन करते है किन्तु साहित्य का सत्य वाद-विवाद के द्वन्द्व मे परिवर्तित नही होता। साहित्य का आदर्श वही हो सकता है जो सार्वभौम और सर्वकालीन हो। इस प्रकार 'स्व-पर' दोनो दृष्टियो से साहित्य के स्वरूप मे कोई अन्तर नही दृष्टिगत होता। आत्मपेक्षी भाषा मे वही आत्मलाभ है और वस्तुपेक्षी भाषा मे प्रेम-लाभ।[1] प्रेमास्पद हमसे भिन्न होकर वस्तुलक्षी हो जाता है किन्तु आत्म और वस्तु, 'स्व' और 'पर' के हित मे अन्तर नही प्रतीत होता।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का अर्थ सीमा का अस्वीकार नही है। सारे प्रयोजन सीमा के साथ है, लेकिन आस्था असीम की ओर चलती है और वही मूल पूजी है। साहित्य का प्रयोजन तत्कालीनता मे अथवा सम-सामयिकता मे परिबद्ध होना नही है। सामयिकता का स्पर्श करते हुए उसकी गति काल के पार होनी चाहिए, जहा समस्त विभक्तताए एक सत्य में समाहित हो जाती हैं। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार— 'जब हम प्रयोजन को ही अपने-आप मे पोषना और

---

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

पालना चाहते है तो वह दूसरे अथवा दूसरे के प्रयोजन के टक्कर मे आ जाता है।'[1] इस प्रकार साहित्य मे राग-द्वेष की भावना पनपने लगती है। किन्तु साहित्य का लक्ष्य प्रेम की पूजी को घनीभूत करना है। जैनेन्द्र का साहित्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर एक प्रतिक्रिया है। आत्मनिष्ठ सत्य, उनके सम्पूर्ण साहित्य मे यही स्वर मुख्य रूप से मुखरित हुआ है। वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य उसकी उपयोगिता अथवा समाज के सुधार मे निहित होकर व्यक्ति की आत्मा मे अन्तर्भूत है। जैनेन्द्र ने विषय के क्षेत्र मे ही नही, वरन् टैकनीक के क्षेत्र मे भी साहित्य-जगत मे भी सहजता का सूत्रपात किया है।

साहित्य और समाज

जैनेन्द्र की दृष्टि मे लेखक का कर्तव्य समाज के एक रुख के साथ चलना नही है। समाज के साथ चलने वाला लेखक समाज की मर्यादा के दबाव मे जीवन की सत्यता का उद्घाटन करने मे असमर्थ होता है। दबाव मे आकर साहित्य-सृजन की प्रक्रिया सत्य-असत्य का निर्णय करने मे असमर्थ होती है। इसीलिए जैनेन्द्र समाज के रुख से अधिक उसके रोग की ओर देखना अधिक उपयुक्त समझते है। जैनेन्द्र समाज की परम्परागत लकीर पीटने मे स्वय को असमर्थ पाते है। उनकी दृष्टि मे यह आवश्यक नही कि प्रत्येक रचना सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो ही। किन्तु जैनेन्द्र समाज की स्वीकृति की चिन्ता मे अपने आदर्शों से विचलित नही होते। जिस समय जैनेन्द्र ने साहित्य-जगत मे पदार्पण किया, उसी समय उन्हे लेकर बहुत टीका-टिप्पणी हुई। किंतु उन्होने अपनी आलोचना से घबडाकर समाज के समक्ष घुटने टेकना आवश्यक नही समझा। यही कारण है कि वे अन्तत अपने वैचारिक सत्य का अनुगमन करते रहे है। वस्तुत' जैनेन्द्र के अनुसार—'साहित्य पथ-निर्देश यदि करता है तो इरादे से नही पथ प्रकाशित करता है। साहित्य उस स्रोत का उद्घाटन करता है, जिसे प्रकाश का मूल कहना चाहिए। अगर उससे जीवन के सत्य को स्पष्टता प्राप्त होती है और जगत की पहेली भी स्पष्ट-सी लगती है तो यह परिणाम कहा से अनायास प्राप्त होते है, साहित्य का अपना अभिप्रेत नही है, वह तो मात्र सत्य शोध या आत्मावगाहन है।'[2]

जैनेन्द्र समाज के साथ-साथ चलने के पक्ष मे नही है। इसीलिए उनके साहित्य मे वर्तमान से ऊपर उठने की चेष्टा लक्षित होती है। समय से बध कर साहित्य

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ९, पृ० स० १३।

२. जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त'।

का स्वरूप चिरस्थायी नही हो पाता। अतएव साहित्य के लिए कालातीत होना आवश्यक है। उनकी दृष्टि मे शेष साहित्य वही है जो काल को जीतता हुआ टिका रह जाता है। साहित्य मे एक का एकत्व विलीन होकर सर्वत्व मे समा जाता है। इस प्रकार साहित्य विशिष्ट व्यक्ति और स्थिति का प्रतिनिधि न होकर सर्वकाल का हो जाता है। जहा साहित्य तत्काल की यथार्थता से आगे नही जा पाता, वहा साहित्य अपने स्थायित्व की क्षमता को खो बैठता है। साहित्य का लाभ ही यह है कि वह तत्काल को और यथार्थ को भावी सम्भावनाओ की दिशा मे आकर्षित करता है और जीवन को मार्गदर्शन देता है। यह समझना कि साहित्य मात्र सामाजिक यथार्थ का दर्पण है, जैनेन्द्र को मान्य नही है।[१] हजारो वर्षो के बाद आज भी यदि शास्त्र हमारे लिए जीवित है तो यही कारण है कि कथा के साथ ही उसमे जीवन, धर्म और जीवन कर्म को उद्घाटित करने की क्षमता विद्यमान है। इसीलिए साहित्य वह तत्व बन पाता है, जो काल की विभक्तता को अपने भाव से भर देता है तथा हममे चिरन्तन, शाश्वत सत्य को जाग्रत करता है।

जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध मे इसीलिए असामाजिकता का आरोपण किया जाता है। किन्तु जिसे हम सामान्यत असामाजिकता समझते हैं, वह जैनेन्द्र के कालातीत विचारो का द्योतक है। साहित्य मे कुछ अशो मे अतिरेक भी स्वीकार्य हो सकता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी यथार्थ सत्य की अभिव्यक्ति के हेतु साहित्य मे अतिशयोक्ति को आवश्यक माना है। यथार्थ के सत्य को यथातथ्य रूप मे ग्रहण करने से उसकी अभिव्यक्ति मे भावो की प्रभावोत्पादकता उतनी अधिक नही हो जाती, जितनी कि अतिश्योक्ति के आधार पर होती है।[२]

साहित्य और टैकनीक

भाव के अनुकूल ही जैनेन्द्र ने भावाभिव्यक्ति भी की है। जिस प्रकार विषय काल की सीमा मे परिमित नही है, उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता भी नये-पुराने के बन्धन से पूर्णत उन्मुक्त केवल अभिव्यक्ति ही है। उनकी दृष्टि मे भाव न कभी नये बनते हैं और न पुराने होते है। बनना केवल आकार का ही होता है। किन्तु आकार की भी सीमा है। लेखक के लिए यह जानना आवश्यक है कि कही भाव कला इतनी प्रमुख न हो जाय कि भाव दब जाए।

---

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२. रवीन्द्रनाथ टैगोर · 'साहित्य', पृ० २२।

नपी-तुली आकृति के भीतर साहित्य-सृजन करने से आकृति प्रधान हो जाती है और सृजन कार्य गौण हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार आत्मा सूक्ष्म है। वह अन्तर्निष्ठ है। शरीर के ढाचे से आत्मा का कोई सम्बन्ध नही है। शरीर तो केवल आत्माभिव्यक्ति का साधन है। जैनेन्द्र के साहित्य का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उन्होने उपन्यास अथवा कहानी की कला से अधिक उसके सत्य पर बल दिया है। उनका विश्वास है कि कहानी कला के ज्ञान के अभाव मे भी महानतम कृति की रचना सम्भव हो सकती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है, जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो, जिसे मानव यष्टि कहते है? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नही होता। जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है।'[१] वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार शरीर के यन्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी कोई वैज्ञानिक शिशु की सृष्टि नही कर सकता, उसी प्रकार साहित्य की टैकनीक को जानने से ही साहित्य-सृजन सम्भव नही हो सकता। जैनेन्द्र की दृष्टि मे साहित्य के सृजन के लिए आवश्यक है आत्मबोध अथवा पीडा। पीडा के रस से आर्द्र हुआ व्यक्ति ही सच्चा साहित्यकार बन सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य का उत्स उनकी पीडा मे ही समाया है, इसीलिए उनके पात्रो के जीवन मे आत्म-पीडन का भाव अधिक दृष्टिगत होता है।

आधुनिक साहित्य मे विषय से अधिक आकार को प्रधानता दी जाती है। नया-पुराना साहित्य परम्परागत साहित्य से अतिरिक्त कोई नितात नवीन स्थिति अथवा स्वरूप नही है। नया कुछ पैदा नही होता और पुराना त्याज्य नही होता, शर्त यह है कि जो स्वीकृत हो वह काल की विभक्तता से परे हो तथा उसमे उपयोगिता से अधिक सत्यता का समावेश हो। जैनेन्द्र के अनुसार नये-पुराने शब्द की सार्थकता एक स्थिति तक ही लागू हो सकती है। उसके आगे उसकी सार्थकता नही है। वे ऊपरी है तथा रूप सज्जा की अपेक्षा से हैं। जैनेन्द्र के अनुसार आरम्भ से ही नाना वादो के द्वारा विविध भावो का प्रतिनिधित्व होता रहा है, किन्तु आधुनिक काल मे झगडा प्रवृत्ति के शब्द पर ही अटक गया है, 'नयापन' अथवा पुरानापन। नयेपन के जोश ने साहित्यकारो को पुराने साहित्य के प्रति आस्थाशून्य बना दिया है। जैनेन्द्र नये-पुराने के भेद को समझने मे स्वय को असमर्थ पाते है। उनकी दृष्टि मे तो आने वाला हर क्षण ही नवीन है और बीता हुआ हर क्षण पुराना है। क्षण के पुराने और नये होने से साहित्य की अखण्डता मे कोई परिवर्तन नही होता। किन्तु आजकल नयेपन

---

१ जैनेन्द्रकुमार. 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० स० २६ (भूमिका से)।

द्वारा अद्‌भुत की सृष्टि की जा रही है। जैनेन्द्र के अनुसार अद्‌भुत के प्रति उत्सुकता सदा रही है और रहेगी। अद्‌भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ है। तीन टाग का आदमी आज यदि पैदा हो, तो क्या वह जल्दी पुराना पड जायगा...?[१] जैनेन्द्र के अनुसार नवीनता का यह प्रेम सनातन सत्य को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ है। नयापन तभी स्वाभाविक हो सकता है, जब वह अन्त प्रसूत हो। केवल रूपकार मे नवीनता लाने का प्रयत्न टिकाऊ नही होता। वह केवल फैशन का द्योतक है।

जैनेन्द्र कहानी-लेखन को कोई ऐसी साधना नही मानते जिसके लिए अभ्यास करना पडे। कहानी को अकहानी कहकर उसमे नवीनता का बोध कराना अस्वाभाविक है। उनकी दृष्टि मे कहानी की विद्या का क्षेत्र कितना व्यापक है कि उसमे कहानी और अकहानी सभी समा जाती है।

जैनेन्द्र ने अपनी कहानियो के सम्बन्ध मे स्पष्टत स्वीकार किया है कि वे कहानी-लेखन की किसी परिपाटी से बधे न रहने के कारण उनकी प्रत्येक कहानी स्वय मे सहज ही नवीन बन गयी है। 'एक कहानी दूसरी जैसी नही बनी। सब अपने-आप मे स्वतन्त्र और भिन्न बनती चली गयी है।'[२] वस्तुत जैनेन्द्र किसी परिपाटी से पृथक् सहजाभिव्यक्ति को ही अपनी कला का इष्ट मानते है। 'उनकी दृष्टि मे' हर व्यक्ति को साहित्य के क्षेत्र मे हिम्मत होनी चाहिए कि वह अपनी कलम के साथ अकेला खडा हो, गोल या झुण्ड बाधकर जीने की आदिम आदत को चुनौती देता रहे।

वस्तुत जैनेन्द्र का साहित्य कला के बोझ से दबा न होते हुए भी भाव-गरिमा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। जैनेन्द्र को हम कबीर के स्तर मे रखकर अधिक स्पष्टता से समझ सकते है। कबीर की भाषा सधुक्कडी होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से अविस्मरणीय है। जैनेन्द्र के साहित्य मे भी प्रभाव की गरिमा स्पष्टत दृष्टिगत होती है। अभिव्यक्ति मे सहजता लाने के लिए यत्र-तत्र उनकी अभिव्यक्ति रचनाओ मे चित्रमयता स्पष्टरूप से लक्षित होती है। टूटे-फूटे शब्दो के माध्यम से भी भाव-भगिमा पूर्णत. स्पष्ट हो जाती है।[३] कभी-कभी लेखक का एक ही वाक्य अन्त और बाह्य प्रकृति के द्वन्द्व को व्यक्त करने मे सक्षम

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत.', पृ० १३३।

२. जैनेन्द्रकुमार . 'कहानी . अनुभव और शिल्प', १९६७, प्र० स०, दिल्ली।

३ 'वह क्षण भर मुझे देखती सी देखती रह गयी, मानो बिंधी हिरिणी हो। बिध कर ही बाघिन बन उठी हू, लेकिन हूँ प्रकृत हिरिणी ही।

होता है, यथा—'कल्याणी' मे एक करुण मुस्कराहट के भाव से उनका चेहरा पीला पड गया। उपरोक्त करुण मुस्कराहट से कल्याणी के अन्तस् की पीडा और द्वन्द्व सहज ही मुखरित हो उठता है। जैनेन्द्र के साहित्य मे मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण वस्तुता से अधिक अन्त प्रकृति पर बल दिया गया है।

जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकारो ने मनोविज्ञान की आवश्यकता का अनुभव नही किया। जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान के शास्त्रीय रूप का अनुगमन न करके व्यावहारिक रूप को ही अपनाया है। मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण लेखक की अभिव्यक्ति के रूप मे भी अन्तर दिखायी देना स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे विषय-विस्तार और पात्रो की सख्या का अभाव है। एक क्षण की अनुभूति भी कहानी का विषय बन जाती है। व्यक्ति-विशेष के जीवन की घटना भी उपन्यास का विषय बनती है। जैनेन्द्र को उपन्यास-रचना के लिए पीढी-दर-पीढी सम्बन्ध ढूढने की आवश्यकता नही हुई। उनकी कहानी तथा उपन्यासो मे बिखराव से अधिक सघनता है। पात्र भी भावाभिव्यक्ति मे विस्तार से अधिक सकेत से काम चला लेते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे पात्रो की सख्या इतनी अधिक होती है कि उनमे बहुत से चरित्र अपने उत्कर्ष पर पहुचे बिना बीच मे ही समाप्त हो जाते है। कथा का अन्त दिखाने मे लेखक के समक्ष कठिनाई उपस्थित होती है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य मे ऐसी स्थिति नही है। उनके उपन्यासो मे पात्रो की भीड देखने को नही मिलती। मनोवैज्ञानिक लेखक के लिए ऐसा सम्भव भी नही हो सकता। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य मे अन्तर्द्वन्द्व प्रधान है।

जैनेन्द्र के पात्रो का व्यक्तित्व सदैव सम्भाव्य होता है। उनके सम्बन्ध मे पूर्ण निर्णय नही प्रस्तुत किया जा सकता। वे एक ऐसी अनबूझ पहेली है, जिन्हे समझना मुट्ठी मे बाधना है। उनके जीवन के सम्बन्ध मे अनन्त सभ्भावनाए है। वे पूर्व निश्चित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य नही है, वरन् परिवर्तनशील जीवन के सत्यो और भावी जीवन की सम्भावनाओ की ओर उत्सुकता बनाए रहते है। प्रेमचन्द ने जिस पात्र को प्रारम्भ मे जिस स्तर का गढ दिया है, वह अन्तत. उसी स्तर का बना रहेगा। आदर्श समझा जाने वाला पात्र अतत कभी भी कोई त्रुटि नही करता। जैनेन्द्र के पात्र इस कृत्रिमता से वचित है। जैनेन्द्र प्रेमचन्द के सान्निध्य मे रहते हुए भी उनकी परिपाटी का अनुसरण नही कर सके हैं। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेमचन्द अपने पात्रो के चरित्र की सक्षिप्त रूप-रेखा पहले से ही अपनी डायरी मे लिख लेते थे, यथा···'दमयन्ती साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम पर तेज बोलने वाली है। वात्सल्यमयी

पर ईर्ष्यालु…इत्यादि ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्रेमचन्द के पात्र एक निश्चित रूपाकार मे ढलकर ही विकसित होते है। उनके पात्रो के सम्बन्ध मे सब कुछ स्पष्ट होता है। इसीलिए उनका चरित्र समझने मे कठिनाई भी नही होती। वे रेलगाडी के सदृश अपनी पटरी से इधर-उधर नही जाते, क्योकि उनमे जोखिम उठाने का साहस नही है। जबकि जैनेन्द्र के पात्रो का व्यक्तित्व सस्पेस की स्थिति मे पाठक को भरमाता रहता है। उनकी अधिकाशत सभी रचनाओ मे पात्रो की यही प्रकृति है। 'त्यागपत्र' की मृणाल हो अथवा 'कल्याणी' मे कल्याणी के सम्बन्ध, हमारे मन मे सदैव एक गहरे सशय की स्थिति बनी रहती है। सीधी-सादी मृणाल के सम्बन्ध मे भला यह कल्पना की जा सकती थी कि वह कोयले वाले की गन्दी कोठरी मे जाकर रहेगी और फिर वहा भी न रुक सकेगी। कल्याणी के व्यक्तित्व मे कही भी ठहराव नही है। वह कभी कुछ कहती है और कभी कुछ। कभी लेखिका बनती है, कभी गृहिणी और कभी डाक्टरानी। इन सब से परे उसका अन्तर्द्वन्द्व बाह्य जीवन को उद्वेलित किए रहता है। उसके व्यक्तित्व का रहस्य उसके बाह्य जीवन से प्राप्त नही हो सकता। बाह्य स्थिति तो हमे एक उलझन मे डाल देती है। हम केवल 'अधे का भेद', व 'गवार', 'कह-पथा' आदि कहानियो मे हम सत्य का रहस्य जानने के लिए प्रतिपल उत्सुक रहते है। यह उत्सुकता ही जैनेन्द्र के साहित्य का प्राण है। यदि जिज्ञासा समाप्त हो जाय तो साहित्य जीवन-शक्ति शून्य प्रतीत होगा। लेखक पात्रो के साथ ही पाठक को भी मकडी के जाले के सदृश अपने मे ही उलझाये रहता है। जैनेन्द्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि उनके पात्र पाठक की सम्भावना के विपरीत क्यो न जाये, किन्तु वे पाठक की सवेदना से वचित नही हो पाते। कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जिसे 'त्यागपत्र' की मृणाल को अपनी हार्दिकता अर्पित करने मे सकोच हो अथवा कल्याणी के विक्षोभ और पीडा पर किसका मन झुझलाहट के साथ ही साहनुभूति से न भर उठेगा।

जैनेन्द्र की रचनाओ की सबसे बडी समस्या है, उसका समझ मे न आना। उनकी कुछ रचनाओ को छोडकर अधिकाशत सभी के साथ हमे कठिन साधना करनी पडती है। 'कल्याणी' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास का रसास्वादन करने के लिए उसे एक बार पढना ही पर्याप्त नही है। क्योकि जैनेन्द्र ने पात्रो के जीवन मे इतने गैप दिखाए है कि उन्हे भली प्रकार समझे बिना उनके व्यक्तित्व को समझना दूभर है। अतएव उनकी रचनाओ को पढते समय पाठक को बहुत

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', पृ० स० ३८।

सजग रहना पडता है। उनके पात्रो के साथ ही पाठक को भी भागना पडता है। एक पक्ति का भी साथ छूटा कि बस गडबड हुई। इस प्रकार उनकी रचना के प्रत्येक शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके साहित्य मे यत्र-तत्र प्रयुक्त रिक्त स्थानो (···) का बहुत ही महत्व है। 'कल्याणी' मे ऐसे उद्धरण बहुत मिलते है। इन अभावो के कारण ही जैनेन्द्र के साहित्य मे हम केवल सम्भावना पर ही चलते है।

जैनेन्द्र के उपन्यासो मे घटनाए तो अधिक नही है कि उनके पात्रो के सहारे व्यक्तित्व की गुत्थी सुलझ सके। अतएव अनुभूतिगत सूक्ष्मता एव विचार-तत्व को ग्रहण करने के लिए उनके साहित्य के अदृश्य सूक्ष्म सत्य को जानना आवश्यक है। जैनेन्द्र के अनुसार कहानी का सत्य घटना मे निश्रित होता है। अत उसे घटनाओ मे ही ढूढना पडता है, शब्दो मे नही। 'कल्याणी के व्यक्तित्व की सारी समस्या तब सहज ही स्पष्ट हो जाती है, जब कि उसकी समस्त क्रियाओ के प्रेरक अन्त मन मे हम प्रवेश करते है। वह प्रेम के अभाव मे कर्त्तव्य करते हुए भी विक्षिप्त-सी रहती है, जिसके कारण उसके जीवन मे सन्तुलन और व्यवस्था का अभाव रहता है। इसी प्रकार 'गदर के बाद', व, 'गवार', 'पान वाला' आदि कहानियो मे सत्य की पकड के अभाव मे कहानी के साथ आत्मसात् होना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन का अन्त सदैव सम्भाव्य है, निश्चित नही है, यही कारण है कि वे अपने पात्रो के जीवन की अन्तिम परिणति नही दिखाते। इस प्रकार वे अपनी रचनाओ की पूर्णता मे भी अपूर्णता का सकेत देते है। 'जानने को शेष बना ही रहता है' यही उनके जीवन-दर्शन का प्रमुख आदर्श है। व्यक्ति जानने के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु सृष्टि का सारा-का-सारा रहस्य वह नही जान सकता, क्योकि वह स्वय अपूर्ण है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे पात्रो के जीवन को अधिकाधिक साकेतिक रेखाओ के द्वारा ही व्यक्त किया गया है। कही-कही तो अन्तर्कथाओ का एक-दो शब्दो मे सकेत भर कर दिया गया है, यथा—'कल्याणी' मे कल्याणी अपने विवाह से पूर्व जीवन का वृतान्त बताती है, पर विस्तार से नही, उसमे सक्षिप्तता मे रहस्य बना ही रहता है। पाठक के मन की जिज्ञासा और भी तीव्र हो उठती है। एक स्थल पर कल्याणी कहती है—'खैर, विवाह हुआ···वह भी एक कहानी है पर छोडिए।' और वह तुरन्त विषय बदलती हुई कहने लगती है—'विवाह से स्त्री पत्नी बनती है···' इस प्रकार वह यह नही स्पष्ट करती कि उसके विवाह से सम्बन्धित कहानी क्या है ? ऐसी स्थितिया जैनेन्द्र की रचनाओ मे बहुत अधिक मिलती है। वस्तुत जैनेन्द्र की कहानियो और उपन्यासो मे

प्रत्येक व्यक्ति अपने भाव को पीता हुआ चला जाता है, किसी पर अपने भाव उडेलता नही, बिखेरता नही।'

रहस्यमयता

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो की एक बडी विशेषता, उसमे निहित गुह्यता और रहस्यमयता है। जैनेन्द्र के पात्रो का जीवन ऐसी भूल-भुलैया है जिसमे भटकने का भय सदा ही बना रहता है। उसमे घटनाओ द्वारा एक-के-बाद दूसरे सत्य का उद्‌घाटन इस प्रकार होता है कि हम क्षण भर के लिए स्तम्भित रह जाते है। रचना का आरम्भ ही कुछ ऐसे ढग से होता है कि कहानी की भावी घटना का कुछ आभास ही नही मिलता। उस दृष्टि से 'अधे का भेद' तथा 'पान वाला' कहानी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। एक सामान्य अन्धे भिखारी की कथा हमे कहा से कहा ले जाएगी, इसका हम आरम्भ मे अनुमान भी नही लगा सकते। रहस्य के खुलते ही अधा भिखारी हमारी दृष्टि मे इतना ऊचा उठ जाता है कि हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते। इसी भाति आखो मे सुरमा डाले छबीले पान वाले का क्या इतिहास हो सकता है तथा बाह्य साज-सज्जा और चचलता के पीछे एक गहन पीडा मे वह कराह रहा है, इसका हम अनुमान ही नही कर सकते। वह कौतूहल उत्पन्न करने वाला व्यक्ति अन्त मे बरबस हमारी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। वस्तुत हम इस निश्कर्ष पर पहुचते है कि जैनेन्द्र घटनाओ मे ही नही, वरन् पात्रो के व्यक्तित्व की भी रहस्यमय सृष्टि करने मे दक्ष हैं।

घटनात्मक दृष्टि से जैनेन्द्र की 'मौत का भय'...कहानी मे सत्य को इतनी सफाई और सूक्ष्मता से छिपाते हुए चलते है कि कहानी का मूल भाव उत्तरोत्तर भय मिश्रित जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। जब हमारा भय और उत्सुकता अपने उत्कर्ष पर पहुचती है तब वे अपनी इतनी सफाई के साथ धीरे से दो-एक शब्दो मे सत्य का उद्‌घाटन करके तटस्थ हो जाते है और पाठक लेखक की चतुराई और लेखन-क्षमता पर चकित हो उठता है। प्रस्तुत कहानी मे लेखक का उद्देश्य मृत्यु दिखाना नही है, वरन् उसका भय दिखाना है। जिसमे वह पूर्णत सफल होता है। इस प्रकार लेखक ने अपने वर्णन-कौशल द्वारा जीवन के महान सत्य का उद्‌घाटन किया है। मौत के भय मात्र से व्यक्ति की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है और वह सोचने को विवश हो जाता है कि मौत कितना भयकर सत्य है, जिसके भय मात्र से ही व्यक्ति की स्थिति विषम हो जाती है।

वस्तुत जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार मानव जीवन सम्भावनाओ पर

चलता है, उसी प्रकार साहित्य-प्रक्रिया भी सम्भावित ही होनी चाहिए। यही कारण है कि जैनेन्द्र की रचनाओ को पढकर ही समाप्त कर लेने पर पाठक का कर्तव्य पूरा नही हो पाता, क्योकि रचना का अन्त तो उसे स्वय ही सोचना पडता है। इस सम्बन्ध मे जैनेन्द्र ने स्पष्टत स्वीकार किया है कि 'भाग्य के प्रति जो साश्चर्य नही है, वह पहले से जीवन के भेद को यदि किसी थियरी के रूप मे मुट्ठी मे बाधे हुए है, तो पाठक को किस आकर्षण से खीच सकेगा।'[१] जैनेन्द्र की दृष्टि मे सुनिश्चित, सुनिर्दिष्ट प्रयोजन मे बाधकर होने वाली रचना साहित्यिक सृष्टि न हो सकेगी। उसमे बुद्धि का दबाव ही अधिक रहेगा। जैनेन्द्र की अधिकाश कहानी तथा उपन्यासो मे यह शैली स्पष्टत दृष्टिगत होती है। 'मास्टर जी', 'क पथा', 'पाजेब', 'आत्मशिक्षण' आदि कहानियो मे एक अज्ञात उत्सुकता अन्त की ओर खीचती है। किन्तु कभी-कभी तो अन्त मे भी सच्चाई अस्पष्ट बनी रहती है।

जैनेन्द्र की भाषा

जैनेन्द्र के साहित्य मे भाषा प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुई है। वह साधन है, साध्य नही। सत्य की पकड भाषा द्वारा सम्भव नही हो सकती।[२] सत्य को शब्दो मे सीमित करके हम सत्य की महत्ता को क्षीण कर देते है। 'कल्याणी' मे शब्द की असमर्थता की ओर इगित किया गया है। उनके अनुसार 'शब्द' बुद्धिनिर्मित 'शब्द' सतह की लहरो को गिनते है, गहराई को वे कहा नापते है? क्या वे उसको तनिक भी पाते है, जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दो मे आता है? रेखा मे बधता है?[३] जैनेन्द्र के साहित्य मे विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। भावात्मक स्थलो की अभिव्यक्ति के लिए उनके समक्ष भाषा असमर्थ-सी प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति मे मौन ही सम्भाषण की भाषा बनती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे ऐसे अनगिनत स्थल है, जहा उनके पात्र वाणी द्वारा जो कहने मे असमर्थ होते है, उसे वे मौन द्वारा निवेदित करते है। जैनेन्द्र की भाषा की सजीवता, प्रभावोत्पादकता, चक्षोपमत्ता और हार्दिकता का जो स्वरूप 'परख' मे मिलता है वह हिन्दी साहित्य-जगत मे अपना बेजोड स्थान रखता है।[४] बिहारी के द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर मे

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० स० ४०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १००।
'भाषा पहरावन है और शब्द कोई भी सार सत्य को नही पकड सकता।'

३. जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १०१।

४ जैनेन्द्रकुमार 'परख', पृ० ७५-७६।

कट्टो का मौन परिस्थिति को और भी भारी बना देता है। बिहारी के हर प्रश्न के उत्तर मे 'कट्टो चुप—सुन।' 'कट्टो सुन—मूर्तिवत्।' 'कट्टो मूर्ति-सरीखी-जडवत्।' 'कट्टो जडवत्—अचेत'''पर देखो-देखो, कट्टो अचेत मूर्छित होकर गिरी जा रही है। की स्थिति हमारे हृदय पर लगातार ऐसा प्रहार करती है कि हम कट्टो के साथ ही जडवत् हो जाते है।' शब्द के अभाव मे भी कट्टो के हृदय का उद्गार हमारे अन्तस् को भिगोता ही नही, वरन् आकण्ठ भर देता है। हम चेतनाशून्य हो उठते है। मानसिक स्थिति की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति जैनेन्द्र की प्रतिभा से ही सम्भव हो सकी है। उसमे बनावट से कोसो दूर सहजता और भावोद्रेक का अपार सागर उमडा पडता है।

जैनेन्द्र भाषा का बन्धन नही स्वीकार करते। उनकी दृष्टि मे यदि भाषा भावो की अभिव्यक्ति मे बाधक रहती है तो उसकी उपादेयता महत्वहीन हो जाती है। जैनेन्द्र ने अपनी रचना-काल के आरम्भ से ही सहज तथा भावानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया है। भाव-भाषा के जिस रूप मे बह निकला उसे उन्होने रोकने की चेष्टा नही की। 'फासी', 'एकरात' आदि कहानियो मे तथा 'अनन्तर', 'मुक्तिबोध' आदि उपन्यासो मे अगरेजी के शब्दो का ही नही, पूरे-के-पूरे वाक्यो का प्रयोग किया गया है। जो कि पात्रो के अनुकूल ही है। उसमे जबर्दस्ती हिन्दी का लोभ प्रदर्शित करना वे उचित नही समझते। जैनेन्द्र ने अगरेजी ही नही, उर्दू भाषा के शब्दो का भी प्रयोग किया है। कही-कही उन्होंने बहुत ही शायराना ढग से भाव व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पात्र, वर्ग और मन स्थिति के अनुकूल भी शब्दो का प्रयोग मिलता है, जिससे विषय की महिमा द्विगुणित हो गई है।

साराशत जैनेन्द्र के साहित्य मे मन स्थितियो का ही उद्घाटन हुआ है। जैनेन्द्र की कहानियो या उपन्यासो मे ही नही, वरन् अधिकाशत नई कहानियो मे घटनाओ का घटाटोप कम है, जिसे जैनेन्द्र शुभ मानते हैं।

उपन्यास और कहानी के सदृश्य ही जैनेन्द्र के निबन्ध भी साहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उनके निबन्धो की सबसे बडी विशेषता उनकी सरसता और व्यावहारिक विषयो की स्वीकृति मे ही लक्षित होती है। उन्होंने गम्भीर से गम्भीर विषय का विवेचन नित्य-प्रति की घटनाओ के आधार पर इतनी सरल भाषा और शैली मे किया है कि उसमे कथा की-सी रसानुभूति प्राप्त होती है। 'सोच-विचार', 'इतस्तत', 'परिप्रेक्ष', जैनेन्द्र के विचार मे सग्रहीत निबन्ध इसी शैली पर आधारित है। निबन्धो मे भी सत्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त न करके सकेत द्वारा ही काम चलाया है। 'दही और समाज', 'जरूरी

भेदाभेद', 'व्यवसाय का सत्य' आदि निबन्धो द्वारा अपरोक्ष रूप से समाज के धनी वर्ग पर प्रहार किया है।

लोकोत्तर तथा मानवेत्तर विषय

जैनेन्द्र ने लोकोत्तर तथा मानवेत्तर विषयो को अपनी रचना का विषय बना कर साहित्य मे एक नवीन कडी जोडी है। 'नीलम प्रदेश की राज-कन्या' इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। लेखक ने कल्पना की तूलिका से मानवीय बिम्ब प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। उपरोक्त कहानी का सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से कोई महत्व नही है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से नीलम देश की राजकुमारी के विचार जैनेन्द्र की सापेक्षिक (स्यादवाद) की दृष्टि के पोषक है।

मानवेत्तर कहानियो मे 'एक गौ' तथा 'दो चिडिया' और 'चिडिया की बच्ची' अत्यन्त मार्मिक और सत्यानुभूति का उद्घाटन करने वाली कहानिया है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे प्रेम मानव जीवन की ही अनिवार्यता नही है, वरन् बुद्धिशून्य पशुपक्षी भी हृदय और प्रेम की भाषा पहचानते है। जड प्रकृति को भी उन्होने प्रेम के आकर्षण से पूर्ण माना है। जैनेन्द्र कोरे विचारक ही नही है, सहृदय व्यक्ति भी है। अपार सहृदयता के कारण ही उन्हे चहचहाती चिडिया के यौवन काल मे भी मानवीय प्रेम के दर्शन होते है। छोटी चिडिया मे भी प्रेम का अकुर होता है, जो वय प्राप्त करते ही प्रस्फुटित हो उठता है। चिडिया की आत्मविभोरता और चहचहाहट के द्वारा लेखक ने उसके हृदय मे उत्पन्न होने वाले प्रेम को व्यक्त किया है। 'अम्मा-अम्मा' कहकर वह अपनी अन्तस् के प्रेम का ही उद्घाटन करती है। उसके पास भावाभिव्यक्ति के लिए शब्द नही है, किन्तु उसकी चचलता ही अभिव्यक्ति का प्रसाधन है। वह प्रकृति से केवल प्यार ही नही करती, वरन् प्यार मे मिलने वाले कष्ट को भी भूल जाती है। उसे 'शाम' के रूप मे प्रिय के दर्शन होते है। उस मिलन मे उसे अपनी भीगे तन की भी सुधि नही रहती।[1] सचमुच लेखक ने इस कहानी मे चिडिया मे एक वय प्राप्त किशोरी के प्रेमपूर्ण उल्लसित, हृदय के भावोद्गारो की बडी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसकी भावाभिव्यक्ति मे अपार स्निग्धता तथा हार्दिकता के दर्शन होते है।

'एक गौ' मे लेखक ने एक गाय के अपने मालिक के प्रति अटूट प्रेम और निस्वार्थ भाव का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है जिसे पढकर पशु मे भी निहित

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ३।

मानवीय सवेदना के दर्शन प्राप्त होते है। उपरोक्त कहानी को आद्यान्त पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो लेखक ने मनुष्य ही नही, पशु के अन्तस् मे निहित प्रेम-मणि के द्वारा अपने साहित्य को दीप्त किया है। पशु बोल तो नही सकता, किन्तु वह भी प्रेम की भाषा पहचानता है। सुन्दर गाय का स्वामी परिस्थितिवश अपनी प्यारी गाय को बेच देता है। गाय विवश होकर चली तो जाती है, किन्तु वहा स्वामी के विछोह से दुखी होने के कारण उसका दूध कम हो जाता है। अपने मालिक द्वारा कारण पूछने पर वह कहती है—'मै गौ हूँ, रुपए के लेन-देन से अधिकार का और प्रेम का लेन-देन जिस भाव से तुम्हारी दुनिया मे होता है, उसे मै नही जानती। फिर भी तुम्हारी दुनिया मे तुम्हारे लिए मानती जाऊगी।'[1] गाय का उपरोक्त कथन बरबस ही हृदय को कचोट लेता है और हमे गाय द्वारा लेखक की अतिशयभावुकता के समक्ष विनत हो जाना पडता है। वस्तुत जैनेन्द्र ने पशु-पक्षियो को भी ईश्वर का अश मानते हुए उन्हे मानवीय भावो के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'चिडिया का बच्चा' मे जैनेन्द्र ने उन्मुक्त प्रकृति की गोद मे विचरण करने वाली चिडिया की अन्त प्रकृति का बहुत ही प्रभावोत्पादक चित्रण किया है। कहानी मे लेखक ने धनी माधवराम सेठ की लोभी, अहकारी वृत्ति तथा चिडिया की बच्ची की स्वच्छन्दप्रियता और भोलेपन का चित्रण किया है। सेठ अपने बाग मे आयी हुई सुन्दर चिडिया के बच्चे को धन का प्रलोभन देकर बन्द कर लेना चाहता है। किन्तु वह तो धन-दौलत की भाषा जानती नही और कहती है—'मेरी तो छोटी-सी जान है। आपके पास सब कुछ है। तब मुझे जाने दीजिए।'[2]··· साराशत लेखक ने व्यक्ति के अह तथा चिडिया के भोले भाव को प्रतीकात्मक रूप में व्यजित किया है।

पौराणिक विषय

जैनेन्द्र ने मानवेत्तर विषयो के अतिरिक्त पौराणिक कथाओ के माध्यम से भी मानवीय भावो की अभिव्यक्ति की है। 'देवी-देवता', 'बाहुबली', 'तद्०' 'उर्ध्व बाहु', 'भद्रबाहु', 'गुरु कात्यायन', 'नारद का अर्घ्य', 'यमपुर का निवासी' 'कामनापूर्ति' आदि कहानिया विविध पौराणिक आख्यानो को लेकर मानव-जीवन के सन्दर्भ मे घटित हुई है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ३।

२ जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ३।

साहित्य-आस्तिकता

जैनेन्द्र का साहित्य उनके दार्शनिक चिन्तन से अभिभूत है। प्रेमचन्द्र मानवतावादी उपन्यासकार है। उन्होने आदर्श जीवन के लिए मानवोचित सेवा, त्याग, दया आदि गुणो को अपने पात्रो मे घटित होते हुए दर्शाया है। प्रेमचन्द ईश्वरवादी नही है। किन्तु जैनेन्द्र का साहित्य उनकी आस्तिकता से अनुप्राणित है। उनकी दृष्टि मे ईश्वर ही सत्य है और ईश्वरोन्मुख होना सत्साहित्य का लक्षण है। उनके साहित्य के रोम-रोम मे ईश्वरीय आस्था समाहित है। उन्होने अपने पात्रो के माध्यम से धर्ममय जीवनदृष्टि पर बल दिया है। वस्तुत जैनेन्द्र ने कथासाहित्य को दर्शन की भूमि पर आधारित करके साहित्य जगत को एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। उनके आध्यात्मिक मनोभाव के द्वारा जीवन के गम्भीर सत्यो का उद्घाटन हुआ है। 'व्यर्थ-प्रयत्न', 'दर्शन की राह', 'तत्सत' आदि कहानिया तथा उपन्याओ मे उनकी दार्शनिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य मे उनकी दार्शनिक दृष्टि परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से समायी हुई है।

जैनेन्द्र की दार्शनिकता के कारण कभी-कभी साहित्य के कोमल पक्षो पर ठेस भी लगी है। यथा 'खेल' कहानी मे अबोध भाई-बहनो के सरल, स्वच्छन्द, हास-परिहास और द्वन्द्व के बीच विधाता को लाकर खडा करना बहुत ही अस्वाभाविक प्रतीत होता है। तथापि कुछ स्थलो पर जैनेन्द्र की दार्शनिक दृष्टि मानव जीवन की सत्यता का उद्घाटन करने मे समर्थ है।

सामाजिक दृष्टि : चिरन्तन सत्य

जैनेन्द्र की साहित्यगत सत्यता को जानने के अनन्तर उनके विचारो के सम्बन्ध मे उत्पन्न सारा धन निराधार सिद्ध हो जाता है। जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख समस्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा विवाह मे प्रेम के प्रवेश के कारण ही उत्पन्न होती है। जैनेन्द्र से पूर्व उपन्यासकारो ने और विशेषत प्रेमचन्द ने स्त्री को भगिनी, माता और पत्नी के रूप मे ही देखा है किन्तु जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष को निर्वैयक्तिक रूप मे स्वीकार किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे नैतिक और अनैतिक की समस्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मे केन्द्रित नही है। जैनेन्द्र के पात्र प्रेमचन्द से बहुत आगे है। उन्होने घर और बाहर की समस्या द्वारा मानव जीवन के चिरन्तन प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि वे जीवन की वास्तविकता और अनुभव से इतर कल्पना और विचारो की प्रतिमूर्ति है। उनके अनुसार जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे अनुभूति की उपेक्षा करते

हुए अपने तर्क-जाल को फैलाने की चेष्टा की है, किन्तु जैनेन्द्र-साहित्य का समग्र विवेचन करने के अनन्तर यह धारणा असगत नही प्रतीत होती है ।[1]

---

१. जैनेन्द्रकुमार · 'कहानी : अनुभव और शिल्प' (विजयेन्द्र स्नातक), पृ० १६ ।

परिच्छेद—९



जैनेन्द्र और सत्य



सत्य : जिज्ञासामूलक

मानव-प्राणी जिज्ञासा प्रधान है। व्यक्ति की जिज्ञासा का प्रबलतम आकर्षण अज्ञेय अथवा अदृश्य की ओर विशेषतया दृष्टिगत होता है। आदिकाल से ही दार्शनिको मे ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा बनी रही है। ब्रह्म को हम 'नेति-नेति' कहकर समझने की चेष्टा करते है। जो दृश्य है, प्रत्यक्ष है, ज्ञेय है—वह सब अपूर्ण और मिथ्या है। अन्तिम सत्य को हम नही जान पाते। किन्तु सत्य पूर्ण ही हो सकता है। ब्रह्म पूर्ण है, उसका अस्तित्व निरपेक्ष है। वह सत्य है। जीव नश्वर और ससीम है। अतएव जो नाशवान् है वह सत्य कैसे हो सकता है? सत्य तो वही हो सकता है, जिसके साथ 'अस्ति' का भाव प्राप्त हो सके। वेद, पुराण आदि सभी धर्मशास्त्रो मे जगत को मिथ्या माना गया है। जीवन और जगत अन्तिम सत्य नही है। जिन दार्शनिको ने जगत की सत्यता पर बल दिया है, उनकी दृष्टि जीवन की व्यावहारिकता पर आधारित रही है। किन्तु जगत नाशवान् ही है।

जैनेन्द्रकुमार सत्य 'सत्' का भाव धारण करता है। सत् का तात्पर्य होने से है, जो वस्तु या शक्ति सदैव स्थिर रहती है, जिसकी न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश, उसी का होना ही वास्तविक होना है। ऐसी सत्-स्वरूप शक्ति ही 'सत्य' की सज्ञा से युक्त की जा सकती है।

परम सत्य : अद्वैत

विश्व के समस्त दार्शनिको के समक्ष प्रमुख समस्या यही रही है कि सत्य

क्या है ? सत्य को जाने बिना सारा ज्ञान-विज्ञान और दर्शन कोरी कल्पना ही प्रतीत होता है। सत्य की नीव पर ही समस्त दार्शनिक-चिन्तन आरूढ है। सत्य के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किए है। किन्तु सबकी दृष्टि मे सत्य एक है। उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई निरपेक्ष निर्णय नही दिया जा सकता। विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के विचारक तथा दार्शनिक विभिन्न मार्गो से होकर एक ही लक्ष्य की दिशा मे प्रयत्नशील है। सभी धर्मों मे, विभिन्न सज्ञाओ द्वारा एक ही सत्य की सत्यता स्वीकार की गई है। नाम अनेक है, किन्तु सब एक ही सत्य का प्रतिनिधित्व करने के कारण मूलत एक ही है। 'भारतीय वेदान्त दर्शन' मे एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य माना गया है। 'ब्रह्म सत्य जगद्मिथ्या' के सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्म की सत्यता और जगत की निस्सारता पर प्रकाश डाला गया है। शकर के अनुसार ससार का अस्तित्व केवल माया से तथा अज्ञान के कारण ही प्रतिभासित होता है, अन्यथा उसका कोई अस्तित्व नही है, केवल सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही सब कालो मे स्थाई रहता है। एक ही सत्य को विभिन्न रूपो मे रूपायित किया गया है—'एको सत्यम् विप्राबहुधा-वदन्ति।'

'परम सत्य' व्यक्ति की पहुच के परे है। वह उसे जानने के प्रयत्न द्वारा उसे जान नही सकता। उसका अनुभव ही अपूर्ण प्राणियो के लिए पर्याप्त है। इसीलिए जैनेन्द्र सत्य को चर्चा का विषय नही मानते। एकमात्र सत्य ब्रह्म है, अतएव उसकी चर्चा अथवा वाद-विवाद करना व्यर्थ है। जहा व्यक्ति की पहुच न हो वहा बरबस अपना अभिमत प्रस्तुत करने मे व्यक्ति की अहता का ही प्रकटीकरण होता है। इसीलिए जैनेन्द्र सत्य को वाद-विवाद की सकीर्णता से ऊपर मानते हैं। अपने अभिमत द्वारा हम सत्य का निषेध करते हुए मत को ही प्रमुखता प्रदान करते है। 'आत्म शिक्षण' और 'पाजेब' आदि कहानियो मे व्यक्तिगत अभिमत द्वारा सत्य को बलपूर्वक नकारने की चेष्टा की गई है, जब तक अभिमत प्रधान रहता है तब तक सत्य का बोध प्राप्त होना कठिन हो जाता है और झूठी घटना ही बलपूर्वक सत्यसिद्ध की जाती है। किन्तु अत मे सत्य मत से परे ही सिद्ध होता है।[1]

साहित्य में सत्य का स्वरूप

अधिकाशत सत्य की खोज दार्शनिको की जिज्ञासा का विषय रही है, किन्तु सत्य की खोज का प्रयत्न दार्शनिको की ही बपौती नही है। सामान्य जीवन के

१. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियां', द्वितीय भाग, पृ० २०,४३।

भी व्यक्ति अपने बाह्य जीवन के सघर्षो से इतर आत्मिक सत्य को जानने के लिए प्रयत्नशील है। कवि हो अथवा लेखक अथवा विचारक—सभी की दृष्टि मे सत्य के सम्बन्ध मे एक धारणा होती है। वह सत्य असत्य को दृष्टि मे रखकर ही साहित्य-रचना के हेतु प्रवृत्त होता है। वैसे तो सत्य के स्वरूप को जाना नही जा सकता किन्तु जीवन मे उसकी अनुभूति आवश्यक है। सत्य की अनुभूति को मन मे धारणा किए बिना साहित्य-रचना निरी कपोल-कल्पना ही प्रतीत होगी। सत्य मानव जीवन का उपजीव्य है, किन्तु सत्य के साथ सुन्दर का समावेश होने पर ही साहित्यिक सत्य की स्वीकृति होती है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि उनके साहित्य मे सत्याभिव्यक्ति की पूर्ण चेष्टा की गयी है। सत्य के सूक्ष्म और स्थूल, व्यापक और सीमित, आध्यात्मिक और भौतिक आदि विभिन्न रूपो का उन्होने विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य की व्यापकता का अवलोकन करने से पूर्व सत्य के अर्थ को जानना आवश्यक है।

जैनेन्द्र का साहित्य समग्र जीवन की अभिव्यक्ति करने मे सक्षम है। उन्होने जीवन के विविध राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि पक्षो का विवेचन करते हुए उनके गूढ सत्यो का उद्घाटन किया है। जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त सत्य को मानव की सापेक्षता मे ही जानने का प्रयास किया गया है।

सत् का भाव : सत्य

जैनेन्द्र ने सत्य के सूक्ष्म स्वरूप का विवेचन करते हुए परम्परागत भारतीय दार्शनिको की विचारधारा का ही अवलम्ब लिया है। आधुनिक विचारको और दार्शनिको मे गाधी के आदर्शो की स्पष्ट झलक जैनेन्द्र के विचारो मे दृष्टिगत होती है।[1] जैनेन्द्र के अनुसार 'सत्' का भाव सत्य है। जो है वह उसके कारण है, और उसके लिए है। 'इस प्रकार जो है वह सत् और जो उसको धारण करता है वह सत्य है।' गाधी ने भी सत्य को उपरोक्त रूप मे ही विवेचित किया है।[2] जैनेन्द्र के अनुसार एकमात्र सत्य का ही अस्तित्व सभव हो सकता है। असत् से तात्पर्य न होने से है। अतएव जो नही है, उसके होने का प्रश्न ही नही उठता। उनके अनुसार जो नही है, उसके लिए यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। जैनेन्द्र 'असत्' शब्द की स्वीकृति मे भी व्यक्ति की अहता के ही दर्शन होते है। उनकी दृष्टि मे जो नही है, उसे जोर देकर असत् कहने मे व्यक्ति के अहकार का

---

१. महात्मा गाँधी 'दि वायस आफ ट्रुथ'
२ महात्मा गाँधी. 'दि वायस आफ ट्रुथ'

प्रदर्शन होता है ।

पूर्ण सत्य : अज्ञेय

प्रश्न उठता है कि 'सत्य' क्या है ? जैनेन्द्र के अनुसार 'सत्य' निर्गुण और निराकार है ।[१] गाधी ने तो 'सत्य' को ही ईश्वर माना है । जैनेन्द्र के पास एक अकेला अनुभव ईश्वर ही है, उससे बढकर कोई सच्चाई हो नही सकती । व्यक्ति अपूर्ण है, सत्य पूर्ण और निरपेक्ष है । अतएव व्यक्ति के द्वारा अभिव्यक्त विचार भी पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति करने मे सम्भव नही हो सकता । सत्य का निरपेक्ष रूप 'सत्चिदानन्द' है । सूक्ष्म अथवा निरपेक्ष सत्य के सम्बन्ध मे भी अनेकानेक अभिमत प्रचलित है, किन्तु वे सत्य की सापेक्षता को ही व्यक्त करते है । जैन दर्शन से प्रभावित होने के कारण जैनेन्द्र ने स्यादवाद के आधार पर सत्य के सापेक्ष रूप को ही स्वीकार किया है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है, अत हम जो कुछ जान सकते है, चाह सकते है, वह एकागी सत्य है । दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है । सम्पूर्ण सत्य वह नही है,[२] वस्तुत सत्य को जानने से अधिक उसे जानने की जिज्ञासा बनाए रखना ही पर्याप्त है ।[३] जैनेन्द्र के अनुसार परमेश्वर को पूरी तरह जान लेने का आशय है—व्यक्ति का ईश्वर से ऊपर आसीन होना । वस्तुत जानने के प्रयत्न मे कुछ शेष बना ही रहता है, जो व्यक्ति की अपूर्णता का बोध कराता है । जैनेन्द्र के विचार भारतीय विद्वानो के समकक्ष ही प्रतीत होते है । अन्तिम सत्य को हम नही जान सकते । जो जानते है, वह सत्य नही है । जैनेन्द्र ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि सत्य व्यक्ति की अपूर्णता का बोध कराता है । आदर्श तो अखण्ड है, द्वैत यथार्थ मे ही व्यक्ति की पहुच है, अतएव जीवन की यथार्थता (सत्यता) ही चर्चा का विषय बनती है । सत्य तो होने मात्र मे है, जानने मे नही ।

सत्यबोध : अनुभवाश्रित

जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य को अनुभूतिगम्य और सम्भाव्य माना गया

---

१ 'सत्य के निर्गुण रूप को ईश्वर कहेंगे, वह परम कल्याणमय है ।'
—जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १३६ ।

२. 'The greatest trouble with us is that we can know and live in only bits of truth at a time and not all of it'—'Glimpse of Truth'—(p 97)

३ 'Some may know more, some may know less, what is important is to keep discovery.'—'Glimpse of Truth'—(P 22.)

है। जानना बुद्धि के द्वारा होता है, तथा तर्क द्वारा उसे प्रमाणित किया जाता है, किन्तु तर्क द्वारा उसे ही सिद्ध किया जा सकता है, जो प्रत्यक्ष और दृश्य है। अदृश्य और सूक्ष्म सत्य के सम्बन्ध मे व्यक्ति केवल कल्पना कर सकता है। 'जयवर्धन' मे इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। 'सत्य' हुनर ज्यादा है, जानना कम है। सत्य के ज्ञान को सदैव अपने अज्ञान के रूप मे ही मानते रहने मे व्यक्ति की कृतार्थता है। 'कल्याणी' मे कल्याणी सत्य की सिद्धि के लिए तर्क को सर्वथा निरर्थक रूप मे ही स्वीकार करती है। उसके अनुसार—'तर्क सच्चाई को लपेट नही पाता है, समझना कभी पूरा हो नही सकता।'[1] जिज्ञासा सत् का स्वरूप नेति-नेति रह जाता है। यही वेदान्तिक सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार 'न' कार से यह तात्पर्य नही है कि सत्य है ही नही, वरन् नेति-नेति से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति उस 'इति' को जान नही सकता, जो जानता है वह 'नेति' है। इसीलिए जैनेन्द्र सत्य के जिज्ञासु मे अपार धैर्य की आवश्यकता का अनुभव करते है। सत्य यदि व्यक्ति की पकड मे आ जाय तो वह सत्य नही रहेगा। 'कल्याणी' मे लेखक ने सत्य के सम्बन्ध मे व्यक्ति की जिज्ञासा को एक चुनौती के रूप मे स्वीकार किया है। उनके अनुसार—'जहा चुनौती नही है और जो बुद्धि के हाथो मे पालतू-सा दीखता है, वह सत्य भी नही है।'[2] अतएव आवश्यकता है कि सत्य के प्रति व्यक्ति सदा सप्रश्न और नतमस्तक रहे। 'सत्-ज्ञान' सतत जिज्ञासा मे है।[3] 'व्यर्थ प्रयत्न' मे भी सत्य को बुद्धि द्वारा जानने के प्रयत्न को अन्तत पराभूत होते हुए दर्शाया है। चिन्तामणि शून्य मे आख गडाकर उस सत्य को देखना चाहता है। काल की अनन्तता मे अदृश्य सत्य को देखने मे उसकी आस्था नही है। वह सत्य को प्रत्यक्ष देख लेना चाहता है, किन्तु सत्य तो शून्य मे है। वह शून्य को भेदना चाहता है, किन्तु उसकी बौद्धिक पिपासा शान्त नही होती। वेद, पुराण, उपनिषद् आदि का अध्ययन भी उसे सत्य का बोध कराने मे असमर्थ होता है। उसकी आन्तरिक अशान्ति बढती ही जाती है तथा उसे अपना आपा भी भारी प्रतीत होता है। अन्तत समर्पण की भावना ही उसे ईश्वर का अनुभव कराने मे समर्थ होती है।[4]

जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अज्ञात है और जिज्ञासा सदैव अज्ञात मे से आती

---

१. जैनेन्द्रकुमार : 'कल्याणी', पृ० स० ६८।
२. जैनेन्द्रकुमार : 'कल्याणी', पृ० स० ६८।
३. जैनेन्द्रकुमार : 'कल्याणी', पृ० स० ६८।
४. जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ७, पृ० स० १२६-१२९।

है, किन्तु अज्ञात की ओर से आने वाली चुनौती का सामना करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील ही हो सकता है, पूर्णत: समर्थ नही हो सकता, क्योकि जिज्ञासा समाप्त हो जाय तो जीवन का प्रवाह ही समाप्त हो जायगा। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की खोज मे डूबकर ही व्यक्ति कृतार्थ होता है। अहता के विगलन अथवा सत्य के समर्पण द्वारा ही परम सत्य की उपलब्धि का आनन्द प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्र की रचनाओ के पात्र सदैव जीवन में कर्मरत रहते हुए भी ईश्वरोन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील रहते है। विनम्रता, अहंशून्यता, और प्रेम ही सत्य की प्राप्ति के विविध सोपान है। जीवन सतत् यात्रा है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे जीवन की सार्थकता चलने मे है, रुकने मे नही।

सत्य सम्बन्धी उपरोक्त विवेचन के आधार पर पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि सत्य का सूक्ष्म रूप शाश्वत है। वह व्यक्ति की पहुच से परे है, अतएव वह चर्चा का विषय भी नही बन सकता। वह केवल अनुभूति का ही विषय हो सकता है। एकमात्र सत्य वही ईश्वर है और सब उसी के होने से सभव है।[1] प्रश्न उठता है कि जब सूक्ष्म सत्य व्यक्ति की चर्चा का विषय नही बन सकता तथा तब व्यक्ति के जीवन मे कौन-सा ऐसा सत्य है, जिसे साहित्यकार साहित्य के माध्यम से स्वीकार करता है। साहित्य का वह कौन-सा सत्य है जो जीवन को सहजता प्रदान करने मे समर्थ होता है।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के विषय परिप्रेक्षो मे सत्य की स्वीकृति भी साहित्य का इष्ट है। सूक्ष्म सत्य से परे व्यावहारिक जीवन मे सत्य की जो स्थिति स्वीकार की गयी है, उसकी स्वीकृति मे ही जीवन की सहजता सम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य मे व्यावहारिक सत्य को किसी सीमित क्षेत्र मे ही नही स्वीकार किया गया है , वरन् धर्म, समाज, राजनीति आदि मे भी निहित सत्य की अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया है। 'व्यवसाय का सत्य', 'मानव का सत्य' आदि सज्ञाओ से जैनेन्द्र ने सत्य सम्बन्धी अपने विचारो की अभिव्यजना की है।

सत्य का स्वरूप काल से तद्गत नहीं

जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य की स्थिति जानने से पूर्व उसकी विशिष्टता को जानना अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य को काल की दृष्टि से देखना अधिक विश्वसनीय नही है। उनकी दृष्टि से विभिन्न युगो के साहित्य मे दृष्टिगत होने वाले सत्य की परख काल के विभाजन के आधार पर करना उचित नहीं है। प्राय यह देखा जाता है कि एक ही काल के लेखको के सत्य सम्बन्धी

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

दृष्टिकोण मे अन्तर होता है। यथा प्रेमचन्द और जयशकर 'प्रसाद' समकालीन होते हुए भी दृष्टि-भेद के कारण काल की सापेक्षता मे रखकर विवेचित नही किए जा सकते। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य का स्वरूप लेखक की या व्यक्ति की आत्म-चेतन पर निर्भर होता है, न कि काल पर। अतएव साहित्य मे प्राप्त होने वाली सत्यता मे जो अन्तर दृष्टिगत होता है, वह लेखक की दृष्टि-भेद का ही सूचक है। सत्य कालातीत होकर ही वह स्थायित्व ग्रहण करता है।[1]

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे सत्य का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह सम-सामयिकता की माग से ऊपर है। उनके चिन्तन का परिचय बाह्य परिवेश से अधिक आन्तरिक द्वन्द्व है। यही कारण है कि उन्होने अन्तस् चेतना के आधार पर ही सत्य का निरूपण किया है। सत्य का स्थूलरूप निर्गुण न होते हुए भी बाह्य स्थितियो मे लक्षित नही होता, वरन् अन्तर्भूत होता है। इसीलिए साहित्य मे जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति के लिए अन्तर्दृष्टि अनिवार्य है।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

साहित्यक-सत्य और दार्शनिक सत्य की अपनी सीमा है। दार्शनिक दृष्टि से सत्य को जिस रूप मे ग्रहण किया जाता है, उसे ठीक उसी रूप मे साहित्य मे नही स्वीकार किया जा सकता। दर्शन का सत्य चिन्तन-प्रधान होता है। उसमे वैचारिक प्रमुख होती है, किन्तु साहित्यिक सत्य मे विचार से अधिक भाव और व्यावहारिकता का समावेश होता है। साहित्य मे कोरा सत्य केवल बौद्धिक तर्क-जाल फैलाने मे ही सहायक होता है। उसमे व्यक्ति के जीवन मे आत्मसात् होने की क्षमता नही होती। साहित्य का 'सत्य शिव और सुन्दरम्' के दो तटो के पार की स्थिति है, किन्तु पार जाने के लिए तट का निषेध भी नही हो सकता। मानो शिव और सुन्दर के तटो का स्पर्श करती हुई साहित्य-धारा सत्य के सागर मे समा जाती है। सुन्दरता और शिवत्व सत्य के पूरक है। साहित्यकार का लक्ष्य अपनी रचनाओ के द्वारा सत्योन्मुख होना ही है। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की शोध, सत्य की चर्या और सत्य की पूजा के लिए ही लेखन-कार्य होना चाहिए।[2] उनकी दृष्टि मे 'शिव और सुन्दरम्' सत्य के दो पहलू है, परन्तु अपने-आप मे सिमटते ही दोनो मे अनबन हो रहती है। साहित्य अथवा कला का प्रधान गुण सुन्दरता है। सत्य का सुन्दर रूप ही साहित्य मे ग्राह्य हो सकता है। प्रयोजनीयता साहित्य का गौण पक्ष है।

---

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२ जैनेन्द्रकुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० स० २८३।

प्रयोजनीयता अन्य शास्त्रो का इष्ट हो सकती है, किन्तु साहित्य मे कोरी प्रयोजनीयता अनिष्ट ही करती है। जैनेन्द्र के अनुसार सौन्दर्य ही वह आधार है, जिसपर कला आसीन होती है। 'प्राकृतिक सौन्दर्य'...कला के लिए प्रयोजनीय है, उस हेतु से सत्य नही है। उसके लिए तो सब प्रयोजन से कही बडे उस हेतु से सत्य है कि वे सुन्दर है। सौन्दर्य कला के लिए सत्य का प्रधान रूप है। जैनेन्द्र के अनुसार—'सौन्दर्य हमे इन्द्रियो से प्राप्त होता है और सुन्दर, शिव के उपरात सत्य वह सौन्दर्य है, जो आस्था मे ही उद्धृत है अर्थात् अगर सत्य हमको आस्था मे सुन्दर न प्रतीत होता हो तो सत्य रहेगा ही नही। सुन्दर जिसे हम कहते है वह सामने ही है।'[1] वस्तुत जैनेन्द्र की दृष्टि मे साहित्यिक सत्य का सौन्दर्य से युक्त होना अनिवार्य है। उनकी दृष्टि मे सूक्ष्म सत्य अथवा गेय सत्य या सार्थक सत्य कला के सिहासन पर नही है। साहित्य के सिहासन पर तो सत्य सुन्दर होकर ही जाने वाले है।[2]

साहित्य मे सत्य उपन्यास तथा कहानी की घटना मे निभृत एव गूढ होता है। घटना ही सत्य को मुखरित करने वाली वाणी है। घटना दीखती है, सत्य को उसमे ढूढना पडता है। इस दृष्टि से जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने पर उनके विचारो की पूर्णत पुष्टि प्राप्त होती है। जैनेन्द्र के साहित्य का आकर्षण उनकी सत्याभिव्यक्ति मे ही समाहित है।

सत्य और वास्तव

जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व उनकी दृष्टि मे सत्य और वास्तव का अन्तर जान लेना भी अनिवार्य है। स्थूलत सत्य और वास्तव ट्रूथ और फैक्ट के समानार्थी प्रतीत होते है। किन्तु शब्द सकेत मात्र है। अर्थ और भाव शब्द की गहराई मे ही प्राप्त होता है। जैनेन्द्र के अनुसार उपन्यास रचना का लक्ष्य सत्य की शोध करना है। रचना द्वारा 'स्व' की पुष्टि करना ही पर्याप्त नही है, वरन् उसके द्वारा समष्टि को सत्य की दिशा मे देना आवश्यक है। वास्तव यथार्थ से सम्बद्ध है। 'वास्तव पर सत्य की सीमा नही है। वास्तव से परे भी सत्य है, इसलिए हमारे वास्तव की सीमा हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है। वास्तव है 'फैक्ट' और सत्य है 'ट्रुथ'। जैनेन्द्र का आदर्श वास्तव से सत्य की ओर उन्मुख होना है।'[3] वास्तव सत्याभिव्यक्ति

---

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।
२ जैनेन्द्रकुमार · 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'।
३. उनकी अभिलाषा वास्तव मे नही हो सकती। उपन्यास का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव मे है। 'जीने के लिए शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप मे हो।'
—जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० स० १७०।

का आधार है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे वास्तव का जो रूप स्वीकार किया है, वह जीवन की यथार्थ भावनाओ और स्थितियो का उद्घाटन करने मे समर्थ है। उन्होने अपने जीवन मे आस-पास की घटनाओ और स्थितियो की सच्चाई को अपने साहित्य मे अभिव्यक्त किया है। उन्होने यथार्थ स्थिति को ज्यो-का-त्यो ही नही चित्रित किया है, वरन् स्थिति के मूल मे निहित सत्य को उघारने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है।

जैनेन्द्र-साहित्य का मूल्य सत्य

जैनेन्द्र के साहित्य का मूल सत्य जीवन की चिरन्तन स्थितियो को लेकर ही अभिव्यक्त हुआ है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति सामाजिक मर्यादा के भय से अपने अन्तस् के सत्य को स्वीकार करने मे अक्षम होता है। उसमे इतना साहस नही होता कि वह अपनी प्रकृति को स्वीकार कर सके। सत्य के अस्वीकार मे व्यक्तित्व मे नाना विकृतिया उत्पन हो जाती है, जिन्हे वह अपने साथ चिपटाये हुए जीता रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति का तीन चौथाई भाग भीतर है और एक चौथाई बाहर है। हम उस एक चौथाई को ही देखते है, किन्तु जो कुछ दिखता है, सत्य वही नही है। सत्य भीतर आत्मगुहा मे निभृत है। अतएव व्यक्ति जीवन की पूर्णता के हेतु सत्य की सम्पूर्णता का ज्ञान और उसकी स्वीकृति अनिवार्य है। व्यक्ति के अन्तस् मे काम और प्रेम के भाव विद्यमान होते है। जिनकी अभिव्यक्ति करने मे वह भय की जडता से बधा रहता है।

काम सृष्टि का नियम है। जैनेन्द्र के अनुसार 'सेक्स मे' से सृजन है, सृष्टि मैथुनी है, किन्तु यह समस्या भी है। समस्या सेक्स मे से नही, मिथुन मे से प्राप्त होती है। मिथुन मे से भगवतस्वरूप शिशु प्राप्त होता है और मिथुन मे से ही पाप का दबाव भी उपजता है।"[1] इसीलिए उनकी दृष्टि मे साहित्य के समक्ष यही ध्रुव पहेली है और यही चुनौती है, जिसके उत्तर मे साहित्य-रचना हो सकती है। वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध मे सारा भ्रम एकमात्र इसी समस्या को लेकर ही उठता है। उनके साहित्य मे काम और प्रेम की स्वीकृति एक ऐसी जाटिल पहेली है जो सदैव अस्पष्ट ही बनी रहती है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे काम और प्रेम की समस्या को साहित्य मे एक नवीन प्रयोग माना जाता है, किन्तु जिसे हम प्रयोग समझते है, वह सत्य ही है। प्रयोग

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

परम्परा मे एक कडी है, किन्तु सत्य तो सनातन है। यो सत्य का स्वरूप भी परिवर्तनीय हो सकता है, किन्तु स्वरूप के परिवर्तन से आत्मा की स्थिति मे कोई अन्तर नही आता। जैनेन्द्र के साहित्य मे काम और प्रेम को सत्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। अतएव उनकी रचनाओ मे गर्भित काम और प्रेममूलक सत्यता को जानना अनिवार्य है। यद्यपि पचम परिच्छेद मे उपर्युक्त तथ्य की ओर इगित किया गया है, तद्यपि जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य का विश्लेषण करते हुए उनकी समग्र दृष्टि का विवेचन अनिवार्य प्रतीत होता है। जैनेन्द्र ने जीवन की विविधता मे प्रेममूलक सत्य की ऐसी एकसूत्रता की सृष्टि की है, जिसमे समस्त पार्थक्य प्रेम द्वारा उद्भूत ऐक्य मे विलीन हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन का सार हृदयगत पीडा मे निहित है। पीडा अथवा व्यथा ही वह पूँजी है, जिसे अपने मे समेटकर जीवन सार्थक हो जाता है। पीडा मे प्रेम का रस है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन मे 'परम दु ख' का क्षण ही परम सुख का क्षण है। जिस क्षण हम अत्यधिक त्रास पा रहे होते है, उसी समय मानो रस की परम अनुभूति होती है। अतएव दु ख मे ही जीवन का स्वाद है। पीडा विरह उद्भूत है। विरह मे ही प्रेम का आकर्षण है। प्रेम मे प्राप्ति अथवा दायित्व का भाव न होकर विसर्जन का भाव होता है। प्रेम मे काम अन्तर्भूत है। काम की स्वीकृति मे ही प्रेम की पूर्णता है। पूर्णता अर्थात् सत्य की प्राप्ति के मार्ग मे हर कदम अपनी सार्थकता रखता है। प्रेम की पूर्णता के मार्ग मे काम की स्वीकृति अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने स्पष्टत स्वीकार किया है कि 'प्रेम समग्र होकर इन्द्रियो से स्वतन्त्र या इन्द्रियातीत हो जायेगा। फिर वहा प्रतिस्पर्द्धा का सवाल ही क्यो रहना चाहिए ? पति-पत्नी सम्बन्ध सामाजिक है, इन्द्रियावलम्बी है, प्रेम भरपूर होते होते इतना अधिक हो जाता है कि आलम्बन की उसे आवश्यकता नही रहती।'[1] अतएव प्रेम की पूर्णता के लिए इन्द्रियो को मार्ग रूप मे स्वीकार करना अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम मे तीखापन आने से ही अतीन्द्रियता नही प्राप्त हो सकती। अतीन्द्रिय प्रेम मे शरीर को और इन्द्रियो को कृतकामता अनुभव होनी चाहिए।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे सत्य को सहर्ष स्वीकार किया है। सकोच अथवा लज्जा के कारण तिरस्कार नही किया है। उनके साहित्य मे दृष्टिगत प्रेम के मूल मे शरीर और आत्मा की पूर्णता ही दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार यह आत्मचेष्टा प्रत्येक काम और भोग मे से अतृप्ति ही बनी चली जाती है। अनवरत रूप से इस स्थिति से गुजरती हुई वह पाती है कि उपलक्ष्य फिर

---

१ जैनेंद्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० १००।

लुप्त ही बना रह गया है । इस स्थिति मे से ही एक दिन काम को अकाम हो जाना है ।[१] वस्तुत कामेन्द्रियो के मार्ग से आत्मोन्मुखता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है ।

सत्य उत्सर्ग मे

जैनेन्द्र के अनुसार भोग अथवा सम्भोग के मूल मे जो दोष है, वह एक का एक से सम्बन्ध होने के कारण ही सम्भव है, यदि एक का सम्बन्ध एक तक सीमित न होकर सर्व मे प्राप्त हो जाय तो उसमे दायित्व का भाव शिथिल पड जायगा । दायित्व मे ही काम की तीव्रता जाग्रत होती है । किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे जब एक का एक से अनेक के साथ अभिन्नता का सम्बन्ध हो, तब फिर एक के साथ सम्बन्ध की व्यापकता नही रह जाती । उनकी दृष्टि मे अपने को देने और अन्य को पाने मे भोग तो बीज रूप मे रहेगा ही । उसकी सीमितता काम की न्यूनता है, क्योकि वहा एक का एक से सम्बन्ध ही काम प्रेम की अभिव्यक्ति का रूप माना जा सकता है । परन्तु उनकी दृष्टि मे काम ही प्रेम मे बाधा है । प्रेम उत्तरोत्तर अतीन्द्रिय होने के लिए है । जैनेन्द्र के साहित्य मे विवाह मे प्रेम की स्वीकृति की सार्थकता दायित्व को समाप्त करने मे ही है। विवाह के द्वारा व्यक्ति यदि एक से बध जाय अथवा एक को अपने 'स्व' से इतना बाध ले कि उसे सर्व तक फैलने न दे तो वह विवाह जकडबन्द हो जायगा । जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का सत्य स्वार्थ मे न होकर उत्सर्ग मे है । उनकी दृष्टि मे भोग मे 'स्व' की किरकिराहट बनी ही रहती है । आसू बहाने मे जितना स्व का लाभ होता है, उतना भोग से नही । भोग मे योग का भाव विसर्जन अथवा आत्मोत्सर्ग द्वारा ही सम्भव होता है । जब प्रिय को हम अपनी कामना से मुक्त करते है, तब एक आन्तरिक उपलब्धि होती है । वही सत्य है ।[२]

जैनेन्द्र ने काम और प्रेम की समस्या को किसी विवशतावश स्वीकार न करके अपने अन्तस् की माग के कारण स्वीकार किया है । उसकी दृष्टि मे दुख मे सुख गर्भित है । जिस प्रकार हिंसा के मूल मे अहिसा का भाव अन्तमूर्त रहता है। काम के सूक्ष्म बिन्दु मे दो व्यक्ति परस्परता मे स्वय को खो देते है । उनकी दृष्टि मे जीवित रहते हुए भी जो मृत्यु का सुख दे सके वही परम सिद्ध है । जो दु ख का क्षण है, वही सुख का क्षण है । 'अपने मरण' अर्थात् स्वत्व के न होने के भाव से बडा कोई भाव नही है । उस स्थिति मे द्वैत का भाव विलीन

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० स० ३२४ ।

२ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार ।

हो जाता है । जैनेन्द्र की दृष्टि मे अद्वैत का क्षण अथवा बिन्दु ही है जिसके लिए कामाकर्षण सारे ससार मे व्याप्त है। उसी क्षणता के कारण आदमी अहभाव पूर्वक जी पाता है। जाने-अनजाने उस क्षण की अनुभूति द्वारा व्यक्ति अह को गलाकर अपना स्वास्थ्य प्राप्त करता है। जैनेन्द्र ने अपनी उपरोक्त मान्यता को क्राइस्ट के बलिदान द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि मे जिम प्रकार क्राइस्ट को सूली पर चढने के समय भी परम सुख का अनुभव हुआ होता है, अपने शरीर पर प्राप्त होने वाली यातना मे भी उन्हे परम सुख की अनुभूति होती है। वह क्षण उन्हे अपनी धन्यता तथा जीवन की सार्थकता का प्रतीत होता है। उसी प्रकार कामाकर्षण मे परम पीडा का क्षण ही, परम धन्यता का क्षण है। यद्यपि वे यह स्पष्टत स्वीकार करते है कि धन्यता का क्षण टिकता नही है, यही कारण है कि उसके प्रति आकर्षण बना रहता है किन्तु जब व्यक्ति की अनुभूति स्थायित्व ग्रहण कर लेती है, तब उसे आत्मिक सुख मिलता है और उस क्षण की पुनरावृत्ति स्वत ही निरर्थक हो जाती है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'स्व' के विसर्जन का यह मार्ग स्वत ही आत्मोन्मुखता अथवा भगवत्प्राप्ति का आनन्द प्रदान करने मे सक्षम होता है। इसीलिए जैनेन्द्र ने अपने पात्रो के जीवन मे प्राप्त होने वाले प्रबलतम आकर्षण के क्षणो का निषेध नही किया है।[1] 'एक रात' मे जयराज सकल्पपूर्वक चलता है और एक बिन्दु का आकर्षण प्रण पूर्वक अस्वीकार करना चाहता है, किन्तु उस बिन्दु का आकर्षण उसपर इतना हावी हो जाता है कि वही जीतता है और जय का सकल्प हारता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे सकल्प के विरोध मे दृष्टिगत होने वाला पाप भी सत्य की स्वीकृति के मार्ग मे, उसकी स्थापना मे स्वत ही निर्मल हो जाता है। सुदर्शना के पति के घर से आने मे जो पाप का अश दृष्टिगत होता है वह सत्य मे नहाकर पवित्र हो जाता है। अतत पाप अर्थात् सुदर्शना की जय होती है और सकल्पपूर्वक चलने वाला जय पराजित होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे पाप वह है जिसमे व्यक्तित्व का कुछ अश पीछे हट रहा हो, किन्तु जहा सहज भाव से समग्र समर्पण की स्थिति हो, वहा चित्त मे विकार अथवा उत्तेजना नही आती। चित्त पर जोर तभी पडता है जब दुराव का भाव मन मे बना रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे पाप यदि कुछ है तो झूठ है। सच मे बुराई नही हो सकती। उनके अनुसार सत्य के सामने झूठ को झुकना ही पडता है। इस सबध मे उन्होने स्पष्टता से स्वीकार किया है कि 'अच्छाई मुझे सच्चाई मे गर्भित दीखती है, इसीलिए अच्छा की जगह सच्चा

---

१ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

होना मुझे ईष्ट है। सच्चा होकर कोई बुरा भी निकले तो मुझे असह्य न होगा। उल्टे झूठा होकर कोई शिष्ट, सभ्य, सम्भ्रान्त, शान्त आदि दिखे तो मेरी सह्यता टूटने लग जाती है।"[1] जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य छल मे नही है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे सत्य को समझने के लिए उनकी रचनाओ मे सत्य का वास्तविक रूप देखना अनिवार्य है। कहानी के द्वारा लेखक की सही दृष्टि को प्राप्त करना और उसके आधार पर ही निर्णय प्रस्तुत करना आवश्यक है। प्राय जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त सत्य के सही रूप को न जानने के कारण ही उनके सम्बन्ध मे भ्रम उत्पन्न हो जाता है। 'सुनीता' मे लेखक का उद्देश्य पारिवारिक अवसाद को दूर करने के साथ ही हरिप्रसन्न के अवदमित मन के भीतर छिपी हुई सत्यता को भी प्रकाशित करना है, क्योकि आत्म-परिष्कार अथवा आत्मोन्नति सत्य की स्वीकृति मे ही सम्भव हो सकती है। सत्य के निषेध मे बाह्य रूप से दिखाई देने वाली सारी चेष्टा अर्थहीन सिद्ध हो जाती है। हरि-प्रसन्न का व्यक्तित्व मनोविज्ञान की भूमि पर ही अभिव्यक्त हुआ है। उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे हमारे मन मे एक आदर्श परिकल्पना होती है। उसके विचारो मे हमे सात्विकता के दर्शन होते है, किन्तु अन्त मे उसकी जो प्रति-क्रिया होती है, उसे हम पाप समझते है और उस स्थिति को अश्लीलता की सूचक मानते है। किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे वही सत्य है। जब तक व्यक्ति अपने मन की सच्चाई को स्वत ही स्वीकार नही करता अथवा उसके प्रति सजग नही होता, तब तक उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे दिया जाने वाला निर्णय उसके अपूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया होगा, क्योकि सच्चाई ऊपर नही दिखायी देती। सुनीता के पूर्ण समर्पण के समक्ष हरिप्रसन्न टिक नही पाता। उपन्यास मे उसकी जो प्रतिक्रिया दिखायी देती है, उससे सामान्यत यही प्रतीत होता है कि हरिप्रसन्न अपने इच्छित उपलक्ष्य को प्रत्यक्ष देखकर मानसिक रूप से ही सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि मे सत्य इससे परे है। ऊपर से आदर्श प्रतीत होने वाले व्यक्ति के अन्तस् की सच्चाई को कोई नही जानता, इसी सहारे वह दुनिया की आखो मे आदर्श प्रतीत होता है, किन्तु यदि उसे पता चल जाय कि लोग उसके भीतर की सत्यता को जानते है तो वह उनसे दृष्टि न मिला सकेगा, ठीक यही स्थिति हरिप्रसन्न की होती है। जैनेन्द्र के अनुसार—'आदमी का दर्पण मे अपना ही चित्र मिल जाय तो वह एकाएक सभल जाता है। अपने सबध मे जितना भी आत्म सम्मान का भाव है—उसकी रक्षा के लिए वह लौट जाता है। सुनीता हरिप्रसन्न को चुनोती

---

१ जैनेन्द्रकुमार · जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानिया', पृ० ३६६।

देती है कि क्या तुम चाहते हो, लो—और हरिप्रसन्न सोचता है कि क्या मे यही चाहता हू और यह सोचकर उसके आत्मसम्मान को जो अपने लिए वह रखता था, उसे ठेस पहुचती है। उसे उद्दिष्ट की नग्नता मे अपना चित्र कामुक दिखायी देता है और अपनी कामुकता के चित्र को देखकर विपर्यस्थ हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार भोक्ता की स्थिति मे द्रष्टा मिट जाता है, पर द्रष्टा जाग्रत हो जाय तो भोक्ता का आधिपत्य समाप्त हो जाय। सुनीता की नग्नता के दर्पण मे हरिप्रसन्न अपने ही कामुक रूप का द्रष्टा बन जाता है।[1] इस प्रकार जैनेन्द्र की दृष्टि मे प्रेम अपने-आप मे ही औषधि है। शुद्ध प्रेम मे से स्वत ही उसका समाधान मिल जाता है। यदि सुनीता मे इतना गहरा आत्मविश्वास न होता, जिसके सहारे वह हरिप्रसन्न के समक्ष सच्चाई को प्रकट कर सकी थी तो सम्भवत हरिप्रसन्न का दमित मन जिन मार्गो से अपनी तुष्टि करता, वह सुनीता के सतीत्व को भी अपने मे लपेट लेता, किन्तु सत्यता जब सहज बन जाए तब समस्या उठने की सम्भावना नही रह जाती। प्रेम का समग्र और सहज होना अनिवार्य है।

प्रेम : समग्र और सहज

जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम की पूर्णता वही है, जहा समग्रता और सहजता है। सेक्स के प्रति जुगुप्सा का भाव सात्विक आनन्द की सृष्टि करने मे असमर्थ होता है। उपन्यास और कहानियो मे दृष्टिगत सैक्स के प्रति यदि लेखक मे अनादर का भाव नही है, उसे हीन अथवा तिरस्कृत नही माना जा सकता। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' मे लक्षित काम भाव के प्रति लेखक मे अनादर का भाव नही है। इसलिए उसे पाप अथवा घृणा की दृष्टि से नही देखा जा सकता। पूर्ण कहानी मे जो सत्य निश्रत है, उसे 'काम' के आधार पर अवहेलनीय नही समझा जा सकता। कहानी की विजया के प्रति लेखक की पूर्ण सहानुभूति है। विजया के द्वारा जो अघटित घटित होता है, उसमे दोष नही है। स्त्री होने के नाते उसमे मातृत्व की प्रबल आकाक्षा है किन्तु पति की असमर्थता के कारण उसका मन आन्दोलित होता रहता है। उसे अपना स्वत्व बोझ स्वरूप प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति मे उसके घर आने वाले व्यक्ति के प्रति जो आकर्षण दृष्टिगत होता है, वह स्वाभाविक ही है। किन्तु घड़ी की 'टन्न' की आवाज उसकी चेतना को जागरूक कर देती है और वह अपने किए पर प्रायश्चित करने के लिए पति को छोड़कर चली जाती है। पति से दूर रहकर वह अपने को कष्ट ही देती है।

---

१ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

इस प्रकार उपरोक्त कहानी मे ढूढने पर भी अश्लीलता की झलक नही मिलती। जो कुछ भी है, सच्चाई मे से ही होता है। जैनेन्द्र के अनुसार अश्लीलता शरीर के स्पर्श मे न होकर व्यक्ति की भावना मे निहित होती है।

जैनेन्द्र की दृष्टि मे मन का कुछ ही भाग हमारी समझी जाने वाली इच्छाओ और वासनाओ से जुडा रहता है। अधिक भाग तो उसका पीछे आत्मा से जुडा कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्तत अन्तस् की सत्यता और पीडा से ही उद्भूत होता है।

अन्तर्भूत पीड़ा

जैनेन्द्र के साहित्य का परम सत्य उनके पात्रो के अन्तस् मे निहित पीडा अथवा व्यथा ही है। उनकी समस्त चेष्टाओ के मूल मे उनकी अन्तश्चेतना का आवेग ही समाहित है, जो हमे जैनेन्द्र के साहित्य की अश्लीलता प्रतीत होती है, वह पीडा की पूजी से सहज ही पावन हो उठती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे पीडा की गहनता ही तो है जो घनीभूत होती हुई जीवन को स्निग्धता और प्रभविष्णुता प्रदान करती है। बाह्य रूप मे दृष्टिगत वासना तो आशिक ही है, पूर्णता तो अन्तस् की व्यथा के योग से ही प्राप्त होती है। व्यथा, विरह की ही उपलब्धि है। जैनेन्द्र के साहित्य मे प्रेम प्रधान है। प्रेम प्राप्ति मे न होकर अप्राप्ति मे ही दृष्टिगत होता है। इसलिए जैनेन्द्र स्वीकार करते है कि 'हर आदमी उसका है, जिसको वह कभी प्राप्त नही कर पाता। यह प्रेम सघन होते-होते अपने आधार आधेय को अतिक्रमिक कर जाता है अर्थात् वैयक्तिक होकर ही निर्वैयक्तिक बना रहता है।' जैनेन्द्र के साहित्य मे 'जीवन प्राण का मूल गुण सुख और शान्ति नही है। वह तो बेचैनी और व्यथा है।'[1] जैनेन्द्र की रचनाओ मे यत्र-तत्र जब कभी त्रास देने का भाव दृष्टिगत होता है, तो वह केवल देखने मे ही आता है। एक ओर से त्रास और दूसरी ओर से सहनशीलता मे विरोध और दूरी न होकर और भी सघनता होती है। जैनेन्द्र के अनुसार—'जो जैसा दीखता है वैसा नही भी है यानी कष्ट बिना किसी को इष्ट नही है, जो इस प्रकार कष्ट कर व्यवहार करता है वह गहरी बेबसी के कारण। वह व्यवहार उचित है, सहन का यह मतलब नही। आशय इतना ही है कि उस व्यवहार पर ही क्षमा और करुणा की वृत्ति ही सम्भव नही है, स्नेह भी सम्भव है और वह उचित भी है।'[2] उपरोक्त विचारो की यथातथ्य हमे 'विवर्त' मे प्राप्त होती

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० स० ५४२।

२. जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम' और परिवार,' पृ० ८८।

है। प्रेम की प्राप्ति के अभाव मे जितेन का व्यवहार इतना प्रतिक्रियात्मक हो जाता है कि वह अपनी प्रेमिका भुवनमोहिनी के वैवाहिक जीवन के सुख को देखकर व्यग्यात्मक बौछारे करने लगता है। इस प्रकार वह उसे चोट देकर अपने भीतर की ज्वाला को शान्त करता है। जितेन के द्वारा होने वाली समस्त विस्फोटक और क्रान्तिकारी प्रक्रिया एकमात्र प्रेम की अप्राप्ति का ही परिणाम है। उसके मूल मे अप्राप्तिजनित पीडा है। पीडित व्यक्ति अपने प्रिय को ही प्रताडित कर सकता है, इसी मे उसे सतोष होता है। जितेन भुवनमोहिनी को जगल मे ले जाता है और निर्जन वन मे झोपडी मे डालकर उसके साथ बहुत ही बर्बरतापूर्ण, अमानवीय व्यवहार करता है। किन्तु, बदले मे भुवनमोहिनी उसके चरण छूने के लिए ही झुकती है। भुवनमोहिनी के प्रति जितेन के व्यवहार को देखकर यह कहा जाता है कि 'किसी स्त्री का इतना अपमान नही किया गया, जितना जैनेन्द्र ने किया है।' किन्तु जैनेन्द्र इसी सन्दर्भ मे अपने विचारो को स्पष्ट करते हुए कहते है—'कि स्त्री को मैंने इतनी ऊचाई दी है कि जो उसे त्रास दे रहा है, उसके मूल को वह देखती है, और उसके प्रति उसमे अनुकम्पा का भाव है। अनुकम्पा के भाव से द्रवित है 'जो इतना गहरा त्रास पा रहा है, उसे आसुओ से अपनाया जा सकता है।'[1] परिणामस्वरूप भुवनमोहिनी जितेन द्वारा दी गई यातना को सहर्ष स्वीकार करती है और त्रास देने वाले की विवशता को जानकर उसका हृदय किसी भी प्रकार का प्रतिकार करने मे समर्थ नही हो पाता। मोहिनी जितेन को प्रेम और सहानुभूति देती है। किन्तु जो वह चाहता है, (भोग) उसे वह नही दे पाती। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'प्रेम को वह (भुवनमोहनी) अस्वीकार नही करती, परन्तु दूसरी चीज (भोग) को अवकाश नही देती। उसका व्यवहार बडा धुधात्मक हो जाता है। रुग्ण को ममता देती है, परन्तु उद्धत को प्रोत्साहन नही देती।'[2] परिणामत अतृप्त का व्यवहार ध्वसात्मक दिखायी देता है, किन्तु मूल मे व्यथा है, अप्रेम नही। अन्तिम परिणति प्रेम और समर्पण मे ही होती है, जो कुछ होता है अज्ञात रूप से होता है, इसीलिए जितेन कहता है—'…जहर मुझमे था सब तो यही जानते थे कि वह आजादी का, क्रान्ति का, विश्व की शान्ति का काम कर रहे है। यह मैने उन्हे बताया था लेकिन भीतर मै ही यह खुद नही जानता था वे लोग यह जानते थे और मानते थे। मैं जानता भी नही था, मानता भी नही था।…अपने शब्द से मैं अलग था…।' स्पष्ट है कि जितेन मे जो कुछ दिखाई देता है वह

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।
२. साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

सत्य नही है । उसके दल के लोग उसे नेता समझते थे किन्तु उसके मन के जहर को कोई नही जानता था, जो सच था । फिर असत् घटित होता है, वह क्यो ? यही प्रश्न उसके अन्तस् को झकझोरता रहता है । जितेन कोठरी की नगी ईंट की फर्श भुवनमोहिनी को सोने के लिए देता है, कम्बल का ओढन और बिछावन देता है । परन्तु वह यह नही जानता कि यह सब सच नही था, तभी तो उसके मन मे प्रश्न उठता है कि 'नही ही कैसे हो जाता है ।' व्यक्ति शैतान कैसे बन जाता है । सब के मूल मे कुछ और ही है, किसके कारण अतिशय प्रेम के प्रति भी बाह्य रूप मे घृणा दिखायी देती है । किन्तु घृणा सत्य नही है सत्य तो अपने मन की सच्चाई को प्रकट करने मे है । अन्तत. जितेन की दृष्टि मे जो सत् है, वह समर्पण मे ही है । जेल मे रहकर ही वह अपनी अह से मुक्ति प्राप्त कर पाता है और अपनी सच्चाई को भुवनमोहनी के समक्ष प्रकट कर देता है। मोहिनी आरम्भ से ही सच्चाई से अवगत रहती है, इसीलिए उसके व्यवहार मे सहानुभूति ही झलकती है, तिरस्कार का भाव नही आ पाता । वह जानती है कि बुद्धि के बल से सच को दबाया नही जा सकता । दमन मे झूठ ही झलकता है । सत्य स्नेह है । उसकी दृष्टि मे स्नेह नाते खोजता है । इसका, उसका, सबका उसे सग चाहिए । वह अपने मे नही है, अन्य मे होकर ही है ।···सब सम्बन्ध अन्त मे बन्धन ही तो है । स्नेह उन बन्धनो को रचता और फैलाता है । इन्ही तारो से वह हमे यहा बाधता है कि एकाकी होकर हम सूख न जाय ।[1] किन्तु सत्य और स्नेह का योग बहुत कठिन है, पर सत्य वही है । जैनेन्द्र की दृष्टि मे स्नेह व्यक्ति का जीवन है, तो सत्य उसका जीव्य है । व्यक्ति के भीतर का अपरूप और द्वन्द्व कदर्प बाहर प्रकट होने के लिए है । दमन मे सहजता नही है । जो सहजता मे है, सत्यता मे है, वह सावधानता और चतुरता मे नही है ।···परस्पर की उपलब्धि नही हो पाती, बद्धि के प्रागल्भ से । हृदय के अनुदान से वह सहज होती है ।[2]

'जयवर्धन मे भी सत्य तल मे ही रहता है, अभिव्यक्ति मे नही आ पाता । जय का जीवन जो राजनीति में दृष्टिगत होता है, वही सत्य नही है, सत्य उससे परे है । इला जय के सम्बन्ध मे कहती है—'लोग राजनीति मे उन्हे जाने वह जानना नही है । वह सतह का है और बाहरी है...।' इला के अन्तस् की पीड़ा बाह्य रूप मे प्रकट नही हो पाती । वह अपने जीवन मे जय को कर्तव्य की ओर उन्मुख होते हुए ही देखती है किन्तु उसकी व्यथा उसके हर शब्द मे

१ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त' ।
२ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० स० १५७ ।

फुटी पडती है वह कहती है—बीस साल हो गए है, शायद अधिक...आखेभेरी उठी है और सामने की आखो मे मैंने चाह चीन्ही है। पर तब भी आखे मुद गयी है और मुदी रही है। उगलियो के पोरो मे लालसा लहकी दिखी है, कि वे अब बढेगी। लेकिन नही, नाम के नाप मे उन्हे अपनी ही ओर से लिया गया है।...इसी तरह एक दिन, दो दिन, तीन दिन.. हर दिन अगले के इन्तजार मे बीतता गया है, पर कुछ नही हुआ है और पच्चीस वर्ष हो गए है...पर आशा टूटती...शायद हो कि बज्र पिघले।...'[1] इला का प्रत्येक शब्द नारी हृदय की उस पीडा की अभिव्यक्ति मे समर्थ है, जिसमे वर्षो की प्यास छिपी है और नारी की सबसे बडी कामना मातृत्व की चाह भी तो हो सकती है। इला जय के निकट रहते हुए भी विरह की वेदना को सहन करने मे ही अपनी कृतार्थता समझती है। उसके भीतर अभावजन्य एक गहन पीडा की सिस्कन बनी रहती है। उसके अन्तस् मे प्रेम है। इस कारण वह वियोग सहने मे भी समर्थ होती है। यदि प्रेम ही सभव न होता तो उसके व्यक्तित्व मे इतनी गहराई नही आ सकती थी। जैनेन्द्र ने एक स्थल पर स्वीकार किया है कि अभ्यन्तर मे यदि स्वीकृति हो, तो.. तब बाहरी वियोग का भार उठाना कठिन नही होता, बल्कि उल्टे प्रिय ही हो जाता है।.. प्रेम स्वय अपनी व्यथा सहना सिखाता है।' विरह मे सहनशक्ति ही प्रेम को जीवन्त बनाए रखती है।

जैनेन्द्र के साहित्य मे नारी पात्रो की सहनशक्ति का अद्वितीय रूप प्राप्त होता है। 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' मे कल्याणी का जीवन मानो पीडा की साकार प्रतिमूर्ति ही है। कल्याणी का व्यक्तित्व आरम्भ से ही इतना उलझा हुआ है कि सत्यता प्रयत्नपूर्वक भी ग्राह्य नही हो पाती कारण, प्रेम की पीडा उसके अन्तस् मे इतनी गहराई से बिधी हुई है कि वह किसी क्षण भी उससे मुक्त नही हो पाती। वह जानती है कि उसके जीवन मे कुछ अनचाहा घटित हो गया है, जो उसके भीतर की शान्ति को भग किए रहता है। कल्याणी द्वारा लिखे गए एक लेख मे उसके अन्तर्द्वन्द्व की पूर्णाभिव्यक्ति होती है। वह प्रेम को सर्वस्व मानती है किन्तु प्रेम की महत्ता प्राप्ति मे नही है। वह कहती है—'प्रीति इतनी रीति है आरती, प्रसाद है उसका वियोग।'[2] 'गवार' कहानी मे भी इसी शक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।[3] जैनेन्द्र की मान्यता है कि

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० १३३।
२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० ८२।
३. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ६, पृ० २०५।
'वह प्रेम भयावह है जिसमे अभाव नही, तृप्ति है,—वह तभी घृण्य हो उठता है।'

उनकी भीतर की उस प्रारणो की प्रेरणा पाते रहने के कारण वह कार्य बाहरी आकाक्षाओ से मलिन न होगा और इस तरह उलझन पैदा करने के बजाय उसको काटेगा ।[१]

'मास्टर जी' कहानी के मूल मे एक गहरा अभाव है जो नौकर के सान्निध्य की ओर आर्कषित होता है । मास्टर की पत्नी का यह व्यवहार प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक ही है, उसे दोषी नही ठहराया जा सकता । स्त्री मे सदैव मातृत्व तथा त्रास पाने की प्रबल आकाक्षा होती है । किन्तु त्रास के बदले मे मिलने वाले मान मे वह अपमान का अनुभव करती है जिस प्रेम मे 'चाह की धार' न हो उसे वह अपमान ही समझती है । उसके मन मे अपने ही प्रश्नो को लेकर एक आन्दोलन-सा उत्पन्न होता है और वह घर के उद्धत और जवाब देने वाले नौकर से झीक कर भी भीतर ही भीतर गर्व का अनुभव करती है...इस नौकर को लेकर अह को तृप्ति मिलती है...उसे कुछ अपनी सार्थकता अनुभव होती है ।[२] मास्टरानी नौकर के साथ घर छोडकर चली जाती है । पत्नी के वियोग मे मास्टर जी की पीडा-मर्म को झकझोर डालती है । उसका सात्विक प्रेम और विश्वास सत्य से अनभिज्ञ होता है । मास्टरानी दीवाली की रात को लौट आती है और अपने प्रति पति के प्रेम को देखकर उसका हृदय कचोट उठता है । वस्तुत उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया दोनो ही स्वाभाविक है।

निष्कर्षत. यह अकाट्य सत्य है कि प्रेम मे अथवा प्रेम को लेकर पाप-पुण्य का भेद टिक नही पाता । सारे नैतिक मानदण्ड प्रेम के समक्ष अर्थहीन सिद्ध होते है ।

साहित्यादर्श : सत्य की स्वीकृति

जैनेन्द्र के साहित्य का आदर्श सत्य की स्वीकृति मे ही पूर्ण होता है । जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'सत्य बडी चीज है । उससे बडा धर्म नही है । निष्पाप तो कोई हो नही सकता है । अपने साथ ईमानदारी बरतने से आगे आदमी का वश नही है ।' इस प्रकार सत्य की स्वीकृति मे भीतरी कुत्सा और जुगुप्सा का भाव नही आ पाता । उनकी दृष्टि मे सच मर्यादा मे नही आता ।[३] ऊपर से लादी हुई नैतिकता बाह्य रूप मे आदर्श तो प्रतीत होती है पर उसका अस्तित्व निर्जीवता के साथ ही सम्भव होता है और ऐसे नैतिकता प्राप्त समाज के अन्दर

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० ८२ ।

२ जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानिया', भाग ४, पृ० १७।

३ जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० स० २८ ।

पाप का मैल और सडाध रहती है।[१]

सत्य : जगत-सापेक्ष

वस्तुत सत्य की उपलब्धि जीवन और जगत की स्वीकारता मे ही सम्भव हो सकती है। व्यावहारिक अथवा स्थूल शक्ति की प्राप्ति के लिए द्वैत का भाव अनिवार्य है। 'स्व', 'पर' के दो तटो के मध्य ही जीवन की सार्थकता है। ससार से दूर जाकर रहने मे स्व-मूलक भाव की पुष्टि होती है। 'पर' की नही, किन्तु 'स्व', 'पर' के अभाव मे स्व केन्द्रित होकर विस्तारशून्य हो जाता है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि शरीर रहते असासारिक होने की आशा अनावश्यक है। 'ससार यदि भगवान का है तो सासारिक होना भगवत्द्रोह क्यो ? यदि भगवान नही है तो फिर ससार ही नही। इसलिए ससार और भगवान को विरोध की भाषा देकर टकराने से कोई लाभ नही दीखता।[२]

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० ७७।

२. जैनेन्द्रकुमार : 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ३९।

परिच्छेद—१०

जैनेन्द्र :
जीवन का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण



दर्शन अखण्डता बोधक

जैनेन्द्र का साहित्य दार्शनिकता से अनुप्राणित है। उनकी साहित्यिक प्रक्रिया जीवन के सश्लिष्ट रूप का ही प्रतिनिधित्व करती है। 'दर्शन' का अर्थ ही है 'देखना'। किन्तु दार्शनिक दृष्टि तथा सामान्य दृष्टि मे अन्तर है। सामान्य-रूप से व्यक्ति वस्तु या स्थिति के स्थूल और आशिक रूप को देखकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि प्रत्यक्ष को ही देखती है, उसके पार देखने की क्षमता उसमे नही होती। किन्तु दार्शनिक दृष्टि ही नही, वरन् सूक्ष्म द्रष्टा भी होता है। उसकी दृष्टि सम्पूर्ण को देखती है। देश और काल की सीमा उसके लिए कोई महत्व नही रखती। वह कालबद्ध चेतना से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होता है। इतिहास का सत्य काल मे तद्गत होता है। अर्थशास्त्र, राजनीति, मनो-विज्ञान आदि विभिन्न शास्त्र जीवन के विशिष्ट पक्ष पर ही प्रकाश डालने मे समर्थ है। अपने क्षेत्र मे ही उनकी पूर्णता लक्षित हो सकती है। विविध शास्त्र मानो सम्पूर्ण शरीर के अगरूप है। अग का महत्व है, किन्तु एक-दूसरे का अस्तित्व सापेक्षता मे ही स्वीकार्य हो सकता है। मानव जीवन की अखण्डता का बोध कराने वाला एकमात्र दर्शन शास्त्र ही है। दर्शन शास्त्र का कार्य जीवन्, जीवन के विशिष्ट पक्ष पर दृष्टिपात करना नही है, उसका लक्ष्य तो जीवन को समग्र रूप मे देखना है। दार्शनिक मानव जीवन की अतल गहराई मे झाककर सत्य

की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। वह गहराई मे जाता हुआ भी सश्लिष्टता का ही समर्थक होता है। व्यक्ति की आत्मगत सत्यता का बोध प्राप्त करने के लिए सत्य को गहराई से जानने के लिए शरीर का विश्लेषण नही करना पडता। दार्शनिक सत्य के बोध के लिए बुद्धि से अधिक सम्बुद्धि का सहारा लेता है। दर्शन द्वारा जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। आध्यात्मिक दृष्टि आस्थापरक है। आस्था विश्लेषण की ओर न जाकर सश्लेषण की ओर उन्मुख होती है।

विज्ञान : विश्लेषणात्मक

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। मानव जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही है, जो कि विज्ञान के प्रभाव से वचित हो। साहित्य, समाज, अर्थ, धर्म और राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रो मे विज्ञान का प्रभाव स्पष्टत लक्षित होता है। वैज्ञानिक अन्वेषक और विचारक सत्य की खोज मे वस्तु की तह पर तह खोलते चले जाते हैं। अपनी अनन्त जिज्ञासा मे वे सदैव तृषित ही रहते है, क्योकि बौद्धिक जिज्ञासु विश्वास के द्वारा किसी स्थिति पर ठहरता नही है, वरन् तर्क के सहारे स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम की ओर बढता जाता है। वैज्ञानिक सत्य को खण्ड-खण्ड मे विभाजित करके देखने की प्रक्रिया अपनाता है, किन्तु दार्शनिक अखण्डता और अविभाज्यता मे सत्य को देखने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक उपकरणो द्वारा जीवन अधिकाधिक सुविधामय होता जा रहा है। किन्तु बाह्य जीवन की सुविधाए आत्मा को परितृप्त नही कर सकती। साहित्य, विज्ञान और दर्शन के मध्य की वह कडी है जो मानव जीवन को व्यावहारिक दृष्टि प्रदान करने मे समर्थ है। दर्शन की समग्र दृष्टि का प्ररूपण साहित्य के धरातल पर ही सम्भव होता है। साहित्य मानव जीवन की समग्रता का व्यवहारिक पहलू है।

जैनेन्द्र का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

जैनेन्द्र की जीवनदृष्टि उनके साहित्य मे पूर्णत परिलक्षित होती है। साहित्य लेखक के विचारो का ही प्रतिबिम्ब है। जैनेन्द्र के साहित्य की ऐक्यानुभूति उनके विचारो की सश्लिष्टता की ही परिचायक है। उनके साहित्य मे जीवन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, साहित्यक विचार और भावगत चेतना के मूल में अखडता अथवा अद्वैता के ही दर्शन होते है। उनके साहित्य की आत्मा व्यष्टि और समष्टि, अहता और भगवत्ता, चेतन और अचेतन, यथार्थ वा आदर्श तथा आध्यात्म और भौतिकता के ऐक्य का पूर्ण निदर्शन प्राप्त

होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे भेद अथवा द्वैत, बाह्य और इन्द्रियगत है, किन्तु इन्द्रिया मार्ग है, गन्तव्य अथवा मजिल नही है। मार्ग की द्वैतता सत्य नही है, सत्य तो मजिल है, जहा पहुचना है। द्वैत यथार्थ और जागतिक सत्य होते हुए भी सूक्ष्म सत्य नही है। सार्वभौम दृष्टि से अखण्डता ही एकमात्र सत्य है। जैनेन्द्र के साहित्य का उद्देश्य एक के निषेध द्वारा अन्य को स्वीकार करना नही है। उनके साहित्य मे एक और अनेक के पार्थक्य को मिटाते हुए परस्परता पर भी बल दिया गया है। अद्वैत तथा ऐक्य की प्राप्ति का एकमात्र आधार प्रेम है। प्रेम अन्त प्रसूत तथ्य है, अतएव ऐक्यानुभूति भी आत्मप्रसूत ही है। आन्तरिक एकता का स्वरूप सहज और स्थायी होता है। ऊपर से लादी हुई एकता मे परस्परता और आत्मता की सहजाभिव्यक्ति सम्भव नही होती। नाना मतवाद विवादमूलक ही है, किन्तु सत्य वाद-विवाद से ऊपर ऐक्य मे ही समाविष्ट है।

अद्वैत : चर्चा का विषय नही

जैनेन्द्र की दृष्टि मे द्वैत मे से ही ज्ञान-विज्ञान की प्रगति होती है। सभ्यता भेदमूलक है, सत्य अभेद-मूलक। उनकी दृष्टि मे जीवन की सारी भाषा अर्थात् द्वन्द्व द्वैत मे ही सम्भव है। जैनेन्द्र के अनुसार अद्वैत चर्चा का विषय नही है। अद्वैत के तट पर बुद्धि को तो पहुचा ही नही सकते। इसलिए वे अद्वैत को उस भूमिका के तौर पर रहने देना चाहते है, जिस पर सब सम्भव बनता हैं। अद्वैत गर्भित ही है। उनके विचार मे जिस प्रकार जिस धरती पर हम बैठे है, वह चर्चा का विषय नही बनती। उसी प्रकार अद्वैत मूलाधार है, वह वाद-विवाद का विषय नही बनती।[१] उनकी दृष्टि मे अद्वैत पर पहुचना नही होता क्योकि जीवन अनन्त यात्रा है। जानने के प्रयत्न मे व्यक्ति का अभिमत प्रमुख होता है, सत्य गौण। सत्य सश्लिष्ट है, अतएव जैनेन्द्र जानने के सश्लिष्टरूप की सत्य मे गुजाइश नही मानते। उनकी दृष्टि से सत्य सश्लिष्ट और अभेद है, उसे जाना भी नही जा सकता।

द्वैत से अद्वैत की ओर

जीवन का सत्य अखण्ड है, किन्तु व्यावहारिक जीवन द्वैताश्रित है। व्यावहारिकता, प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसामूलक है। जीवन की सक्रियता प्रेम, दया, प्यार, सहानुभूति आदि के सन्दर्भ मे ही घटित होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि

---

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

मे द्वैत के कारण ही तो जीवन मे गति आती है । अद्वैत क्रियाशून्य है । स्त्री-पुरुष का द्वैत सृष्टि का आधार है । 'स्व' 'पर' का भेद लेकर सृष्टि का विकास सम्भव होता है । तथापि द्वैत मध्य की स्थिति है, अन्त नही है । जैनेन्द्र के साहित्य का अवगाहन करने से विदित होता है कि जीवन की धारा दो तटो के मध्य प्रवाहित होती है । परन्तु तटो का द्वैत ही सत्य नही है । अतिम स्थिति अद्वैत मे ही प्राप्त होती है । जैनेन्द्र के साहित्य मे इस सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त होती है । 'जयवर्धन' मे सत्य का सश्लिष्टरूप स्पष्टत दृष्टि-गत होता है ।

जीवन अखण्ड : इकाई

जीवन सश्लेषण का तात्पर्य जीवन की समग्रता का बोध कराना है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य का स्वरूप काट-छाट के मार्ग से कही भी उपलब्ध नही हो सकता । उन्होने अपने साहित्य मे समग्र जीवन की अभिव्यक्ति की है । समग्रता मे भलाई और बुराई, महानता और तुच्छता, आदर्श और यथार्थ सभी समाविष्ट है । जीवन की वह अभिव्यक्ति सच्ची नही है, जो कुछ को छोडती और कुछ को अपनाती है । उनका यह दृष्टिकोण पूर्णत सत्य प्रतीत होता है, क्यो कि जिस प्रकार २४ घण्टे का दिन पूरी इकाई है । यदि सूर्य के प्रकाश मे दिन को हम अपने लिए उपादेय माने और रात्री के अधेरे को तिरस्कृत कर दे, तो ऐसा सम्भव नही हो सकता । दिन की पूर्णता मे रात्रि और दिन गर्भित है । इस दृष्टि से जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त व्यक्तित्व की पूर्णता सहज और सत्य है । उन्हे चाहे हम चर्चा मे ले अथवा न ले किन्तु उनका अस्तित्व नही मिट सकता । जीवन पूर्ण इकाई है, उसके कुछ अशो के सत्कार और कुछ के तिरस्कार द्वारा तिरस्कृत वस्तु या व्यक्ति का निषेध ही सम्भव हो सकता है । जैनेन्द्र मे जो कुछ भी दृष्टिगत होता है, वह सत्य के कारण ही है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य से बहिर्गत कुछ भी नही है । होने मे ही सत् का भाव समाहित है ।

काल-खण्ड

जैनेन्द्र के साहित्य मे एक मात्र अखण्ड सत्य की स्वीकृति पर ही बल दिया गया है । देश और काल मानव निर्मित किसी परिमित आयाम से परि-बद्ध नही है । काल अनन्त है । भूत, वर्तमान और भविष्य सभी उसकी अनन्तता मे समाहित हैं । बाह्य रूप मे सुविधा हेतु दिखायी देने वाली कालगत सीमा शाश्वत नही है । बीते क्षण और भावी क्षण के बीच कोई विभाजन-रेखा नही

है।[1] जैनेन्द्र की दृष्टि मे हर बीता हुआ क्षण भी पुराना है और आने वाला क्षण नवीन है। जीवन का सत्य काल से बधा हुआ नही है, वह तो सर्वकाल व्यापी है। उनकी दृष्टि मे काल से तद्‌गत होकर चलने वाला साहित्य शाश्वत और 'सनातन नही हो सकता।' इसीलिए वे साहित्य के सम्बन्ध मे नये-पुराने अथवा आधुनिक और प्राचीन के भेद को स्वीकार करने के पक्ष मे नही है। क्योकि काल की अनन्तता मे कुछ भी नया-पुराना नही है। स्थूल रूप से दृष्टिगत होने वाली घटना ही पुरानी होती है, उसमे व्याप्त सत्य सदैव एक ही रहता है। साहित्य का आदर्श घटना के माध्यम से सत्य को ही उद्‌घाटित करना है। जैनेन्द्र के साहित्य मे कालखण्ड से ऊपर उठने का भाव लक्षित होता है। उनके पात्र यथार्थ से जडित नही है। भावी जीवन की कल्पना पर ही जीवनशक्ति ग्रहण करते है। साहित्यकार द्रष्टा के सदृश्य भावी सम्भावनाओ पर अपने कथासूत्रो को विकसित करता है। साहित्य-प्रक्रिया इतिहास के सदृश काल के निश्चित आयाम मे परिबद्ध नही है। जैनेन्द्र के साहित्य मे जो हमे अयथार्थ प्रतीत होता है वह अयथार्थ न होकर सम्भावित भी है। साहित्यकार हजारो वर्षो की बीती घटना को अथवा भावी परिकल्पना को अपने साहित्य मे प्रतिष्ठित कर सकता है। जैनेन्द्र की 'नीलम प्रदेश की राजकन्या' मे मानवीय अनुभूति और सवेदना के सस्पर्श से हजारो वर्ष पूर्व का जीवन वर्तमान की पीठिका पर चित्रित होने मे समर्थ हो सका है।[2] दिन, माह, वर्ष आदि हमारी परिकल्पनाए है। अन्यथा काल का बोध क्षण की अनुभूति मे ही होता है। जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने से यह विदित होता है कि काल की गणना मानव निर्मित तथ्य है। विश्वात्मा के निकट वह पल के समान है। 'जैसे हम परकार पैमाने से ब्रह्माण्ड खीचते है, वैसे इतिहास से काल घेरते है, पर समय अनुभूति मे है, चेतना से विलग वह सच्चाई नही।[3]

---

१ 'मै काल को विभक्त करके पकडने के खिलाफ हू। जो लोग ऐसा करते है, वे सत्य को जडित करते है। काल तो प्रवाही है। काल के तट पर सत्य अभिव्यक्त होता रहता है। इसलिए काल की अमुक अवधि मे साहित्य की सत्यता को अभिव्यक्त नही किया जा सकता...

—जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प।

२. 'व्यक्ति का जीवन जितना यथार्थ पर नही, उतना स्वप्न पर टिका है। कहानी, लेखक की ओर इतना बडा यथार्थ है कि उसमे हजारो वर्ष का जीवन जिसके कारण भरपूर बना रहता है।

—साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

३ जैनेन्द्रकुमार . 'जयवर्धन', पृ० स० ७२।

वस्तुत काल को विभाजित करके प्राप्त होने वाला सत्य सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व नही कर सकता।

देश : अविभाज्य

काल की अनन्तता के सदृश ही देश भी अविभाज्य है पूर्व और पश्चिम की सीमा का निरूपण मानव निर्मित है। मूलत समस्त ब्रह्माण्ड एक है। इसपर कही से ऐसी कोई रेखा नही खिची जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि अमुक स्थान पर एशिया अथवा योरप की सीमा समाप्त हो जाती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे इस तथ्य को विशेष रूप से विवेचित किया गया है। देश-विदेश की सीमाए व्यवस्था की दृष्टि से ही उपयुक्त है, किन्तु जब यही सीमा मानवता के हित पर कुठाराघात करती है तब घातक बन जाती है। व्यक्ति मानवीय गुणो का प्रतिनिधित्व न करके विशिष्ट देश अथवा राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। राष्ट्र के साथ 'स्व' और 'पर' का भेद उत्पन्न हो जाता है। 'स्व', 'पर' भेद द्वन्द्वात्मक सिद्ध होते है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'राज्य की हदबदी ..मानो सहानुभूति के प्रकट सूत्रो को काटे-तोडे बिना नही होती उन सीमा-रेखाओ के आर-पार के सम्बन्ध सहज मानवीय नही रह जाते, राष्ट्रीय के नाम पर विषम सदिग्ध बन जाते है।'[1] अतएव उनके साहित्य मे राज्य से पर चर्चा करते हुए भी व्यक्ति की अखण्डता और अभगता के मूल्यो का निराकरण नही किया गया है। जैनेन्द्र के अनुसार जो ब्रह्माण्ड मे है वही पिड मे है। अत राष्ट्र और मानव-हित मे अतर नही है। मानव नीति पर आधारित राजनीति ही ऐक्यमूलक हो सकती है, अन्यथा राजनीति का कार्य तो भेद-नीति पर ही चलता है। जैनेन्द्र के उपरोक्त आदर्श की झलक 'जयवर्धन' मे स्पष्टत दृष्टिगत होती है। जय की दृष्टि मे पूर्व और पश्चिम दो नही है। उनमे नामगत भेद केवल सूचकमात्र है, अन्यथा दोनो एक है। विलवर हूस्टन के समक्ष भारतीय राजनीति के आदर्श को प्रस्तुत करता हुआ जय कहता है—'तुम मुझे पूर्व का कहते हो, पश्चिम क्यो मुझसे अलग है? पश्चिम का यह मानना ही उसका दोष है।...पूर्व पश्चिम सकेत भर है, सज्ञा नही है।'[2] जय दुनिया मे झाकना नही चाहता वह तो पारस्परिक प्रेम को ही महत्वपूर्ण मानता है। उसकी दृष्टि मे मानव का पक्ष ही विश्व का पक्ष है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे नक्शे पर खिची रेखाए सत्य नही है, सत्य तो प्रेम है जो कि देश और काल की सीमा को पार करता

---

१ जैनेन्द्रकुमार : 'राष्ट्र और राज्य', पृ० स० ३४।

२. जैनेन्द्रकमार : 'जयवर्धन', पृ० स० १९।

हुआ भी स्थायी रहता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानी के पात्रो के जीवन मे मानवीय सम्बन्धो की एकता पर ही बल दिया गया है। वस्तुत देश और कालगत अविभाज्यता द्वारा जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे मानव सम्बन्धो की परस्परता पर ही विशेषत बल दिया है। देश-विदेश की सीमा सम्बन्ध को सकीर्ण बना देती है किन्तु साहित्य की व्यापक भूमि पर भौगोलिक रेखाए मान्य नही हो सकती। विभाजन की रेखा द्वन्द्वमूलक है, क्योकि प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रगति और हित के लोभ मे दूसरे राष्ट्रो के स्वार्थ पर आघात करने मे सकोच नही करते, किन्तु परस्परता की भावना समस्त मानवता को एक ऐसे सूत्र मे बाध देती है, जिससे वे स्थूलत विलग होते हुए भी मूलत एक ही रहते है।

ऐक्य-बोध : अह विसर्जन

जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्ति का जीवन राजनीति, धर्म, समाज, अर्थ-नीति आदि की समष्टि है। मानव जीवन सन्तुलन और समन्वय पर ही आधारित है। उनके साहित्य मे व्यक्ति की घटनाए विविध परिप्रेक्षो मे घटित होती है, तथापि उनके मूल मे आत्मोन्मुखता की प्रवृत्ति विशेषत दृष्टिगत होती है। विविधता के मूल मे एकता की प्रतिष्ठापना ही जैनेन्द्र के साहित्य का प्रमुख आदर्श है। अनेकता अहमूलक है, एकता ब्रह्ममूलक। अह अर्थात् जीव ब्रह्म का ही अश है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'मै' की चेतना जाग्रत होते ही ब्रह्म, जीव मे पार्थक्य प्रतीत होने लगता है। 'मै' भाव जितना स्वकेन्द्रित होता है, उतना ही उसमे पर के निषेध का भाव उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र का आदर्श 'स्व' पर के मध्य परस्परता का भाव उत्पन्न करना है। व्यष्टि का कर्तव्य समष्टि की ओर उन्मुख होना है। जैनेन्द्र अहभाव को दमित करने के पक्ष मे नही है। उनकी दृष्टि मे अहता यदि भगवत्ता मे लीन हो जाय तो द्वन्द्व का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि मूलत अह के मूल मे स्थित आत्मता और भगवत्ता के मध्य कोई अन्तर नही है। यद्यपि जीव मे ईश्वर के गुण प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नही देते तथापि जैनेन्द्र के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुण यदि उसके अग-प्रत्यग मे देखने की चेष्टा की जाय तो निराशा ही होगी। इसीलिए जैनेन्द्र स्पष्टत स्वीकार करते है कि यदि दिखने वाले जगत मे ईश्वर न दिखाई दे तो घबड़ाने की आवश्यकता नही है। शरीर जड है, अग-प्रत्यग भी जडता के सूचक है। अहभाव चेतनायुक्त है। अतएव सम्पूर्ण सत्य अश मे गर्भित तो होता है किन्तु विच्छेद द्वारा उसकी प्राप्ति नही हो सकती। सत्य की प्रतीति ही सभव होती है। अह विसर्जन के द्वारा ही 'भगवत्भाव' अर्थात् समग्र शक्ति का

अनुभव हो सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे—'जीव का अस्तित्व अपने मे अधूरा है, हममे एक-दूसरे और फिर शेष की आवश्यकता मे रहता है। इसलिए सब जीवात्मा का जो अखण्ड चिन्मय स्रोत है, दम्भ—वही है। ऐसा मानकर हमारा जीवन खण्डित होने के बजाय अखण्ड होता है।'

अर्द्धनारीश्वर : अद्वैत बोधक

जैनेन्द्र की दृष्टि मे अहता अथवा 'मैं' का सर्वाधिक विगलन काम के मार्ग से ही सम्भव होता है। स्त्री-पुरुष स्वय मे अपूर्ण है। एक-दूसरे की प्राप्ति के द्वारा ही पूर्ण हो सकते है। अर्धनारीश्वर की परिकल्पना द्वारा शास्त्रो मे नर-नारी की पूर्णता की ओर भी इगित किया गया है। मानव जीवन की सश्लिष्टता स्त्री और पुरुष के परस्पर सान्निध्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। प्रेम की चुम्बकीय शक्ति के द्वारा स्त्री-पुरुष परस्परता के द्वारा अहशून्य होते हुए भगवत्ता मे विलीन होने का प्रयास करते है। प्रेम की पूर्णता के लिए आत्मा और शरीर दोनो का योग अनिवार्य है। प्रेम मे शरीर का निषेध नही है, किन्तु शरीर को लेकर ही प्रेम पूर्ण नही होता। 'यामादिपिट' मे भी इस सत्य की ओर इगित किया गया है। उसमे एक स्थल पर स्वीकार किया गया है कि 'प्रेम ? प्रेम यह दो भिन्न धाराओ के, दो हृदयों के, आत्माओ के, दो व्यक्तियो के मिलकर एक हो जाने का नाम है। सिर्फ शरीरो का सयोग नही है।'[1] अतएव व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य द्वैत को उत्सर्ग द्वारा अद्वैतता की ओर उन्मुख करना है।

मानसिक संरचना : अखण्ड

जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के ऐक्य पर बल देते हुए उनकी अन्त प्रकृति और बाह्य परिवेश पर प्रकाश डाला है। व्यक्ति का व्यक्तित्व अन्त और बाह्य की समष्टि है। बाह्य-परिवेश की द्वन्द्वात्मक स्थितियो के चित्रण द्वारा जीवन की समग्रता का बोध कदापि नही हो सकता। जैनेन्द्र ने अन्तःप्रकृति के बोध के लिए व्यावहा-

---

१ प्रेम एक जबर्दस्त प्रबल भावना है। विश्वव्याप्त, वैसी ही शक्तिमान। साथ बिस्तर पर रहना ही प्रेम नही है, लुई वैसा प्रेम हम दोनो मे नही है यदि वह आयेगा तो मेरे तुम्हारे लिए परस्पर स्वर्ग उपस्थित हो आएगा।'

—'यामाद्रिपिट' अलेक्जेण्डर क्युप्रिन, अनु० जैनेन्द्रकुमार, १९५८, दिल्ली पृ० स० २६५।

रिक मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन की विश्लेषणात्मक प्रणाली पर आधारित नही है। उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन अध्यात्ममूलक है। मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञानिक मन की शक्तियो को चेतन-अचेतन आदि खण्डो मे विभाजित करके समझने का प्रयास करते है। मनोविज्ञान द्वारा दमित विकारो का ही प्रकटीकरण होता है, किन्तु व्यक्ति की अत चेतना और बाह्य चेतना को आत्मोन्मुखता की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार अत और बाह्य प्रकृति एक ऐसी अविच्छिन्न कडी से सम्बद्ध है कि उसमे पार्थक्य का प्रश्न ही नही उठता। जैनेन्द्र का उद्देश्य मनोविश्लेषण द्वारा अत प्रकृति को उघार कर रख देना नही है वरन् प्रकृति के मूल मे सत्य की अभिव्यक्ति करना है। मनोविश्लेषणवादी विचारो के विरुद्ध उनकी मान्यता है कि––बुद्धि के तीखे नखो से पात्र के मन की चीर-फाड से कला की छीछालेदर की जा सकती है। ऐसी कला से तात्पर्य––सिद्धि तो नही होती। अनवय-समनवय मे सार्थक है और विश्लेषण यदि सार्थक है तो तभी जब वह कुछ सश्लिष्ट भाव उत्पन्न करने मे सम्भव हो।[1] वस्तुत जैनेन्द्र के साहित्य मे विश्लेषण ही नही है, वरन् सत्य को अभिव्यक्त करने की उत्कट अभिलाषा भी है। सत्य सश्लिष्ट ही है।

डा० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए उनके सश्लेषणात्मक रूप पर प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि मे जैनेन्द्र—'किसी समस्या पर विचार करते समय उसे परिपात्रित स्थिति से तोडकर देखना नही चाहते, उसे जीवन के प्रवाह के रूप मे गतिमान देखते है।'[2]

जैनेन्द्र की दृष्टि मे मानव-प्रकृति के सदृश ही शरीरगत प्रभाव के हेतु रूपाकार की समग्रता भी अनिवार्य है सम्पूर्ण शरीर ही सौन्दर्यगत आकर्षण को उत्पन्न करने मे सक्षम हो सकता है। अग-प्रत्यग को छिन-भिन्न करके देखने से समस्त आकर्षण विनष्ट हो जाता है। 'विज्ञान' कहानी मे स्त्री की नाप-जोख करने से सौन्दर्य की अन्विति ही नही समाप्त होती, वरन् उसमे हार्दिकता भी विनष्ट हो जाती है। क्योकि विश्लेषण की प्रवृत्ति चाहे, वह किसी सन्दर्भ मे दृष्टिगत होती हो, आत्मगत हार्दिकता का बोध नही करा सकती। साहित्य का उद्देश्य आत्मिक सौन्दर्य सृष्टि का बोध कराना है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार : 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १८३।

२. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', प्र० स०, १९६८, दिल्ली, पृ० स० ४६।

भौतिक और आध्यात्मिक ऐक्य

जैनेन्द्र ने व्यक्ति से इतर बाह्य परिवेश के चित्रण मे ही समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ही अपनाया है। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के मध्य उन्होंने एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्होंने साहित्य मे वैज्ञानिक उपकरणो के प्रति अनास्था नही व्यक्त की है, उनकी दृष्टि मे यदि वैज्ञानिक अहभाव को त्याग कर श्रद्धा और प्रेम द्वारा अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो तो जीवन मे विनाश के स्थान पर प्रगति का मार्ग खुल जायगा। जैनेन्द्र ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' द्वारा विज्ञान और अध्यात्म की एकता की ओर इगित किया है। उनकी दृष्टि मे भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे परे' करना आस्तिकता से इनकार करना है। क्योकि ये दोनो भी भगवान की ही देन है।[1] उनका पूर्ण विश्वास है कि विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष होकर घुले-मिलेगे, तो उसका सुफल यही हो सकता है कि राष्ट्रो के बीच परस्परता और प्रीति बढे, युद्धो की सम्भावना कम हो और एक विश्व-सस्कृति का विकास हो।'[2] जैनेन्द्र ने विज्ञान और अध्यात्म के सैद्धान्तिक पहलू को व्यावहारिक जीवन मे स्थापित करने का प्रयास किया है। धार्मिक दृष्टि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आस्था और परस्परता का भाव जाग्रत करने मे सक्षम है। जैनेन्द्र के अनुसार केवल भावना मे रहने वाली धार्मिक आस्था जीवन के लिए उपयोगी नही हो सकती। धन की सार्थकता और पूर्णता उसकी सक्रियता मे ही है। यदि धार्मिक भाव से अनुप्राणित होकर व्यक्ति कर्मशीलता की ओर उन्मुख हो तो विज्ञान और अध्यात्म की दूरी स्वत ही विलीन हो जाय। महात्मागाधी के जीवन को जैनेन्द्र ने सश्लिष्ट आदर्श के रूप मे स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि मे गाधी की महानता का रहस्य यही है कि उन्होने भेद मे से अभेद को और जीवन विज्ञान से अध्यात्म विज्ञान को क्षण के लिए विमुख और विलग नही हो ने दिया।[3] जैनेन्द्र की दृष्टि मे भौतिक और आत्मिक द्वैत अद्वैतता एकता मे अर्थात् एकता मे विलीन होने के लिए ही है। जैनेन्द्र ने अर्थ, राजनीति आदि क्षेत्रो मे धार्मिक आस्था का सन्निवेश करके हिंसा और शोषण का निषेध करने का प्रयास किया है। राजनीति और अर्थनीति को मानव नीति से सयुक्त करके उन्होने भौतिक जीवन को आत्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करने का आदर्श प्रस्तुत किया है। परिपूर्ण

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम' (उपोद्‍घात से), पृ० स० ४०।

२ जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम' (उपोद्‍घात से), पृ० स० ४०।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १२२।

व्यक्तित्व मे हिंसा के भाव या कर्म के लिए अवकाश नही रहता।[१] जैनेन्द्र की दृष्टि मे मानव-व्यक्तित्व की अखण्ड युक्तता कठोरता मे नही, वरन् कोमलता मे ही है।[२] उनका विश्वास है कि कठोरता मे से एकाग्रता की साधना करने वाले तपस्वी अन्त मे टूटते ही है। उनकी एकाग्रता प्रेम की स्निग्धता के अभाव मे शुष्क होकर टूट जाती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियो मे ऐसे व्यक्तियो की अपूर्णता पर अनेकानेक स्थलो पर वर्णन किया गया है।

व्यक्तित्व : अखण्ड

जैनेन्द्र के साहित्य मे बार-बार व्यक्तित्व की समग्रता पर ही बल दिया गया है। क्योकि उनकी दृष्टि मे सच्चाई पूर्णता मे ही है। झूठ के आग्रह द्वारा सच बनाने का प्रयास नही किया गया है। जहा ऐसी स्थिति लक्षित होती है, वहा आग्रह अतत पराभूत होते हुए देखा जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'जिन्दगी एक साबत चीज है उसमे खाने नही है, विभाग नही है। वह अखण्ड है और समग्र है।'[३] अखण्डता मे भी जीवन की सार्थकता है किन्तु अखण्डता बुद्धि द्वारा अग्राह्य है और व्यक्ति अपने ज्ञान के दर्प के कारण पूर्णता को खण्ड-खण्ड मे विभाजित करके जानने के प्रयत्न मे लगा ही रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे सत्य मे जानता कुछ नही है, सब होना है। यदि उसे जानना ही होता तो सम्भवत वह सत्य ही नही रहता। विभाजन की यह प्रक्रिया वैज्ञानिक क्षेत्र मे ही नही परिमित होती। जैनेन्द्र के अनुसार नैतिकता व्यक्ति-सापेक्ष्य है। व्यक्ति के जीवन को नैतिक और अनैतिक के आधार पर उच्च और निम्न स्तरो मे विभाजित करके परखा जाता है। हमारे शास्त्रो मे भी विभाजन की यह प्रक्रिया स्पष्टत दृष्टिगत होती है। त्रिगुणात्मक सृष्टि की चर्चा श्रीमद्भागवतगीता मे भी मिलती है। गुणो की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए यह समझना कि सत्वगुण प्रधान व्यक्ति का जीवन विषय-विकार से हीन होता है तथा तमोगुणीव्यक्ति मे सात्विक गुणो के दर्शन नही होते, नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्तित्व सत्य रज और तम मे विभाजित नही है। ये तीनो व्यक्तित्व के ऐसे गुण है जिन्हे विभाजन-रेखा द्वारा विभाजित नही किया जा सकता। जैनेन्द्र ने सत्य, रज और तम के रूप की बडी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उनकी दृष्टि मे तीनो गुण जीवनरूपी मजिल के तीन खण्डो

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १२५।
२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १२७।
३ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० स० २५७।

के सदृश है। इस प्रकार जीवन तीन खण्डो मे बटा है। यदि तीनो मजिलो के बीच आवागमन की सुविधा न हो तो प्रत्येक खण्ड अपने मे कटा रह जायगा। यह स्थिति नितान्त अप्राकृतिक है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे, 'मकान वह तभी काम दे सकता है, उसमे रहा-सहा जा सकता है, जब उन मजिलो मे आपस मे आवाज आयी हो। एक जीना हो जो तीनो को जोडता हो एक मुलाजिम हो जो तीनो का ख्याल और इन्तजाम रखता हो।'[1] जैनेन्द्र के अनुसार तिमजिले मकान का सफल स्वामी वही हो सकेगा, जो नीचे की मजिल का ध्यान उतना ही रख सके जितना ऊपर वाली का रखा जाय तो जीवन सुखमय और सहज हो सकता है।

सत्व, रज, तमः संश्लिष्ट

गीता मे इन तीनो गुणो की सश्लिष्ट अभिव्यक्ति ही हुई है। कृष्ण अर्जुन के समक्ष उपदेश देते हुए बताते है कि जिस काल मे द्रष्टा तीनो गुणो के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नही देखता है, अर्थात् गुण ही मे बरतते है, ऐसा देखता है और तीनो गुणो से परे सच्चिदानन्द स्वरूप मुझ परमात्मा को तत्व से जानता है, उस काल मे वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार गुणो मे ही निवास है, किन्तु व्यक्ति का स्वय निर्गुण होना ही सार्थक है। जैनेन्द्र ने गीता की आध्यात्मिक दृष्टि को जीवन के व्यावहारिक धरातल पर विवेचित किया है। गुणो के वैभिन्य के कारण व्यक्तित्व खण्डित नही होता, वरन् गुण से तद्गत होकर वह पूर्ण ही होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे आत्मा न सतोगुणी है न तमोगुणी। वह सबके ऊपर है।

मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता उपरोक्त तीनो गुणो के सश्लिष्ट रूप की स्वीकृति मे ही सम्भव है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे केवल सत्व की स्वीकृति और रज तथा तम के निषेध से व्यक्तित्व मे समग्रता नही आ सकती। रजस् और तमस् से अनबन करके जीवनयापन करने वाला व्यक्ति अपने आचरण मे कभी भी सहज नही हो सकता। मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निषेधात्मक पहलू की ओर व्यक्ति की प्रवृत्तियो का झुकाव अधिक होता है। जिस ओर जितना दमन का भाव होता है, उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी रहती है। यदि मानवीय प्रवृत्तिया सहज रूप से अपने क्षेत्र मे गतिशील होती हुई उत्तरोत्तर अकर्म अथवा शून्य की ओर बढती है तो उनमे दमन का भाव न होकर सहजता और पूर्णता ही लक्षित होती हैं। जैनेन्द्र की दृष्टि मे खण्डित व्यक्तित्व मे कृशता,

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० स० २५८।
२. श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय १४, श्लोक १९।

अतृप्ति और असन्तुष्टि अधिकाधिक बढती जाती है। ऐसे व्यक्तियो द्वारा पाप का भय सदैव ही बना रहता है। भय के कारण होने वाले आचरण मे सहजता का अभाव रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे व्यक्तित्व का खण्डित रूप मान्य नही है। उनके साहित्य मे बडे-से-बड़े नेता भी प्रवृत्ति के मार्ग से महान बने है। जब कभी निवृत्ति के द्वारा उन्होने त्याग और तपस्या के द्वारा अपने जीवन को सुखाने की चेष्टा की है तो उन्हे पराजय ही मिली है। जैनेन्द्र के पात्र सत्य के समक्ष नतमस्तक होते हुए देखे जाते है। उनके साहित्य मे चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह अपनी अन्तस् की तृषा को तृप्त किए बिना कभी भी सहज नही हो पाता। हठात् अपनी अन्तश्चेतना के सत्य को ठुकराकर वह क्लीव ही बनता है, महान नही। देश के वरिष्ठ नेताओ के प्रति सामान्यतया हमारे मन मे आदर का भाव होता है, किन्तु जब कभी हम उनके व्यक्तिगत जीवन के रहस्य से परिचित होते है, तो हमारा आदर का भाव घृणा मे परिवर्तित हो जाता है और हम यह भूल जाते है कि नेता होने पर भी वह व्यक्ति है। उनमे मानवोचित गुण और दोषो का होना अनिवार्य है। मानवीय गुणो के निषेध द्वारा ब्रह्मचर्य साधना का प्रयत्न निरर्थक ही प्रतीत होता है। सत्य योग मे ही है, किन्तु भोग का निषेध करके होने वाली योग-साधना पूर्ण नही हो सकती। 'बाहुबली' मे बाहुबली के मन मे जो फास होती है, उसके निकाले बिना उसकी पूर्णता की प्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होता है। 'क.पथा' कहानी मे सत्य का निषेध करके शरीर को तप द्वारा अधिकाधिक सुखाने से अन्तर की पिपासा शान्त नही होती और अन्तत उपरोक्त कहानी मे लालचन्द्र को विक्षिप्त होते हुए देखा जाता है। 'सुखदा' मे सुखदा को घर छोडकर बाहर जाने वाली नेत्री ही समझा जाता है किन्तु उसके अन्तर्द्वन्द्व को जानने की चेष्टा नही की जाती। अभाव के कारण वह बाहर की ओर आकर्षित होती है, किन्तु घर से उसका विरोध नही होता। वह चाहती है कि घर पर उसे आत्मिक विश्वास और प्रेम मिले किन्तु वह सम्भव नही हो पाता, जिसके कारण वह कही की नही रह पाती। 'मुक्तिबोध' और 'अनन्तर' मे पाप के भय के कारण तथा सामाजिक मर्यादा के हेतु स्त्री से दूरी का भाव लक्षित होता है। 'मुक्तिबोध' मे 'प्रसाद' मन की दुर्बलता के कारण ही नीलिमा की नगी त्वचा के स्पर्श से क्रुद्ध हो उठता है और उसके आचरण के प्रति अपनी खीझ व्यक्त करता है। यदि 'प्रसाद' के भीतर नग्नता इतनी महत्वपूर्ण न होती तो उसमे नारी-शरीर के स्पर्श मात्र से झुझलाहट न आती और वह सहज बना रहता।[1] वस्तुत. जैनेन्द्र ने व्यक्ति के राजनीतिक जीवन

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ६५।

के साथ उसके व्यक्तिगत जीवन की सत्यता को भी स्वीकार किया है। राज-नीति अथवा धर्म को लेकर व्यक्ति स्वय से इतना टूट नही जाता कि वह व्यक्ति ही न रहे।

जैनेन्द्र मन को प्रताडित करते रहने की परिपाटी के कायल नही है। उनकी दृष्टि मे वह सब आचार व्यभिचार है, जिसमे भय और सशय है। भय से साधी जाने वाली नैतिकता समाज मे ऐसी सडाध उत्पन्न करती है, जिसके बीच घुटता हुआ जीवन स्वच्छ वायु के अभाव मे निष्प्राण प्रतीत होने लगता है। वस्तुत व्यक्ति का जीवन एक अखण्ड इकाई है। जिस प्रकार नक्शे की मोटी लकीर जमीन पर नही मिलती, उसी प्रकार जिन्दगी पर तत्ववादी की लकीर भी नही है। धरती एक है। हर बिन्दु पर वहा उत्तर-दक्षिण मिला हुआ है, इसी तरह जिन्दगी एक चीज है और उसके हर जीवन-कण-कण पर सत्व-रज और तम मिल जाते है।[1] जैनेन्द्र गुणो के भेद को स्वीकार करते है तथापि गुण-भेद के द्वारा जीवन की अखडता को विभाजित करने के पक्ष मे नही है।

निष्कर्षत. जैनेन्द्र के साहित्य का इष्ट अखण्डता की भावना ही है, उन्होने स्वय ही यह स्वीकार किया है कि उनके मन मे एक गहरा अन्तर्दन्द्व है, अकु-लाहट है जो प्रकट होने के लिए बेचैन है। और वह है यही अखण्डता की भावना। अपनी इस आन्तरिक उद्वेलन को प्रकट करने के लिए उपन्यास और कहानी की रचना की है। उनकी दृष्टि मे अखण्डता का बोध ही वह कुजी है, जो जीवन की बडी से बडी समस्या के समाधान मे सहायक हो सकती है किन्तु यह अखण्डता ही व्यक्ति की पकड से बाहर हो रही है। जैनेन्द्र के अनुसार इस अखण्डता को ढूढने का एक मात्र साधन है—प्रेम और अहिसा। जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य प्रेम और अहिंसा के अर्थो को ही व्याख्यायित करता हुआ प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि मे प्रेम और अहिंसा का अर्थ है, दूसरे के लिए अपने को पीडा देना। पीडा मे ही परमात्मा बसता है।[2] उन्होने स्पष्टत. स्वीकार किया है कि 'मेरे उपन्यास आत्मपीडन के ही साधन है और इसीलिए मैंने उनमे कामप्रवृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योकि काम की यातनाओ मे ही आत्मपीडन का तीव्रतम रूप है।'[3] उनका विश्वास है कि उनके उपन्यास पाठक को जितनी आत्मपीडन की प्रेरणा देते है, जितना उसके हृदय मे प्रेम पैदा करके जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते है, उतने ही सफल कहे जा सकते है।[4] जैनेन्द्र का समग्र

---

१. जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० २५९।
२ डा० नगेन्द्र : 'आस्था के चरण', पृ० स० ३००।
३. डा० नगेन्द्र 'आस्था के चरण', पृ० स० ३००।
४. डा० नगेन्द्र 'आस्था के चरण', पृ० स० ३००।

साहित्य इस सत्य की अभिव्यक्ति कराने मे समर्थ है। उनके पात्रो की पीडा हमसे छिपी नही है। मृणाल और कल्याणी अपनी पीडा से स्वय ही व्यथित नही होती, वरन् पाठको के हृदय मे भी एक गहरी टीस उत्पन्न करने मे सक्षम होती है।

सृष्टि-अखण्ड

साहित्य, कला और सस्कृति का उत्स विभाजन मे न होकर ऐक्य मे ही समाहित है। जैनेन्द्र ने सृष्टि के मूल मे गर्भित सत्य की इतनी अकाट्य अभिव्यक्ति की है, जिसे स्वीकार किए बिना कोई भी सृजन-प्रक्रिया पूर्ण और आत्मिक नही हो सकती। 'सृष्टि वहा से है जहा आदमी लीन हो जाता है, जहा वह अपनी विभक्ति भूल जाता है। जहा वह न अच्छा रहता है, न बुरा रहता है। जहा वह बटा नही होता, एकाग्र और समग्र हो जाता है। जहा वासना और भावना मे प्रखरता नही रह जाती। जहा व्यक्ति अपने को पूरा अगीकार करता और फिर पूरा-का-पूरा निछावर कर डालता है। जहा अपने किसी अश को पीछे रोकता नही और सर्वांश को स्वाहा करके धन्य हो जाता है।[1] 'जैनेन्द्र के उपरोक्त कथन मे उनके चिन्तन का सार स्पष्टत दृष्टिगत होता है। उनके साहित्य मे इन्ही तत्वो को जीवन मे घटित होते हुए दर्शाया गया है। उनकी दृष्टि मे सृष्टि ज्ञान मे से न होकर अबोधता मे से ही सम्भव हो सकती है। ज्ञान मे विभाजन है। विश्व की महान् प्रतिभाए स्वीकार और समन्वय के मार्ग का अनुसरण करने के कारण ही सम्भव हो सकी है। जैनेन्द्र का दृढ विश्वास है कि विभक्त मानसिकता मे से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खण्डित व्यक्तियो के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र मे देखने मे आते है, सो इसी कारण कि उनकी वफादारी जीवन और जगत के प्रति न होकर सिद्धातो के प्रति होती है।'[2] जीवन मे पूर्णता एकमात्र प्रेम और स्वीकारता मे से ही सम्भव है। प्रेम की सक्रियता परस्परता मे ही लक्षित होती है।

साहित्यिक-प्रक्रिया : संश्लेषणात्मक

जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि सश्लेषणात्मक होने के साथ ही उनकी साहित्यिक प्रक्रिया भी सश्लिष्टता से अनुप्राणित है। जीवन की अखण्डता को बुद्धिप्रसूत

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत . पृ० स० २६०।

२. जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० २६०-२६१।

विश्लेषक प्रक्रिया द्वारा वे खण्डित करने के पक्ष मे नही हैं। अखण्ड सत्य को वे ज्ञान का विषय न मानकर सम्बुद्धि का विषय मानते है। सम्बुद्धि मे अर्न्तदृष्टि की प्रधानता होती है। अर्न्तदृष्टि द्वारा सत्य को समग्र रूप मे देखने की चेष्टा की जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार उपदेश मूलक, आलोचनात्मक दृष्टि से सृजनात्मक साहित्य मे अभिव्यक्त जीवन की सहजता और सजीवता का दिग्दर्शन सम्भव नही हो सकता है। आलोचनात्मक प्रक्रिया द्वारा वस्तु को अखण्ड रूप मे न देखकर उसे भिन्न-भिन्न करके देखा जाता है। यथार्थ की अभिव्यक्ति के लोभ मे व्यक्ति को पूर्णतया विश्लिष्ट करके देखने से सत्य की अनुभूति नही हो सकती। विश्लेषण के द्वारा अनेकता और विच्छिन्नता ही यथार्थ बन जाती है और यथार्थ के मूल मे अन्तर्भूत सत्य अदृश्य हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार यथार्थ के आग्रह मे सौदर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। वस्तु की अनेकता बेहद उभर पडती है। जैसे सब कुछ परस्पर को व्यक्त करता हुआ सिर्फ कटा-फटा है। साहित्य-वस्तु की अनेकता मे से अपेक्षाकृत दृश्य एव दर्शन की एकता की सृष्टि करता है।[1] जैनेन्द्र की दृष्टि मे साहित्य का उद्देश्य जीवन की विविधता मे एक अमोध और अदृश्य सूक्ष्म सत्य की प्रतिष्ठा करना है।

जीवन के साथ ही साहित्य-प्रक्रिया भी वैज्ञानिक पद्धति से अनुप्राणित है। वैज्ञानिक बुद्धि अन्वयपरक अधिक होती है, किन्तु साहित्य अन्य और विश्लेषण के आधार पर रसानुभूति और प्रभावगत अन्विति से शून्य हो जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे सत्य शिव सुन्दरम् की पूर्णता साहित्य मे रसानुभूति और स्थायित्व उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। यथार्थ की प्राप्ति के लोभ मे वस्तुगत समग्रता विनष्ट हो जाती है, क्यो कि सत्य शिव सुन्दरम इन तीनो मे से किसी एक के भी अभाव अथवा अन्य के वर्णन की अतिशयता से साहित्य का स्वरूप पूर्ण नही हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से सत्य के अनुसधान मे हम कितने भी दूर जा सकें, चित्त सत्य तक नही पहुच सकते है। नही पहुच सकते है, इसलिए है कि वहा पहुचने वाला व्यक्ति और पहुचने की मजिल जो बने रहते है। जैनेन्द्र जीवन और साहित्य के लिए श्रद्धापरक ज्ञान को ही स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि मे आस्थायुक्त बुद्धि दूसरे को खण्डित करके चलने के भ्रम मे नही पडती। श्रद्धा और विश्वास के द्वारा आग्रह का भाव प्रखर नही होता। इसमे समर्पण और स्वीकारता की भावना ही विशेषरूप से जाग्रत होती है, तो उसमे शब्द और रूपाकार गौण हो जाते हैं, भाव-गरिमा ही शब्दो द्वारा ध्वनित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे प्राप्त होने वाले दार्शनिक-बोध के

---

१. जैनेद्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', पृ० १३१।

आधार पर हम उन्हे ज्ञाता से अधिक एक द्रष्टा के रूप मे स्वीकार कर सकते है। ज्ञाता होने मे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है। किन्तु अर्न्तबुद्धि के सहारे सत्य को जानने मे लीनता का भाव लक्षित होता है।[1]

सत्यबोध श्रद्धामूलक

जैनेन्द्र के साहित्य मे श्रद्धा का भाव विविध रूपो मे अभिव्यक्त हुआ है। इनकी दृष्टि मे श्रद्धा ऊपर से थोपी नही जाती, वह तो 'मर्म की ओर से शायद व्यथा है। 'व्यक्ति, व्यक्ति मे ज्ञान का दम्भ तो हो ही नही सकता। श्रद्धा के कारण वह केवल समर्पित ही होता है।' 'अनन्तर' मे ज्ञान और विज्ञान के ऐक्य के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता पर बल दिया है। श्रद्धा के ऐक्य से ज्ञान और विज्ञान परस्पर पूरक हो सकते है। श्रद्धा ऐक्यमूलक है। वह व्यवच्छेद पर आश्रित नही है। जैनेन्द्र का अटूट विश्वास है कि जो जानने मे उपलब्ध नही हो सकता वह विनम्र श्रद्धा के द्वारा सहज हो जाता है।[2] जैनेन्द्र के अनुसार न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का बोध विश्लेषणात्मक बुद्धि से नही, वरन् सबुद्धि से प्राप्त हुआ था, जिसे हम प्रज्ञा भी कहते है। व्यर्थ प्रयत्न मे चिन्ता मन को सत्य का बोध श्रद्धा से झुक जाने और समर्पित होने मे ही प्राप्त होता है। श्रद्धालु के हृदय मे ज्ञाता और ज्ञेय का पार्थक्य मिट जाता है किन्तु बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के पार्थक्य पर ही आधारित होता है।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त जीवन सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की समकक्षता मे विवेचित किया जा सकता है। डा० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए उन्हे गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की समकक्षता मे ही प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार जैनेन्द्र का सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण गेस्टाल्ट के सम्पूर्णतावाद से अभिन्न है। उपाध्याय जी की दृष्टि मे 'गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक वस्तु को आकार से भिन्न नही देखता, तीन या चार बिन्दुओ को देखते ही वह एक त्रिकोण या

---

१. 'जब हम किसी कारण अपने को सर्वथा बिसरे रहते है, मानो शून्य हो जाते है, चैतन्य हममे सोया नही रहता, पर प्रवृत्त भी नही होता और केवल जाग्रत भर रहता है, तब सबुद्धि काम कर जाती है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ६१५।

२. जैनेन्द्रकुमार . 'अनन्तर', पृ० स० १००।

चतुष्कोण को देख लेता है, मानो वह त्रिकोण या चतुष्कोण वहा बिन्दुओ के अस्तित्व मे आने से पूर्व ही किसी रहस्यमय रूप मे उपस्थित हो और रेखाओ को सार्थकता प्रदान करते हो।'[१] जैनेन्द्र की कहानियो और उपन्यासो मे प्राप्त होने वाली रिक्तता को भी खण्डित रूप मे न देखकर भावगरिमा से युक्त करके अखण्ड रूप मे देखा गया है। उपाध्याय जी के अनुसार रिक्तता मे ही जैनेन्द्र के साहित्य का वैशिष्ट्य गर्भित है।[२] उपाध्याय जी की दृष्टि मे गेस्टाल्टवादी दृष्टि से देखने पर—टुकडे नही दीख पडते है, परन्तु उनके बीच मे जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है, वही सबसे पहले दीख पडती है। उसी व्यवस्था और परस्पर-बद्धता के मध्य पडे दीखने के कारण वे खण्ड अपूर्ण अश खण्डित नही, पर व्यवस्थित और सगठित रूप मे दीखते है।[३]

जैनेन्द्र की अखण्ड दृष्टि और गेस्टाल्ट

जैनेन्द्र के साहित्य मे सम्पूर्णतावादी दस्टिकोण का प्रभाव पूर्णत दृष्टिगत होता है, तथापि जैनेन्द्र का चिन्तनपक्ष किसी वाद-विशेष से परिबद्ध नही है। उनके साहित्य मे प्राप्त होने वाला सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण उनकी आस्तिकता के सस्पर्श से मनोवैज्ञानिक तथ्य न रहकर आध्यात्मिक विषय बन जाता है। गेस्टाल्ट ने वस्तु को आकार से भिन्न रूप मे समझने की चेष्टा नही की है। उनका चिन्तन वस्तुगत है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य मे सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण की झलक उनकी आध्यात्मिक दृष्टि के सन्दर्भ मे ही देखी जा सकती है। इस दृष्टि से उनकी 'तत्सत' कहानी बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होती है। 'तत्सत' कहानी मे प्रत्येक वृक्ष अपने सम्बन्ध मे इतना अहनिष्ठ है कि वह 'स्वय' को समष्टि की सापेक्षता मे वन अथवा जगल के रूप मे स्वीकार करने मे असमर्थ होता है। हजार चेष्टा करने पर भी उन्हे यह समझ मे नही आता कि वन क्या है? वे परस्पर विवाद करते हुए कहते है—'मैं जगल हूँ। तब बबूल कौन है?' इसी प्रकार बास कहता है— 'झूठ! क्या मै यह मानू कि मैं बास नही, जगल हूं, मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बास हूँ।' 'और मै घास?' और मै

---

१. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० स० ११८।
२. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० सं० १२१।
३. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० स० १२१।

शेर।' इस प्रकार यह नही समझ पाते कि जगल कही बाहर या दूर नही है, वरन् उनकी समष्टि मे ही जगल है। अन्त मे एक विज्ञ पुरुष बडदादा के सहयोग से उन्हे सत्य का बोध कराने मे सक्षम होता है। इस प्रकार उन्हे यह बोध होता है कुल है, खड कुछ नही है, उनका यह समझना कि मै बास हू, मैं सेमर हूँ, भ्रम है। सत्य का बोध होते ही बडदादा कह उठते है—'वह है, वह है।'... 'सब कही है। सब कही है और हम ? 'हम नही, वह है ?' इस प्रकार सत्य की अनुभूति समग्रता मे ही सम्भव हो पाती है। सत्यखण्ड मे भी अन्तंभूत है, किन्तु खण्ड अथवा अश कोई सत्य मानकर चलने मे आमवादिता लक्षित होती है। इस तथ्य के द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र की दृष्टि मे 'मै' अथवा अशत सत्य नही है, सत्य 'वह' है अर्थात् ईश्वर है जो कि पूर्ण है।

जैनेन्द्र की उपरोक्त आध्यात्मिक दृष्टि उनके पात्रो के व्यावहारिक जीवन मे भी लक्षित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य मे लक्षित व्यक्तित्व की समग्रता के आदर्श मे भी यही सम्पूर्णतावादी दृष्टि के ही दर्शन होते है। जीवन का कोई भी पक्ष खडित होकर निषेध द्वारा पूर्ण नही हो सकता। जीवन की पूर्णता सत्-असत् की स्वीकृति द्वारा उत्तरोत्तर उससे पार उठने मे है। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अविभाज्य है, अतएव इसे खण्डित करके समझने का प्रयत्न मिथ्या है। उनका विश्वास है कि अह के द्वारा व्यक्ति अखण्ड सृष्टि से नही, वरन् वस्तु के राग से होता है।

उपसंहार

जैनेन्द्र के वृहद् साहित्य-सागर मे अवगाहन करने के अनन्तर हमे जो कतिपय विचार-भौक्तिक प्राप्त होते है, वे कथा-साहित्य-जगत मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। जैनेन्द्र के साहित्य मे उपलब्ध ये भौक्तिक उनके अपने ही हैं, किसी से उधार लिए हुए नही है। यही है उनकी वैचारिक विशिष्टता का मूलाधार। उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति मे न तो परम्परा से बधने की ही चेष्टा की है और न ही सायास उससे सम्बन्ध तोडने का प्रयत्न किया है। उनकी भाव और विचार-गत नवीनता अन्त प्रसूत होने के कारण आग्रह से सर्वथा उन्मुक्त है। जैनेन्द्र के साहित्य का उत्स उनकी अन्तर्व्यथा ही है। अभावजन्य वेदना ही उनके साहित्य का उत्स बनी है। वस्तुत 'स्व' से 'पर' की ओर अर्थात् अपनी निजता को लेकर परता की ओर उन्मुख होने के कारण उनके साहित्य मे आत्मानुभूति और सत्य का समावेश सहज रूप से ही होता गया है। बाह्य-परिवेश उनके बोद्धिक धरातल से टकरा कर ही रह गया है, वरन् वह अन्तश्चेतना के रस का सस्पर्श करता हुआ पुन. साहित्य के माध्यम से बाह्यमुखी हुआ है।

जैनेन्द्र से पूर्व साहित्य-सृजन की प्रक्रिया बाह्य स्थिति और समस्याओ को लेकर गतिशील हुई थी। सम-सामयिकता के प्रभाव के कारण उनकी रचनाओ मे समय से ऊपर उठने की प्रवृत्ति दृष्टिगत नही होती, किन्तु जैनेन्द्र का साहित्य काल से जडित नही है। उसमे देश और काल से ऊपर उठकर मानव जीवन के शाश्वत और चिरन्तन सत्यो की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र ने अन्तश्चेतना को प्रमुखता देते हुए भी बाह्य स्थितियो की अवहेलना नही की

है। क्योकि उनके चिन्तन का आधार तो बाह्य-परिवेश ही था। अन्तर केवल उसकी अभिव्यक्ति के कारण ही उत्पन्न होता है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य मे मनुष्य द्वारा विकसित जीवविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म आदि का मानव जीवन की सापेक्षता मे विवेचन किया है। मानव जीवन की पूर्णता, परिस्थिति और परिवेश की सापेक्षता मे ही सम्भव हो सकती है, किन्तु परिवेश बाह्य रूप तक ही सीमित है। बाह्य रूप पर सामान्यत सभी की दृष्टि पडती है। किन्तु महत्ता उसकी है, जो स्थिति के मूल मे अदृश्य सत्य को पकडने की चेष्टा करता है और बाह्याकर्षण मे ही अपने को परिमित नही रखता। जैनेन्द्र ने परिवेश रूप पल्लव और शाखाओ के रूपाकार मे फसकर उसके मूल की अवहेलना नही की है। यह आवश्यक नही कि जीवन अथवा साहित्य का उत्स आकर्षक ही हो, किन्तु सत्य, सत्य है। उसके सुन्दर-असुन्दर, भले-बुरे होने से कोई अन्तर नही आता। यह सत्य ही जैनेन्द्र के समग्र साहित्य मे सहज रूप से अभिव्यक्त होता हुआ दृष्टिगत होता है। यदि हम जैनेन्द्र के साहित्य का सूक्ष्म अवगाहन करे तो उसके मूल मे हमे एकमात्र सत्य का स्वर ही ध्वनित होता हुआ दृष्टिगत होगा। समस्या छोटी हो, या बडी, शाश्वत हो या चिरन्तन, घर की हो या बाहर की—सब के मूल मे उन्होने सत्य को ग्रहण करने की चेष्टा की है।

सर्वप्रथम जैनेन्द्र के विचारो का मूल स्वरूप हमे उनकी जीववैज्ञानिक दृष्टि मे उपलब्ध होता है। मानो वही रूप उनके समस्त साहित्य मे छाया हुआ है। सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक डार्विन ने जीवन का विकास पशु से माना है। जैनेन्द्र डार्विन के इस विचार से सहमत है, किन्तु वे वैज्ञानिक ही नही है, दार्शनिक भी है। उनकी दृष्टि वर्तमान तक ही सीमित न रहकर उसके पूर्व अथवा उसके उत्स को जानने की चेष्टा करती है। जैनेन्द्र ने सम्बुद्धि के द्वारा डार्विन के विचारो से एक कदम पीछे हटने की चेष्टा की। उन्होने पशुता के मूल मे सत्य को देखने का प्रयास किया। जैनेन्द्र ने विकासवादी पशुत्व के मूल मे देवत्व को हिसा मे अहिसा की स्थिति के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पशुत्व के मूल मे देवत्व की भावना उनके साहित्य मे सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र ने जीवन के शाश्वत सत्यो यथा—ईश्वर, जीव, जन्म, मृत्यु आदि के सम्बन्ध मे आत्मानुभूति सत्य का प्रकटीकरण किया। जैनेन्द्र की दृष्टि मे ईश्वर सत्य ही नही है, वरन् वही एकमात्र सत्य है। उससे परे सब मिथ्या है। सत्य अद्वैत है। वह चर्चा का विषय नही बन सकता किन्तु व्यावहारिक जीवन मे वही सत्य ईश्वर के नाना रूपो मे ग्रहण किया जाता है। भक्त अपनी अनुभूति के अनुकूल उसे प्रतिमा प्रदान करता है। जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था

उनके समस्त साहित्य मे श्रद्धा और आत्मविश्वास तथा भाग्य निर्भरता के रूप मे लक्षित होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति की समस्त क्रियाओ का मूलाधार उसकी धार्मिक दृष्टि मे ही समाविष्ट है। उन्होने धर्मपूर्वक ही राजनीति, धर्म और समाज आदि समस्याओ को सुलझाने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि मे धर्म परम्परागत कर्मकाण्ड से पृथक् जीवन की सहजता अथवा प्रकृति की स्वीकृति मे ही समाहित है। अहिसा, अपरिग्रह, दया, प्यार, सेवा आदि मानवीय गुणो का भी उन्होने यत्र-तत्र विवेचन किया है। उनकी दृष्टि मे मोक्ष जगत से मुक्ति नही है, वरन् अह से मुक्ति है। वस्तुत ससार मे रहकर भी व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस सम्बन्ध मे जैनेन्द्र जैन दर्शन से तटस्थ है। जैनियो का कैवल्य उन्हे स्वीकार नही है।

जैनेन्द्र ने अह को अशता के रूप मे स्वीकार किया है। उनके अनुसार कुल अस्तित्व अखण्ड है। कुल मे जो खण्डितता की प्रतीति आई है, उसे हम दो आयामो मे विभाजित कर सकते है—काल और आकाश। इन दो आयामो के मेल अथवा काट का बिन्दु ही अह बिन्दु है। काल और आकाश के मिलन-बिन्दु मे चेतना का प्रवाह होने से पृथकता अथवा 'मै' का बोध होता है। जैनेन्द्र ने 'अह' शब्द को कई अर्थों मे स्वीकार किया है। प्रथमत अह अस्तित्वबोधक है। 'मैं' का अपर रूप अहकार बोधक है। जैनेन्द्र के अनुसार अह का विसर्जन अर्थात् 'मैं' भाव का त्याग ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। 'मैं' और 'पर' के प्रश्न को उन्होने 'स्व' पर के रूप मे भी लिया है। 'मै' अथवा 'स्व' की परोन्मुखता ही उनके साहित्य का इष्ट है। समाज और राजनीति मे 'अह' का यह रूप व्यक्ति के रूप मे प्राप्त होता है।

सामाजिक स्तर पर जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को लेकर ही तत्सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ की ओर दृष्टिपात किया है। परिवार, विवाह, प्रेम-विवाह वैवाहिक जीवन मे प्रेम, कामभावना, वेश्यावृत्ति आदि विषयो का विवेचन उन्होने अपनी अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र ने सामाजिक मर्यादा का निषेध नही किया है और न ही वे परिवार को तोडने के पक्ष मे है, किन्तु जहा तक प्रेम का सम्बन्ध है, उसे वे सामाजिक बन्धन से मुक्त मानते हैं। काम और प्रेम को लेकर उनके साहित्य मे अनेकानेक समस्याए दृष्टिगत होती है। यह सत्य है कि विवाह मे प्रेम द्वारा जैनेन्द्र ने जीवन के एक महत्व-पूर्ण सत्य की ओर दृष्टिपात किया है, क्योकि इस सत्य से कोई नकार नही सकता कि विवाह के बाद पति-पत्नी का आकर्षण बाहर की ओर से पूर्णतया समाप्त हो जाता है और वे परिवार के घेरे मे बन्द हो जाते है। हम व्यक्ति-

गत अनुभव के आधार पर यह कह सकते है कि विवाह के अनन्तर भी प्रेम की स्थिति बनी रहती है। यह बात दूसरी है कि वह काम के स्तर पर घटित होता हुआ न दिखायी दे। किन्तु साहित्य मे सच्चाई को न भी व्यक्त करके सदैव मर्यादा को ही अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। सत्य के छिपाव मे व्यक्ति का छल ही अन्तर्भूत होता है। यदि जीवन के सम्बन्ध सहज हो तो उनमे विकृति आने का प्रश्न ही नही उठता।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति सत्-असत् गुणो की समष्टि है। महत्ता अथवा तुच्छता उसके व्यक्तित्व का अग है। एक की स्वीकृति और अन्य के निषेध मे व्यक्तित्व की पूर्णाभिव्यक्ति सम्भव नही हो सकती। व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए उसका सब कुछ स्वीकार करना होगा। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति देवता और पशु के बीच की कडी है। अतएव उसमे दोनो के अशो का होना स्वाभाविक ही है। जब कभी वह अपने अन्तस् की तुच्छता को दबाने का आग्रह करता है तो उसके व्यक्तित्व मे विकार उत्पन्न हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार साहित्य मे तुच्छ अथवा दलित व्यक्ति भी उतना ही माननीय है, जितना प्रतिष्ठित।

जैनेन्द्र ने जीवन की राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओ को व्यक्ति की सापेक्षता मे ही स्वीकार किया है। राजनीति मे प्रचलित विभिन्न वादो मे उनकी दृष्टि मे वही वाद सत्य अथवा स्वीकृत हो सकता है, जिसमे व्यक्ति का हित प्रधान हो। व्यक्ति की उपेक्षा करने वाला वाद स्वार्थ का ही पोषक है।

जैनेन्द्र ने भाग्य, कर्म, परम्परा तथा जीवन-मृत्यु के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचारो का प्रतिपादन किया है। उनकी परम आस्तिकता उन्हे किसी पल भी भाग्य के चक्र से मुक्त नही होने देती। उनके पात्र अतिशय भाग्य-वादी है। जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ की सार्थकता केवल कर्मशीलता मे ही है। भाग्य पुरुषार्थ का सहयोगी होकर ही चलता है। पुरुषार्थ मे जब निराशा मिलती है तो भाग्य के सहारे उनके पात्र टूटने से बच जाते है। जैनेन्द्र ने कर्म-परम्परा को पूर्व जन्म अथवा पुनर्जन्म की शृ खला से नही जोडा है। उनके अनुसार पुनर्जन्म होता है, यह सत्य है, किन्तु कोई यह नही देखने जाता कि पुनर्जन्म द्वारा पूर्वजन्म के कर्मो और सम्बन्धो मे सम्बन्द्धता होती ही है। इस तथ्य को जैनेन्द्र ने पतझड के आधार पर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रतिवर्ष पतझड मे पत्ते झर जाते है और पुन बहार आने पर उनमे नये पल्लव आ जाते है, किन्तु कह कौन सकता है कि ये वही पल्लव है जो कि पिछली पतझड मे झरे थे। इस प्रकार जैनेन्द्र इस जन्म को पूर्व अथवा पुनर्जन्म से सम्बद्ध नही मानते। उनकी दृष्टि मे पुनर्जन्म की सार्थकता केवल व्यक्ति के बार-बार जन्म होने मे ही है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के कर्म मृत्यु के बाद

उसके साथ नही जाते वरन् यही कालाकाश मे व्याप्त हो जाते है तथा साहित्य और इतिहास के रूप मे स्थायी रहते है। जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु मे जीवन का अन्त नही है। मृत्यु जीवन का द्वार है। मृत्यु की चेतना से व्यक्ति सतत् कर्मशील रहता है किन्तु मृत्यु का भय अपेक्षित नही है।

जैनेन्द्र ने मानव जीवन का सश्लेषणात्मक स्वरूप व्यक्त किया है। उन्होने मानव जीवन को खण्ड रूप मे न देखकर पूर्ण इकाई के रूप मे विवेचित किया है। इसीलिए वे व्यक्तित्व मे होने वाली काट-छाट को उचित नही समझते। उन्होने जीवन की समग्र अभिव्यक्ति की है। उनके सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को गेस्टाल्टवाद के समकक्ष मे विवेचित किया जा सकता है, तथापि उनमे कुछ मूलभूत अन्तर दृष्टिगत होता है, जिसके कारण वे गेस्टाल्ट के विचारो से तटस्थ प्रतीत होते है।

जैनेन्द्र-साहित्य का अध्ययन करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि उनके विचारो पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारको की छाप तत्कालीन परिस्थितियो के कारण यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है। तथापि जैनेन्द्र को किसी वाद विशेष का प्रचारक अथवा अनुगामी नही माना जा सकता। क्योकि वे परिस्थिति की सापेक्षता मे भी अपनी अनुभूति की सत्यता से वचित नही रहे है। जैनेन्द्र के सम-सामयिक फ्रायड, मार्क्स आदि विचारको मे भौतिकता की ओर अधिक उन्मुखता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर व्यक्ति की समस्त क्रियाओ का मूल 'निबिडो' मे देखा है। उनके अनुसार काम ही व्यक्ति की समस्त क्रियाओ का सचालक है। उन्होने अचेतन मन को दमित वासना का केन्द्र माना है। किन्तु जैनेन्द्र काम को जीवन का अनिवार्य अग मानते हुए भी उसे फ्रायड की दृष्टि से स्वीकार नही करते ना ही उन्होने मन को चेतन, अचेतन, अवचेतन स्तरो मे विभाजित ही किया है। विश्लेषण के द्वारा व्यक्तित्व की समग्रता विनष्ट हो जाती है। तथा हार्दिक सवेदना के लिए भी कोई स्थान नही रहता। फ्रायड और जैनेन्द्र की दृष्टि मे मूल पार्थक्य जैनेन्द्र की आध्यात्मिकता के कारण उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र ने अचेतन मन को भगवत्ता अथवा सत्य का केन्द्र माना है, पाप का पुज नही। इस प्रकार अचेतन द्वारा प्रेरित क्रियाए सत्योन्मुख होती हैं, कामोन्मुख नही।

मार्क्स की दृष्टि अर्थप्रधान है। उन्होने भौतिक-सुख-सुविधा के लिए ही अधिकाधिक धन वृद्धि तथा समता पर जोर दिया है। मार्क्स की दृष्टि मे अर्थ का समान वितरण अत्यधिक आवश्यक है। इस हेतु वे हिसात्मक क्रान्ति का सहारा लेना आवश्यक ही नही, अनिवार्य समझते हैं। किन्तु जैनेन्द्र साधन की शुद्धता के आधार पर प्राप्त होने वाले साध्य को ही स्वीकार करते है। वे रक्त

क्रान्ति के द्वारा लायी जाने वाली समानता के पक्ष मे नही है । उनकी दृष्टि मे इस प्रकार की समानता ऊपर से थोपी हुई है । इसलिए कभी-न-कभी उसकी प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी ही रहेगी । इसीलिए जैनेन्द्र परिस्थिति और समस्या को लेकर किये जाने वाले सुधार के पक्ष मे नही है । उनकी दृष्टि मे यदि सुधार होना ही है तो वह व्यक्ति की अन्तश्चेतना मे ही होना चाहिए । यदि व्यक्ति के मन मे ही स्वार्थ की भावना न होगी तो वह स्वत ही आदर्शो-न्मुख प्रतीत होगा । वस्तुत सुधार की भावना अन्त प्रसूत होनी चाहिए । इसका मूल आधार व्यष्टि द्वारा समष्टि के प्रति विसर्जित होने मे ही लक्षित होता है । मार्क्स की समस्या अर्थ प्रधान थी । जैनेन्द्र ने भी अर्थ को महत्वपूर्ण माना है, किन्तु उनकी दृष्टि मे अर्थ ही साध्य नही हो सकता, इस प्रकार वे अर्थ और काम को मार्ग मे ही मानते है । उनके अनुसार धर्मपूर्वक अर्थ और काम के मार्गो से गुजरते हुए मोक्ष की ओर उन्मुख होना ही जीवन का लक्ष्य है ।

जैनेन्द्र के विचारो पर यदि किसी का प्रभाव पडा है तो वह गाधी जी है । जैनेन्द्र गाधी से प्रभावित है, पर गाधीवाद से बधे नही है । उन्होने विचारो का सार ग्रहण किया है, वाद से स्वय को जडित नही किया है । इसीलिए वे गाधी से इतना प्रभावित होते हुए भी अपने को गाधीवादी नही मानते । गाधी की अहिसा-नीति, सर्वोदय भावना, कुटीर उद्योग, अद्वैत निष्ठा, आत्मपीडन आदि का प्रभाव जैनेन्द्र के साहित्य मे स्पष्टत दृष्टिगत होता है । जैनी होने के कारण जैनेन्द्र पर धर्म का प्रभाव पडना भी स्वाभाविक भी है, किन्तु वे जैन धर्म से प्रभावित होते हुए भी उसकी मान्यताओ के पक्ष मे नही है । उनके अनुसार निषेध अथवा नकार के द्वारा कोई भी धर्म पूर्ण नही हो सकता । जैन धर्म मे जीवन के सुख तथा मानव प्रकृति का निषेध किया गया है । जैनेन्द्र ने जैन धर्म की तपश्चर्या द्वारा कैवल्य की प्राप्ति को स्वीकार नही किया है, क्योकि उसमे व्यक्तित्व को पूर्णता नही प्राप्त होती । जैन धर्म की अति अहिसात्मक दृष्टि भी उन्हे मान्य नही है । जैनेन्द्र के अनुसार भावना की शुद्धता द्वारा यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह पाप नही है । जैनेन्द्र की अहिसा-नीति गाधी की अद्वैत वादी विचारधारा से अधिक अभिभूत है । जैन दर्शन की स्व पर मूलक धारा उन्हे प्रभावित नही कर सकी है । जैन धर्म मे शरीर को 'पर' तथा आत्मा को 'स्व' माना है । 'पर' से मुक्ति ही उनके धर्म का उद्देश्य है जो जैनेन्द्र को स्वीकार नही है । यदि जैनेन्द्र जैन धर्म के किसी तथ्य से प्रभावित है तो वह है स्यादवाद जो कि विश्वव्यापी महत्व रखता है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

जैनेन्द्रकुमार	'समय और हम' १९६२	प्र०स०		दिल्ली
,,	'साहित्य का श्रेय और प्रेय'	,,	१९५३	,,
,,	'परिप्रेक्ष'	,,	१९६५	,,
,,	'अकाल पुरुष गाधी'	,,	१९६८	,,
,,	'सोच-विचार'	द्वि०स०	१९६४	,,
,,	'प्रश्न और प्रश्न'	प्र०स०	१९६६	,,
,,	'इतस्तत '	,,	१९६२	,,
,,	'काश्मीर की वह यात्रा'	,,	१९६८	,,
,,	'ये और वे'	,,	१९५४	,,
,,	'प्रस्तुत प्रश्न'	,,		,,
,,	'राष्ट्र और राज्य'	,,		,,
,,	'काम, प्रेम और परिवार'	द्वि०स०	१९६१	,,
,,	'पूर्वोदय'			,,
,,	'कहानी अनुभव और शिल्प'	प्र०स०	१९६७	,,
,,	'मन्थन'	,,		,,
,,	'समय, समस्या और सिद्धात (अप्रकाशित)			,,
,,	'परख'	दशम स०	१९६६	,,
,,	'त्यागपत्र'			बम्बई
,,	'सुनीता'		१९६४	दिल्ली
,,	'सुखदा'	प्र०स०	१९५२	,,
;,	'विवर्त'	,,	१९५३	,,
,,	'कल्याणी'		१९५६	दिल्ली
,,	'व्यतीत'	तृ०स०	१९६२	,,
,,	'मुक्तिबोध'	प्र०स०	१९६५	,,
,,	'जयवर्धन'		१९५६	,,

जैनेन्द्रकुमार	'अनन्तर'	प्र०स०	१९६८	दिल्ली
स० शिवनदनप्रसाद	'प्रतिनिधि कहानिया'	प्र०स०	१९६९	,,
जैनेन्द्रकुमार	'जैनेन्द्र की कहानिया'; प्रथम भाग,	तृ०स०	१९६२	,,
,,	,, द्वि०भाग,	चतुर्थ स०	१९६९	,,
,,	,, तृ० भाग,			,,
,,	,, चौथा भाग,	तृ०स०	१९६३	,,
,,	,, पाँचवा भाग,		१९६३	,,
,,	,, छठा भाग,	तृ०स०	१९६३	,,
,,	,, सातवा भाग,	तृ०स०	१९६३	,,
,,	,, आठवा भाग,	तृ०स०	१९६४	,,
,,	,. नवा भाग,	प्र०स०	१९६४	,,
,,	,, १०वा भाग,	प्र०स०	१९६६	,,
अनु० ,,	'यामा'		१९५८	,,

(सहायक पुस्तकें)

डा० देवराज उपाध्याय — 'जैनेन्द्र के उपन्यासो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', प्र०स०, १९६८, दिल्ली

प्रभाकर माचवे — 'जैनेन्द्र के विचार', बम्बई

प्रेमचन्द — 'कुछ विचार' वर्तमान स०, १९६५, इलाहाबाद

डा० त्रिभुवन सिह — 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', प्र०स, २०१२ वि०, बनारस

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — '२०वी शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सदर्भ', प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद

डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि — 'हिन्दी साहित्य' तृतीय खण्ड, प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद

राहुल सास्कृत्यायन — 'दर्शन दिग्दर्शन'

सगमलाल पाण्डेय — 'गाधी का दर्शन', प्र०स०, १९५७, इलाहाबाद

कमलेश्वर — 'नई कहानी की भूमिका', प्र० स०, १९६९, इलाहाबाद

खलील जिब्रान — 'दि प्रोफेट'
(अनु० सत्यकाम विद्यालकार)

डा० सर्वजीत राय — 'हिन्दी उपन्यासो मे आदर्शवाद', प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद

डा० जयनारायण मण्डल	'हिन्दी उपन्यासो की यथार्थवादी परम्परा', प्र०स०, १९६८, पटना
जयशकर 'प्रसाद'	'काव्य कला तथा अन्य निबध', इलाहाबाद
महादेवी वर्मा (चयन गगाप्रसाद पाण्डेय)	'साहित्यकाल की आस्था तथा अन्य निबध', १९६२, इलाहाबाद
विवेकानन्द	'मरणोपरान्त'
विजयधर्म सूरि	'आत्मोन्नति दर्शन'
प० जवाहरलाल नेहरू	'आत्मकथा', आठवा स०, १९५२
हीरेन्द्रनाथ दत्त	'कर्मवाद और जन्मान्तर', स० १९८६, इलाहाबाद
शान्ति जोशी	'नीतिशास्त्र', प्र० स०, १९६६, दिल्ली
रामप्रकाश जैन	'पाश्चात्य दर्शन', प्र०स०, १९५०, इलाहाबाद
डा० नगेन्द्र	'आस्था के चरण'

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ८ नवम्बर १९७०
कला और अश्लीलता
कल्प पाक्षिक, १९७१, दिल्ली

श्रीमद्भागवतगीता, गीताप्रेस, गोरखपुर

INDEX

(For English reference books)

1 Kamla Roy 'Concept of self' First Edition, 1966—Calcutta

2 Dr R Krishnan 'Indian Philosophy'

3 A Castell 'The Self in Philosophy', First Edition 1965—America

4 S Frued 'The Ego & The Id', Fourth Edition, 1847

5 'Psycho—Analysis To-day', First Edition,1948—Great Britain—Edited by Sandor—Lorand—George Allen & Unwis

6 Winterjnitz 'A History of Indian Literature'—Calcutta University

7 V R Gandhi· 'The Jain Philosophy', Second Edition, 1924—Bombay

8. Arner 'Elements of Socialism'—New York.

9 Hevloc Ellis, 'Sex Psychology'.

10 John Richman· 'A general Selection from the work of S Frued', First Publication in India, 1941—Allahabad.

11 Vritz Writtels 'Critique of Love', First published in Great Britain, 1930—Copy right in U.S A

12 Mahatma Gandhi 'The Voice of Truth', 1968—Ahmedabad

13 Jayaprakash Narain. 'Socialism, Sarvodaya & Democracy'

14 'Glimpse of Truth"

जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२८	इतिहास	साहित्य
४०	फोटोग्राफ	फोटोग्राफी
४३	सादृश्य	सदृश
५१	वास्तविकता	भाग्यबाधिता
५३	मे	की
५८	से	के
६२	अनन्तर	‘अनन्तर’
६३	वस्तुत्व	वस्तुत
६६	—	हममे प्रत्येक
६९	शका	स्वीकार
,,	समभाग	समझना
७०	—	अधिकाश पात्र
७१	की प्रश्रय नही	को प्रश्रय नही
७१	सदृश्य	सदृश
७१	सत्य-सा	सत्य के
७२	सदृश्य	सदृश
७२	मे तो	हो तो
७३	सत्य	स्वीकार्य
७५	सब	रूप
७५	पारस्परिक	पारम्परिक
७७	सदृश्य	सदृश
७९	परिचायिका	परिचालिका
७९	अभिमानता	निरभिमानता
८०	मुझे	
८२	सदृश्य	सदृश
८२	सुखदा से	‘सुखदा’ मे
८७	‘मुदगल’	पुद्गल
८८	जिसमे	जिमसे

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	शुद्ध वाक्य पढे—स्याद्वाद मे तनिक भिन्नता तो यह है कि प्रत्येक कथन स्वय अपने मे ‘अस्ति’ और ‘नास्ति’ दोनो हो। इसमे गर्भित है कि वह ‘वस्तु है, वह वस्तु नही है।’	
१०३	‘पराव’ अपने ‘परख’ मे कट्टो अपने	
१०७	साहित्य सृजनात्मक पक्ष के...	साहित्य के सृजनात्मक पक्ष मे...
१०७	धन के स्वार्थ-साधन	धन से स्वार्थ-साधना
१०९	जैनेन्द्र-धर्म	जैन धर्म
११३	जीवन ‘आनन्द	इकाई ही—न पढे
११३	विसदीकरण	विस्तार
११४	अस्मि	अस्थि
१२९	मन्त	महन्त
१४०	‘तोलए’	‘तो लाए’
१४३	मन	मनमय
१४७	अह से	अह के
१५१	भोज्य	भोग्य
१५८	उसका	उसमे
१६०	आस्तिक	आस्तिकता
१६३	अह की	अह को
१६३	वह आलोचना	यह आलोचना
१७५	हिंसाकारी	हिंसा का ही
१७६	भूत	मूल

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	उत्वुद्ध	उत्क्रुद्ध	२५६	रूपकार	रूपाकार
१६२	अवलम्व ही	अवलम्ब की	२५६	विद्या का क्षेत्र	विधा का
१६२	क्रोध	'बोध'		कितना	क्षेत्र इतना
१६७	समृद्ध करता	समृद्ध प्रतीत	२५६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
		होता	२६१	कह पन्था	क पन्था
१६७	निर्वेयक्तिक	निर्वैयक्तिक	२६२	निश्रित	निहित
२००	'विज्ञान'	'वि-ज्ञान'	२६४	साहित्य-	साहित्यिक
२०१	साहित्य ने	साहित्य मे		प्रक्रिया	प्रक्रिया
२०१	मिश्रण नही है	मिश्रण है	२६८	सारा धन	सारा श्रम
२०३	नेतिक	अनैतिक	२६६	नही प्रतीत	प्रतीत होती
२१०	हृदय रूप	छद्म हृदय रूप		होती	है।
२१०	आत्मदास	आत्मदान	२७०	जैनेन्द्रकुमार	जैनेन्द्र के
२१५	आनन्द और	आदर्श और			अनुसार
	यथार्थ	यथार्थ	२७१	उमे	मे
२१६	अपूर्ण	आपूर्ण	२७७	निमृत	निभृत
२२२	निर्णय	निषेध	२७८	जीवन मे	जीवन ने
२२२	जागितभेद	जातिगत भेद	२७८	निमृत	निसृत
२२	गहरी व्यवस्था	गहरी व्यथा	२७६	तद्यपि	तथापि
२ ६	अपनी निजत्व	अपने निजत्व	२८०	अन्तभूर्त	अन्तर्भूत
२२६	'अपना प्रदर्शन	'अपना-अपना	२८३	क्या मे यही	क्या मै यही
	अपना भाग्य'[३]	भाग्य'	२८४	को अतिक्रमिक	को अतिक्रमण
२२६	धार्मिक	आर्थिक	२८४	की यथानथ्य	की यथातथ्य
२३५	शब्दो का	द्वन्द्वो का		हमे	झलक
२३६	प्रेम का	प्रेम का	२८५	धुधात्मक	द्वन्द्वात्मक
	आधार	अभाव	२८७	'कत्याण'	'कल्याणी'
२३८	निषेध न करके	निषेध करके	२८७	'प्रीति इतनी	प्रीति की
२४६	' द्या है	विधा है	२६५	राज्य से पर	राज्य से परे
२४७	आवश्यकतागत	आवश्यकतावश	३००	मे जानता कुछ	मे जानना कुछ
२४७	विकपिक	विकसित		नही है,	नही है,
२५०	पारम्पारित	पारम्परिक	३०८	आम वादिता	अहवादिता
२५२	जेनेन्द्र	जैनेन्द्र	३०६	विचार-भौक्तिक	विचार-
२५२	जैनेन्द्र से	जैनेन्द्र के			मौक्तिक
२५७	शेष माहित्य	श्रेष्ठ साहित्य	३०६	ये मौक्त्नि	ये मौक्तिक